परस्परोपग्रहो जीवानाम्

सांख्यदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा

लेखिका :
डॉ. शक्तिबाला कौशल

-: प्रकाशन :-
श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी, सांगानेर-जयपुर (राज.)

सांख्यदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा

संस्कृत जैन ग्रन्थों के आधार पर

पी–एच.डी उपाधि हेतु रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत

शोध प्रबन्ध

सम्पादक एवं निर्देशक

डॉ. रमेशचन्द जैन

एम.ए., पी-एच.डी., डी.लिट्.

रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग

वर्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.)

लेखिका :

डॉ. शक्तिबाला कौशल

एम. ए., पी-एच. डी.

आत्मजा श्री रामलाल कौशल

[redacted]

–: प्रकाशक / प्रकाशन :–

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर

एवं

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी, जयपुर (राज.)

प्रेरक प्रसंग : चारित्र चक्रवर्ती परम् पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महार
के सुशिष्य, तीर्थक्षेत्र समुद्धारक, आगम के प्रामाणिक ए
सुमधुर प्रवचनकार, युवामनीषी, ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र (नारेल
अजमेर) प्रेरक, आध्यात्मिक एवम् दार्शनिक सन्त
श्री सुधासागरजी महाराज एवम् पू. क्षु. श्री गंभीरसाग
एवं क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज के 1998 सीकर (रा
वर्षायोग के सुअवसर पर प्रकाशित ।

प्रूफ रीडिंग : डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर

संस्करण : प्रथम - 1998

प्रति : 1000 मात्र

मूल्य : 80/- रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान : **आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र**
"सरस्वती भवन" सेठ जी की नसियाँ
ब्यावर 305 901 (राज.)

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मंदिर संघीजी
सांगानेर-जयपुर (राज.)

श्री दिगम्बर जैन ज्ञानोदय तीर्थ क्षेत्र
नारेली-अजमेर (राज.)

मुद्रक : **निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स**
पुरानी मण्डी, अजमेर © 422291

सम्पादकीय

डॉ. रमेशचन्द जैन
रीडर एवं अध्यक्ष - संस्कृत विभाग
वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ.प्र.)

सांख्यदर्शन भारत दर्शनों में एक है । इसका जैन दर्शन के साथ बहुत कुछ ...न्य है । सांख्य का सम्बन्ध संख्या से है और संख्या शब्द का एक अर्थ है सम्यग्ज्ञान। ...दर्शन के समान सांख्यदर्शन का भी उद्देश्य दु:खों से मुक्ति पाना है । सांख्य कारिका ... प्रथम कारिका में दु:खत्रय से छूटने की जिज्ञासा व्यक्त की गई है ।[1]

सांख्य दु:ख दूर करने के लौकिक और वैदिक उपायों पर विश्वास नहीं करता ... उसकी दृष्टि में लौकिक उपायों से दु:खत्रय का एकान्त अनिवार्य रूप से और ...न्त सार्वकालिक अभाव नहीं होता है ।[2] एकान्त का अर्थ है दु:ख का नियत रूप ...निवृत्त हो जाना और अत्यन्त का अर्थ है दु:ख का फिर उत्पन्न न होना । इसका ...भप्राय यह है कि यथाविधि रसानय, कामिनी, नीतिशास्त्र और मन्त्रादि के प्रयोग से ... विधि दु:ख की प्राय: निवृत्ति न दीख पाने के कारण वह (निवृत्ति) ऐकान्तिक ...ीं हुई । निवृत्त हुई दु:ख की भी पुन: उत्पत्ति दिख पड़ने के कारण वह अत्यन्तिक ...ीं हुई । इस प्रकार लौकिक उपाय सरल होते हुए भी दु:ख की एकान्तिक और ...त्यन्तिक निवृत्ति नहीं कर पाते ।[3]

सांख्य के अनुसार वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय के सदृश ही दु:खत्रय की ...ान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ है[4], क्योंकि वह अशुद्धि (मल), विनाश ... न्यूनाधिक्य (विषमता) दोष से मुक्त (व्याप्त) है ।[5] सोमादि यज्ञों का पशु हिंसा

दु:खत्रयाभिघाताद् जिज्ञासा तदपघातके हैतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।सांख्यकारिका - १।।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।सांख्यकारिका।।
एतृदुक्तं भवति - यथा विधि रसायनादि कामिनी नीतिशास्त्राभ्या समन्त्राधुपयोगेऽपितस्याद वात्मिकादेदु:खस्य निवृत्तेरदर्शनात् अनैकान्तित्वम् निवृत्तस्यादि पुनरुत्पत्ति दर्शनात् अनैकान्तिकत्वम्, निवृत्तस्यापि पुनरुत्पत्तिदर्शनात् अनात्यन्तिकत्वम् इति सुकरोऽपि ऐकान्तिक आत्यन्तिक दु:ख निवृत्तेर्नदृष्ट उपाय इति ।।सांख्यतत्वकौमुदी पृ.-80।।
दृष्टवदानुश्रविक: स हर्याविशुद्धिक्षयातिशययुक्त: ।।सांख्यकारिका - 3।।
अविशुद्धि: सोमादियज्ञस्य पशु बीजादि बधसाघनता ।।सांख्यत्त्वकौ. पृ. - 84।।

तथा बीजनाश इत्यादि साधनों से सम्पादित होना ही उसकी मलिनता है ।[6] जैन धर्म में वैदिक हिंसा की अत्यधिक निन्दा की गई है तथा वेद के कर्त्ता को असर्वज्ञ कहा गया है ।[7]

सांख्यदर्शन में माने गये सत्वगुण, तमोगुण और रजोगुण प्रीति, अप्रीति तथा विषादात्मक है । प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन इनके प्रयोजन या कार्य है तथा ये एक-दूसरे को अभिभूत करने वाले, आश्रय बनने वाले, उत्पादक एवं सहचारी होते हैं ।[8]

तत्त्वकौमुदीकार ने प्रीति का अर्थ सुख तथा अप्रीति का दु:ख और विषाद का अर्थ मोह किया है ।[9] ये तीनों जैनदर्शन में कहे गए राग, द्वेष और मोह ही हैं । आ. कुन्दकुन्द के अनुसार राग, द्वेष और मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं है । इसीलिए आस्रवभाव के बिना द्रव्य प्रत्यय कर्मबन्ध के कारण नहीं है ।[10] तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि के राग, द्वेष, मोह नहीं हैं, क्योंकि राग, द्वेष, मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टि बन नहीं सकता । राग, द्वेष, मोह के अभाव से उस सम्यग्दृष्टि के द्रव्यास्तव के पुद्‌गल कर्म बंधने के कारणपने का कारणपना रागादिक ही है, इसलिए कारण के कारण के कारण का अभाव प्रसिद्ध है, इस कारण ज्ञानी के बन्ध नहीं है ।[11]

उपर्युक्त राग, द्वेष तथा मोह सांख्य के अनुसार प्रकृति के धर्म हैं तथा जैनदर्शन में इनका कारण प्रकृति (कर्म को हीन) कहा गया है ।

जिस प्रकार जैनदर्शन अनेक आत्माओं का अस्तित्व मानता है, उसी प्रकार सांख्यदर्शन को भी अनेक आत्माओं की सत्ता स्वीकार करता है । सांख्य के अनुसार अनेक पुरुषों या आत्माओं का होना इन युक्तियों से सिद्ध होता है -

(1) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जन्म-मरण में, ज्ञान और कर्म में स्पष्ट अन्तर पाया जाता है । एक के जन्म या मृत्यु होने से सभी का जन्म या मृत्यु नहीं हो जाता । एक के अन्धे या वधिर होने से सभी अन्धे या बहरे नहीं हो जाते । यदि जीवों में एक ही आत्मा का अस्तित्व होता तो एक के जन्म या मरण से सबका जन्म-मरण हो जाता, एक के अन्धे या बधिर सब अन्धे या बहरे हो जाते, परन्तु ऐसा नहीं होता।

6. यूपंछित्वा पशून हत्वा कृत्वा रुधिकर्मणाम् ।
यद्येव गभ्यते सवर्गे नरके केन गभ्यते ॥
7. स्याद्वादमंजरी पृ. - 33
8. प्रीत्यप्रीतिविशादात्मका: प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्था: ।
अन्योन्याभिभवाश्रय जननमिथुन वृत्तयश्च गुणा: ॥सांख्यकारिका - 12॥
9. सांख्यतत्त्वकौमुदी व्याख्याकारिका - 12
10. समयसार - 177
11. वही, आत्मख्याति टीका पृ. 244

(2) यदि सभी जीवों में एक ही आत्मा रहती तो एक में कोई क्रिया होने से सबमें वही क्रिया परिलक्षित होती, परन्तु ऐसा नहीं होता । जब एक सोया होता है तब दूसरा काम करता है । जब एक रोता है, तब दूसरा हँसता रहता है ।

(3) स्त्री-पुरुष जहाँ एक तरफ पशु पक्षियों से उच्चकोटि में हैं, वहाँ दूसरी तरफ देवताओं से नीचे है । यदि पशु-पक्षी मनुष्य देवता सभी में एक ही आत्मा का निवास होता तो ये विभिन्नतायें नहीं होती । इन सब बातों से सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक हैं ।[12]

समयसार में कहा गया है - चेतयिता आत्मा तो (ज्ञानावरणादि) प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न होता है तथा विनाश को प्राप्त होता है और प्रकृति भी उस चेतने वाली आत्मा के लिए उत्पन्न होती है तथा विनाश को प्राप्त होती है । इस तरह आत्मा और प्रकृति दोनों के परस्पर निमित्त से बंध होता है और उस बंध से संसार उत्पन्न होता है ।[13] यह आत्मा जब तक प्रकृति के निमित्त से उपजना-विनाशना नहीं छोड़ती तब तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयमी होती है और जब आत्मा अनन्त कर्मफल को छोड़ देती है, उस समय बंध से रहित ज्ञाता-दृष्टा मुनि होती है ।[14] ज्ञानी बहुत प्रकार के कर्मों का न तो कर्ता है और न भोक्ता है, परन्तु कर्म के बन्ध को और कम के फल पुण्य तथा पाप को जानता ही है ।[15]

सांख्य के अनुसार प्रकृति तभी तक भोग उत्पन्न करती है, जब तक पुरुष में (आत्मा और अनात्म विषयक) भेद ज्ञान उत्पन्न नहीं हो जाता है ।[16] इस प्रकार तत्व के अभ्यास से न मैं क्रियावान हूँ, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्ता हूँ, यह सम्पूर्ण भ्रमादिविहीन होने के कारण विशुद्ध तथा मिथ्याज्ञान से अभिश्रित ज्ञान उत्पन्न होता है ।[17] जैनदर्शन एकान्त रूप से आत्मा को अकर्ता भी नहीं मानता । अतः आचार्य अमृतचन्द्र 'समयसार' आत्माख्याति टीका में कहते हैं -

---

12. श्री दत्त एवम् चट्टोपाध्याय: भारतीयदर्शन, पृ. 171
जन्मरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्यमाच्चैव ।।सांख्यकारिका - 18।।
13. कुन्दकुन्द: समयसार, 312 - 313
14. वही, 314 - 315
15. कुन्दकुन्द : समयसार, 319
16. तावदेव प्रकृतिर्भोगमारभते यावद्विवेकख्याति करोति ।
सांख्य तत्त्वकौमुदी, व्याख्या - 44

माकर्त्तारममीस्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः ।
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः ।।
ऊर्ध्वंशुद्धतयो दधामि नियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं ।
पश्यन्तुच्युतकर्तृ भावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ।।205।।

अर्हत् के अनुयायी जैन, आत्मा को सांख्यमतियों की भाँति (सर्वथा) अकर्ता मत मानो, भेदज्ञान होने से पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो और भेद ज्ञान होने के पश्चात् उक्त ज्ञान-धाम (ज्ञानमन्दिर) में निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को अचल और एक परम ज्ञाता ही देखो ।

सांख्य पुरुष को अपरिणामी मानता हुआ अथार्थ रूप में प्रकृति में ही विकार स्वीकार करता है ।[18] किन्तु विचार करने की बात है कि जीव कर्म में स्वयं नहीं बंधा हुआ क्रोधादि भाव से आप नहीं परिणमतो तो वह जीव अपरिणामी ही होता है । ऐसा होने पर संसार का अभाव हो जाता है । कोई कह सकता है कि पुद्गल कर्म क्रोधादिक ही जीव को क्रोधादि भाव से परिणमाते हैं, इसलिए संसार का अभाव नहीं हो सकता । ऐसा कहने में दो पक्ष होते हैं -

पुद्गल कर्म क्रोधादिक जीव को अपने आप अपरिणमते को परिणमाते हैं या परिणमते को परिणमाते हैं । प्रथम तो जो आप नहीं परिणमतो हो, उसमें पर को परिणमन कराने की असमर्थता है, क्योंकि आप में शक्ति न हो तो पर मैं भी नहीं की जा सकती तथा जो स्वयं परिणमता हो, वह अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं करता; क्योंकि वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नहीं करती । अन्य में अन्य कोई नवीन शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता । इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जीव स्वयंमेव परिणमन स्वभाव वाला है ।[19]

इस प्रकार सांख्य दर्शन और जैनदर्शन में अनेक पारस्परिक समतायें और विषमतायें हैं । जैनाचार्यों ने अपनी दार्शनिक कृतियों में सांख्यदर्शन पर पर्याप्त ऊहापोह किया है । शायद ही कोई जैन दार्शनिक लेखक हो जिसकी कृति में सांख्यदर्शन के किसी न किसी सिद्धान्त पर किसी न किसी रूप में विचार न किया गया हो । यह परम्परा

---

17. एवं तत्वाभ्यासान्नास्मिन नमे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अधिपर्ययायाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।।सांख्यकारिका - 64।।
18. तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यतेनापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।।सांख्यकारिका - 62।।
19. समयसार - आत्मख्याति टीका, पृ. 179-180, व्याख्या गाथा 121-125

हमें आचार्य समन्दभद्र से लेकर उपाध्याय यशोविजय तक बराबर मिलती है । जैनाचार्यों ने पूर्वपक्ष की स्थापना करते समय सांख्य सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़कर नहीं रखा वरन् उनका यथार्थ रूप ही सामने रखा, पश्चात् उसपर अपनी दृष्टि से विचार किया । इस प्रकार सांख्यदर्शन के दो रूप संस्कृत जैन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं -

1. मौलिक रूप जो सांख्य के प्रवर्तकों ने माना ।
2. समीक्षात्मक रूप जो सांख्यदर्शन की समीक्षा के रूप में प्रकट हुआ ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में इन्हीं दोनों रूपों पर विचार किया गया है । शोध की दिशा में इस प्रकार का कार्य आज तक नहीं हुआ, अतएव उपर्युक्त विषय की महत्ता स्वतः स्पष्ट है । आशा है इससे सांख्य और जैनदर्शन के तुलनात्मक अध्ययन को बल मिलेगा और अन्यान्य दर्शनों के इस प्रकार के अध्ययन की शोधकर्त्ताओं को प्रेरणा प्राप्त होगी । डॉ. शक्तिबाला कोशल को उनके इस गम्भीर अध्ययन के लिए मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ ।

यह शोधप्रबन्ध परम आध्यात्मिक सन्त पूज्य मुनिवर श्री 108 सुधासागर जी महाराज की असीम अनुकम्पा, आशीर्वाद एवं प्रेरणा से प्रकाशित हो रहा है । मैं गुरुवर के प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति भावपूर्वक नमन करता हूँ । पूज्य क्षु. श्री गम्भीरसागरजी एवं पूज्य क्षु. श्री धर्यसागर जी महाराज के मौन आशीर्वाद की बार-बार प्रशंसा करता हुआ पुस्तक प्रकाशन के अर्थ सहयोगी को पुनः-पुनः धन्यवाद देता हूँ ।

सांख्यदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा : संस्कृत जैन ग्रन्थों के आधार पर

विषयानुक्रमणिका

विषय		पृष्ठांक
प्रथम परिच्छेद	: सांख्य दर्शन की प्राचीनता	13
द्वितीय परिच्छेद	: सांख्य दर्शन की समीक्षा करने वाले प्रमुख जैन आचार्य	58
तृतीय परिच्छेद	: सांख्य की तत्त्व प्रक्रिया	73
चतुर्थ परिच्छेद	: चित् शक्ति विचार	110
पंचम परिच्छेद	: अचेतन ज्ञानवाद मीमांसा	128
षष्ठ परिच्छेद	: प्रमाण-विचार	138
सप्तम परिच्छेद	: सांख्य दर्शन के भेद	153
अष्टम परिच्छेद	: उपसंहार - सांख्य और जैन दर्शन	174
संन्दर्भ ग्रन्थों की तालिका		207

प्रथम परिच्छेद

सांख्य दर्शन की प्राचीनता

"दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्" अर्थात् स्वाध्याय तथा तद्नुसार अभ्यास या आचरण से तत्त्व का 'दर्शन' हो वह ही दर्शन है । दर्शन की इन्हीं अनेक विद्याओं या प्रकारों में से सांख्य भी एक था जो अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवर्ष में अत्यन्त लोक प्रिय तथा प्रसिद्ध था । डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है कि - "भारतीय संस्कृति में किसी समय सांख्य दर्शन का अत्यन्त ऊँचा स्थान था । देश के उदात्त मस्तिष्क सांख्य की विचार पद्धति से सोचते थे ।[1] महाभारतकार ने तो यहाँ तक लिखा है कि- ज्ञानं च लोके यदिह्यस्ति किञ्चित् सांख्यगतं तच्च महात्मनानां[2] वस्तुत: महाभारत में हमें स्पष्ट रुप से सांख्य के समान एक निश्चयात्मक विचार पद्धति मिलती है । अनुगीता में पुरुष तथा प्रकृति के भेद की व्याख्या की गई है । मनु यद्यपि सांख्य का नाम नहीं लेते, तो भी प्रथम अध्याय में दिया गया सृष्टि का वर्णन, ज्ञान के तीन उद्भव स्थान तथा तीनों गुणों का व्यौरेवार वर्णन सांख्य के प्रबल प्रभाव को दर्शाते हैं । पुराणों तथा परवर्ती वेदान्त रचनाओं में सांख्य - सिद्धान्तों का उपयोग किया गया है ।[3]

हिन्दू ग्रन्थों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन ग्रन्थ भी बिना सांख्य के अपने को निष्प्राण सा समझकर उसे अपनाये बिना न रह सके । इस प्रकार सांख्ययोग दर्शन प्रत्येक भारतीय की रग-रग में कूट-कूट कर भरा पड़ा है । सांख्ययोग ऐसा ज्ञान है जिसमें विज्ञान भी समाया हुआ है । जिसे यह ज्ञान हो गया वह तो स्वयं परमात्मा ही हो जाता है, उसे वास्तविकता की अनुभूति हो जाती है और तब उसे फिर कुछ शेष जानना रह ही नहीं जाता ।[4] यह भी गीता में शंखनादीय घोषणा के रूप में कहा है-"ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत: । यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते" "मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये । यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत:" "भूमिरापोऽनलो वायु: रवं मने बुद्धिरेव च । अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीव भूतां महाबाहोययेदं

धार्यते जगत्'' ''एतद्योनीनि भूतानी सर्वाणीत्युपधारय। अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा'' ''मत्तःपरतरः नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'' (7-2 से 7)

वस्तुतः सांख्य दर्शन किसी समय अत्यन्त लोक प्रिय हो गया था । इसकी इस लोक प्रियता के चाहे जो भी कारण रहे हों पर एक तो यह अवश्य रहा प्रतीत होता है कि ''इस दर्शन ने जीवन में दिखाई पड़ने वाले वैषम्य का समाधान त्रिगुणात्मक प्रकृति की सर्वकारण रूप में प्रतिष्ठा करके बड़े सुन्दर ढंग से किया । सांख्यों के इस प्रकृति कारण वाद का महान् गुण यह है कि पृथक्-पृथक् धर्म वाले सत्त्व, रजस् तथा तमस् तत्त्वों के आधार पर जगत् के वैषम्य का किया गया समाधान न्याय युक्त तथा बुद्धिगम्य प्रतीत होता हैं ।[5] भारत में उत्पन्न यह दर्शन सर्वाधिक सारगर्भित पद्धति है ।[6]. रिचार्ड गार्बे, जिसने इस दार्शनिक शाखा का विशेष अध्ययन किया है कहता है - ''कपिल के सिद्धान्त में, संसार के इतिहास में सबसे प्रथम, मानव मन की पूर्ण स्वतन्त्रता तथा अपनी शक्तियों में उसका पूर्ण विश्वास दिखाई देता है।[7]

सांख्य शब्द का अर्थ –

सांख्य शब्द की निष्पत्ति ''संख्या'' शब्द के अण् प्रत्यय जोड़ने से होती है और ''संख्या'' शब्द की व्युत्पत्ति सम् + चक्षिङ् धातु - ख्याञ्दर्शने + अङ् प्रत्यय + टाप् है, जिसके अनुसार इसका अर्थ ''सम्यक् ख्याति'' अर्थात् साधुदर्शन या सत्य ज्ञान है। सांख्यों की यह सम्यक् ख्याति, उनका यह सत्यज्ञान व्यक्ताव्यक्त रूप द्विविध अचित् तत्त्व से पुरुष रूप चित् तत्त्व को पृथक् जान लेने में निहित है । ऊपर-ऊपर से प्रपञ्च में सना हुआ दिखाई देने पर भी पुरुष वस्तुतः उससे अछूता रहता है, उसमें आसक्त या लिप्त दिखाई पड़ने पर भी वस्तुतः अनासक्त या निर्लिप्त रहता है । - सांख्यों की यह सबसे बड़ी दार्शनिक खोज उन्हीं के शब्दों में सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति, विवेकख्याति, व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञान, विवेकज्ञान आदि नामों से व्यवहृत होती है । इसी विवेकज्ञान से वे परम्-पुरुषार्थ अर्थात् मानव जीवन के परम लक्ष्य ''मोक्ष'' की सिद्धि मानते हैं । इस प्रकार ''सांख्य'' शब्द साख्यों की सबसे बड़ी दार्शनिक खोज का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने वाला संक्षिप्ततम नाम है जिसके सर्वप्रथम या सर्वप्रबल व्याख्याता होने से वे अत्यन्त प्राचीन काल में ''सांख्य'' नाम से अभिहित हुए ।[8]

गणनार्थक ''संख्या'' शब्द से भी ''साङ्ख्य'' शब्द की निष्पति मानी जाती है। महाभारत में गणनार्थक संख्या शब्द से ही ''सांख्य'' की निष्पत्ति स्वीकार की गई है। जिसमें तत्त्वों की संख्या का निर्धारण करने वाले शास्त्र की सांख्य संज्ञा प्रदान की गई है -

सांख्यं प्रकुरुते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्त्वतः ।।[9]

इस स्थल पर केवल 24 तत्त्वों का ही कथन है किन्तु अन्यत्र महाभारत शान्ति पर्व में 25 तत्त्वों का निरूपण है ।[10] रामतीर्थ भट्टाचार्य ने लिखा है कि - सांख्य का अर्थ संख्या है । सांख्य में 25 तत्त्व हैं उन पर जो ग्रन्थ लिखा गया उसे सांख्य कहते हैं ।[11] देवतीर्थ स्वामी ने अनौपचारिक रूप से इसी कोटि को दोहराते हुए लिखा है कि - ''क्रमपूर्वक विचारणा संख्या है, उस पर जो ग्रन्थ लिखा गया है उसे सांख्य कहते हैं ।[12] महाभारत और अहिर्बुध्न संहिता में सांख्य का अर्थ क्रमश: परिसंख्यान और प्रसंख्यान कहते हैं ।[13] कुछ विद्वानों की धारणा है कि ज्ञानार्थक ''संख्या'' शब्द से की जाने वाली ''सांख्य'' की व्युत्पत्ति ही मुख्य है, गणनार्थक ''संख्या'' शब्द से की जाने वाली गौण । सांख्य में प्रकृति एवम् पुरुष के विवेकज्ञान से ही जीवन के परम लक्ष्य ''कैवल्य'' या मोक्ष की सिद्धि मानी गई है । अत: उस ज्ञान की प्राप्ति ही मुख्य है और इस कारण सांख्य का सारा ध्यान उसी पर है । (सांख्य पुरुष के अतिरिक्त) चौबीस तत्त्व मानता है, यह तो एक सामान्य तथ्य या वास्तविकता का कथन मात्र है अत: गौण है । पं. उदयवीर शास्त्री ने लिखा है - 'तत्त्वानां संख्याता गणक: सांख्य प्रवर्तक इत्यर्थ: ।'[14] प्रो. डालमान का भी यही विचार है कि - इस दर्शन का विशेष उद्देश्य विश्व की मीमांसा उसके तत्त्वों की संख्या निर्धारित करना तथा बाह्य से उसका विकास क्रम बताना है ।[15]

प्रो. एस. सूर्य नारायण शास्त्री ने सांख्य की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है - ''सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति सामान्य-ज्ञान अथवा तत्त्वगणना से सम्बद्ध विशिष्ट ज्ञान के वाचक ''संख्या'' शब्द से बतायी जाती है । परन्तु दोनों में कौन सा समीचीन है, इस बात का निर्णय करने के लिए कोई साधन नहीं है । स्पष्ट है कि शास्त्री जी ने ''संख्या'' शब्द के अन्य लोगों द्वारा लिए जाने वाले दोनों ही अर्थ इन पंक्तियों में दिए हैं । उनका स्वारस्य इन दोनों में से किसी भी अर्थ में नहीं है । इसीलिए उन्होंने एक और अर्थ भी आगे लिया है । इसका आधार उन्हें महाभारत पर्व 12 अध्याय 306 से और विशेषत: उसके 42-43 वें श्लोकों[16] से मिला है । उनके विचार से यह मत आकर्षक और सम्भव दोनों ही है । उन्हीं के शब्दों में यह इस प्रकार है-

"A third suggestion however, which comes from 'Mahabharata' (XII. Ch. 306) is both interesting and plausible. It is said there that the aim of the system is to grasp the twenty-fifth principle (i.e. the spirit) as discriminated from the twenty-four, which are material world as illusory (मिथ्या) but only to the recognition of the fact that world forms no part of the true nature of the self, who is pure spirit.

The Sankhya teaching seems to load thus to - discrimination of matter from spirit and adandonment of the viles of the former. It is

not unlikely that this discrimination and final abandonment (परिसंख्यान) gave its name to the system."

प्रो. शास्त्री के इस उद्धरण से स्पष्ट है कि वे "संख्या" शब्द का अर्थ "प्रकृति तथा उसके विकारभूत तेईस तत्त्वों का अपने विवेक भेद अथवा पार्थक्य जानकर अन्ततोगत्वा पुरुष के द्वारा उसका परित्याग लेते हैं ।[17]

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा निश्चय होता है कि सांख्य दर्शन का "सांख्य" नाम दोनों ही प्रकारों से उसके बुद्धिवादी - तर्कप्रधान होने का सूचक है ।[18] डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में - इस दर्शन का नाम सांख्य इसलिए हुआ क्योंकि यह सैद्धान्तिक अनुसन्धान के द्वारा अपने परिणामों पर पहुँचता है । कतिपय विद्वानों के अनुसार "सांख्य" शब्द संख्या के कारण हुआ जो उचित ही है । क्योंकि यह दर्शन हमें विश्व के तत्त्वों का विश्लेषणात्मक परिगणन देता है । किन्तु यह परिगणन की प्रवृत्ति समस्त हिन्दू विचारधारा की पद्धतियों में सामान्य रूप से पायी जाती है । प्राचीन पाठ्य पुस्तकों में "सांख्य" का प्रयोग दार्शनिक विचार के लिए हुआ, न कि परिगणन के अर्थ में। यह विशिष्ट दर्शन, जो सावधानता पूर्वक विचार करके पुरुष अथवा आत्मा तथा अन्य सत्ताओं के स्वरूप की व्याख्या करता है, अपना नाम सार्थक करता है ।[19]

सांख्य दर्शन के प्ररूपक आचार्य

कपिल :

सांख्य-योग दर्शन वैदिक विश्व दर्शन का संक्षिप्त सार है । सांख्य दर्शन के मूल-भूत सिद्धान्त वेदों तथा उपनिषदों से उपलब्ध होते हैं तथापि इन्हीं सिद्धान्तों को एक दर्शन विशेष के रूप में संबद्ध करने तथा उसका प्रवर्तन करने के लिए किसी आचार्य का नाम होना आवश्यक है । "सांख्यस्य वक्ता कपिलः"[20] एवम् 'पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः काल विप्लुतम् । प्रोवाचासुरये सांख्य तत्वग्रामविनिर्णयम्' ।[21] आदि के रूप में अभिव्यक्त परम्परागत मान्यता के अनुसार सांख्य के प्रथम आचार्य महामुनि कपिल माने जाते हैं । प्राचीन संस्कृत साहित्य में महर्षि कपिल का अनेकशः उल्लेख हुआ है । सर्वप्रथम उल्लेख श्वेताश्वर उपनिषद का है ।[22] महाभारत के प्रसिद्ध अंश भगवद्गीता के दशम अध्याय में कपिल मुनि का उद्धरण आया है -

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ।[23]

महाभारत के अन्य अनेक स्थलों में भी महर्षि कपिल का वर्णन आया है । एक के अनुसार वे ब्रह्म पुत्र हैं[24] तो दूसरे के अनुसार अग्नि के अवतार ।[25] भागवत् के अनुसार वे

नारायण के ही पंचम अवतार थे ।[26] सांख्य तत्त्व कौमुदी की भूमिका में आचार्यों की वन्दना करते हुए पं. वाचस्पति मिश्र ने सांख्य दर्शन की गुरु परम्परा का भी उल्लेख किया है -

कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नामात्मरूपः ।।

अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा किये गये परमार्थ के चीनी अनुवाद के संस्कृत रुपान्तर से भी विस्तृत गुरु परम्परा का ज्ञान होता है -

इदं ज्ञानं कपिलादासुरेरागतम् ।
आसुरिणा पञ्चशिखस्योपदिष्टम् ।।
पञ्चशिखेन गार्ग्यस्योपदिष्टम् ।
गार्ग्येणोलूकस्योपदिष्टम् ।
उलूकेन वार्षगणस्य । वार्षगणेन ईश्वर कृष्णस्य ।।
एवं क्रमेण ईश्वर कृष्ण इदं ज्ञानमलभत ।।

स्वयं ईश्वर कृष्ण ने परमर्षि, आसुरि, पञ्चशिख नामक इस दर्शन के क्रमशः तीन आचार्यों को स्मरण किया है ।[27] युक्तिदीपिकाकार[28] तथा तत्त्व कौमुदीकार[29] ने परमर्षि का अर्थ महर्षि कपिल किया है । इस प्रकार परम्परया भगवान् कपिल ही सांख्य दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं । इस विषय में आचार्य पञ्चशिश्व का कथन सर्वाधिक प्रमाणिक है -

आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्
भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रप्रोवाच–

इस प्रकार महर्षि कपिल कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं, अपितु यथार्थ रूप में सांख्य सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्तक हैं ।[30]

एक से अधिक कपिलों की समस्या व समाधान –

कपिल के सम्बन्ध में महाभारत में कई उद्धरण हैं जिनमें पूर्वोक्त कथन का विरोध होता है कि देवहूति और कर्दम के पुत्र कपिल सांख्य के उपदेष्टा थे । वनपर्व में एक अन्य स्थल पर कहा गया है - 'अग्निःस कपिलो नाम सांख्य योग प्रवर्तकः ।'[31] इस उद्धरण के आधार पर सांख्य शास्त्र के प्रवर्तक कपिल मुनि अग्नि के अवतार सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार वायु पुराण के "आदित्य संज्ञः कपिलस्त्वग्रजोऽग्निरिति स्मृतः" अंश में भी कपिल को अग्नि कहा गया है । महाभारत के एक अन्य उद्धरण में इन्हें ब्रह्मा जी के सात निवृत्ति - धर्मी मानस पुत्रों में से एक कहा गया है । अगले श्लोक में इन सातों को ही सांख्य विशारद एवम् मोक्षधर्म - प्रवर्तक कहा गया है ।[32] महाभारत के इन दोनों उद्धरणों में से पारस्परिक

विरोध तो दिखता ही है, साथ ही भागवत के उन समस्त उद्धरणों के साथ भी इनका विरोध प्रतीत होता है जिनमें विष्णु के अवतार एवम् देवहूति और कदर्म के पुत्र कपिल को सांख्य शास्त्र का उपदेष्टा कहा गया है। महाभारत के इस तृतीय उद्धरण के ही सदृश वचन आचार्य गौडपाद ने अपने सांख्य कारिका भाष्य के आरम्भ में उद्धृत किए हैं। वे वचन इस प्रकार है - "सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। आसुरिः कपिलश्चैव बौद्धः पञ्चशिस्तथा। इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्तामहर्षयः॥" इन्हीं ब्रह्म सुत कपिल मुनि को गौडपाद ने सांख्योपदेष्टा माना है, जैसा कि इस उद्धरण के ठीक पूर्व आये हुए उनके "इह भगवान ब्रह्म सुतो कपिलो नाम" इत्यादि नाम से स्पष्ट है।[33] इस प्रकार गौडपाद द्वारा उद्धृत वचन के साथ ही महाभारत के परस्पर विरुद्ध वचनों का विरोध है। द्वाविंशतिसूत्री "तत्त्व समास" की "सर्वोपकारिणी" नामक टीका में भी महाभारत की ही भाँति "कपिल" नामक दो पृथक् ऋषियों का उल्लेख है। एक कपिल को "तत्त्वसमास" के रचियता कहे गये हैं। दूसरे कपिल "सांख्य-प्रवचन सूत्र" के रचियता थे।

विज्ञान भिक्षु की दृष्टि इस प्रतीतिक विरोध पर अवश्य पड़ी होगी। तभी तो उन्होंने षड्ध्यायी सांख्य-प्रवचन सूत्र के स्वकृत भाष्य के अन्त में इसके परिहार का प्रयास किया है। जो इस प्रकार है - "तदिंद सांख्य शास्त्र कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान्। ....। अन्यथा विश्वरूप प्रदर्शक कृष्णस्यापि विष्णवतारकृष्णाद भेदापत्ते" उनके इस कथन का सारांश इतना ही है कि - विष्णु के अवतार कपिल ने ही लोक को सांख्य शास्त्र का उपदेश दिया था। यह तथ्य भागवत् आदि ग्रन्थों में सुप्रमाणित है। भाष्यकार विज्ञान भिक्षु का उपर्युक्त समाधान मनगढ़न्त या निराधार नहीं है।[34] पं. उदयवीर शास्त्री ने भी लिखा है कि "इस प्रकरण से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि विष्णु के अवतार कपिल से अग्नि के अवतार कपिल भिन्न हैं। प्रत्युत यही बात स्पष्ट होती है कि जिस कपिल को विष्णु का अवतार कहा जाता है, जो देवहूति और कर्दम का पुत्र है, उसी कपिल को साठ हजार सगर पुत्रों का भस्म कर देने के कारण ही अग्नि रूप वर्णन किया गया है।[35] इसी प्रकार कपिल को जो ब्रह्मा जी का मानस पुत्र कहा गया है। उसका निरुपण करते हुए शास्त्री जी ने लिखा है - सम्भवतः ब्र्हमा का मानस पुत्र कपिल को इसलिए बताया गया है कि उसमें ब्रह्मा के समान अपूर्व वैदुष्य के अद्भुत गुण थे। यह भी सम्भव हो सकता है कि उसने ब्रह्मा जी से ज्ञान प्राप्त किया हो, अथवा शास्त्र का अध्ययन किया हो।[36] अब चाहे यह सम्भावना वास्तविक हो या पूर्वोक्त, परन्तु इतना तो ध्रुव सत्य है कि ब्रह्मा का मानस - पुत्र अथवा अग्नि कहने मात्र से कपिल मुनि की कल्पना काल्पनिक या अयथार्थ नहीं कही जा सकती।[37]

प्रत्येक दर्शन का चलाने वाला एक प्रथम व्यक्ति होता है । कपिल को किसी अन्य शास्त्र का कर्ता तो किसी ने नहीं बताया है न किसी दूसरे को सांख्य का प्रथम प्रणेता ही कहा है । हमारे ऋषि मुनि मितभाषी और सत्य भाषी थे उनका कपिल विषयक अवतार वाद भी दार्शनिक व्याख्या में शतश: सत्य है । कपिल और सांख्य का ऐसा तादात्म्य हो गया है कि कई लेखकों ने सांख्य के ग्रन्थों में से प्रसिद्ध ग्रन्थों को भी कपिल का ही बता दिया है, यथा - अहिर्बुध्न्य संहिता ने षष्टितन्त्र को भी कपिल का ही बता दिया है, सांख्य सूत्र और तत्त्व समास को तो प्राय: सब लोग कपिल का रचित कहते हैं । इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है कि ये ग्रन्थ नहीं वरन् इनके मूल विषय सांख्य योग के निर्माता ही कपिल थे । ऐसी दीर्घ परम्परा और ऐसी सच्ची और पक्की प्रमाणिकता के रहते हुए यह कहना कि कपिल एतिहासिक व्यक्ति नहीं है; केवल, उक्त मर्मज्ञता और अभिज्ञता का तिरस्कार करना मात्र कहा जा सकता है । सांख्य योग का अभ्युदय जब भी हुआ था वह सर्वप्रथम महर्षि कपिल के ही द्वारा, ऐसी प्राचीन युग से विद्यमान सत्ता वाले सांख्य के प्रथम प्रणेता अवश्यमेव ऐतिहासिक व्यक्ति थे, भले ही उन्हें अनैतिहासिक कहने वाले स्वयं अनैतिहासिक हों, कपिल की ऐतिहासिकता अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी सदा अमिट और अमर रहेगी । उन्होंने नये इतिहास का निर्माण किया था, ऐसा नया जो कभी पुराना होगा ही नहीं । उनका इतिहास आज का जैसा नया-नया सा स्पष्ट सा तब भी था, अब भी है, सदा रहेगा भी ।[38]

सांख्य प्रवर्तक कपिल की कृति –

प्रश्न यह उठता है कि कपिल ने आसुरि को जो उपदेश दिया था, वह क्या था ? आज वह उपदेश उपलब्ध है या नहीं, और यदि उपलब्ध है तो किस रूप में और किस नाम से ? कहने का तात्पर्य यह है कि वर्तमान समय में उपलब्ध कौन सा ग्रन्थ कपिल की कृति है ? वह कृति आजकल का ''सांख्य प्रवचन सूत्र'' नामक छ: अध्यायों वाला ग्रन्थ ही तो नहीं है ? अथवा बाईस सूत्रों का ''तत्त्वसमास'' नाम ग्रन्थ ही वह कृति है ? अथवा किसी समय सर्वाधिक प्रसिद्ध किन्तु इस समय लुप्त प्राय ग्रन्थ ''षष्टितन्त्र'' ही वह कृति थी ?

सर्व प्रसिद्ध ''पञ्चशिख - सूत्र'' आदि विद्वान् निर्माणचितमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्र प्रोवाच'' में कपिलोक्त उपदेश के लिए ''तन्त्र'' शब्द का प्रयोग हुआ है । यही सर्वाधिक प्राचीन एवम् प्रमाणिक उद्धरण है जिसमें कपिल के उपदेश को ''तन्त्र'' कहा गया है । प्रसिद्ध सांख्य कारिका के प्राचीन लेखक ईश्वर कृष्ण के प्रबल साक्ष्य के आधार पर भी यह बात प्रमाणित होती है । 69वीं कारिका में उन्होंने लिखा है- ''पुरुषार्थ ज्ञानमिदं गुह्यं परमर्षिणां समाख्यातम् ।'' इसका अर्थ है कि पुरुषार्थ - अपवर्ग

को सिद्ध करने वाला, अत्यन्त गुप्त यह ज्ञान अर्थात् सांख्य शास्त्र महर्षि द्वारा कहा गया है। अगली कारिका में इसी ज्ञान को ईश्वर कृष्ण ने "तन्त्र" कहा है -

एतत् पवित्र्यमग्रयं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥

इस 70वीं कारिका में भी पिछली कारिका की तरह यह बात दुहराई गई है कि कारिका प्रतिपादित इस सांख्य ज्ञान के मूल प्रतिपादक कपिल ही थे । इसके अतिरिक्त इसमें यह बात भी कही गई है कि कपिल मुनि ने इस तन्त्र को आसुरि को दिया, आसुरि ने अपने शिष्य पञ्छशिख को दिया और पञ्चशिख ने इसे खूब बढ़ाया, विस्तृत किया । अगली दो कारिकाओं में कहा गया है कि "शिष्य परम्परा से प्राप्त हुए इस ज्ञान को ईश्वर कृष्ण ने प्रस्तुत सत्तर (70) आर्याओं द्वारा संक्षेप में रख दिया । इसमें जो पदार्थ निरुपित हैं, वह निः सन्देह समस्त षष्टि तन्त्र नामक ग्रन्थ के ही प्रतिपाद्य विषय हैं । केवल उसकी आख्यायिकायें तथा पर मत खण्डन इसमें नहीं है ।[39] अन्तिम कारिकाओं का मिलन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कपिल प्रतिपादित जिस सांख्य दर्शन के लिए "तन्त्र" शब्द का प्रयोग किया गया है, उसी के लिए "षष्टितन्त्र" का भी प्रयोग किया गया है । निष्कर्ष यह निकलता है कि मूल सांख्य शास्त्र जिसके प्रथम उपदेष्टा कपिल थे, का पूरा नाम "षष्टितन्त्र" था और उसी का संक्षिप्त नाम "तन्त्र" था । पूरे नाम के लिए आधे-पद का प्रयोग लोक व्यवहार में तो प्रायः मिलता है किन्तु साहित्य में भी पर्याप्त मिलता है ।[40] इस मत से किसी को विरोध नहीं हो सकता, कि सांख्य नाम से प्रसिद्ध दार्शनिक सिद्धान्त कपिल प्रणीत ही है। भारतीय दर्शन जगत् में, दार्शनिक कपिल का सर्वप्रथम स्थान है । वर्तमान संसार के दार्शनिक इतिहास में दर्शनशास्त्र का सर्वप्रथम ग्रन्थ, परमर्षि कपिल का ही ग्रन्थ है ।

कपिल रचित ग्रन्थ - "षष्टितन्त्र" जैन साहित्य के आधार पर -

कपिल ने जिस ग्रन्थ की रचना की थी, उसका नाम "षष्टितन्त्र" था । इस विचार की पुष्टि के लिए हम कुछ प्रमाणों का उल्लेख करते हैं -

1. "कल्पसूत्र"[41] नामक जैन ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में महावीर स्वामी के जीवन का उल्लेख है वहाँ कुछ ग्रन्थों के नाम दिए है । जिनका विशेषज्ञ महावीर स्वामी को बताया गया है । ग्रन्थन्कार एक वाक्य लिखता है -

"सट्ठितन्तविसारए" (षष्टितन्त्र विशारदः)

इस वाक्य की व्याख्या करते हुए यशोविजय लिखते हैं - "षष्टि तन्त्रं कपिलशास्त्रम्, तन्त्रविशारदः पण्डितः" अर्थात् कपिल के निर्माण किए हुए शास्त्र का नाम षष्टितन्त्र है, उसमें

विशारद: अर्थात् पण्डित । यह उल्लेख महावीर स्वामी के सम्बन्ध में किया गया है । इससे प्रतीत होता ह, महावीर स्वामी ने कपिल रचित षष्टितन्त्र का अध्ययन कर उसमें विशेष योग्यता प्राप्त की थी । व्याख्याकार के विचारानुसार जो मूल वाक्य के भावार्थ को अच्छी तरह समझ रहा है, यह स्पष्ट हो जाता है कि कपिल का बनाया हुआ "षष्टि तन्त्र" नामक शास्त्र महावीर स्वामी के समय में विद्यमान था ।

2. जैन ग्रन्थ "अनुयोग द्वार सूत्र" में एक सन्दर्भ इस प्रकार उपलब्ध होता है- "जं इमं अण्णाणिएहिं मिच्छदि्दठीहिं सच्छन्दबुदि्धमइ विगप्पियं तं जहा भारहं रामायणं भीमसुरुक्कं कोडिल्लयं घोड्यमुहं कणगसत्तरी वेसिंम बइसेसिमं बुद्धसासणं काविल लोगायत सटि्ठयन्त माठरपुराणवागरणनाडगाइ" (अनुयोग द्वारसूत्र, 41)

इस सूत्र में कुछ ग्रन्थों के नामों का उल्लेख है । यहाँ बताया है, कि ये ग्रन्थ अज्ञानी, झूठे विचार वाले तथा उच्छंखल बुद्धि लोगों ने बनाये हैं । जैन मत के अनुकूल न होने के कारण इन ग्रन्थों या इनके रचियताओं की निन्दा की गई है । इस सूत्र के उद्धृत करने का हमारा इतना ही प्रयोजन है कि सूत्र में "काविलं सदि्ठयन्तम्" का उल्लेख किया गया है। इन पदों का संस्कृत रूप है - "कापिलं षष्टितन्त्रम"। अर्थ है कपिल के द्वारा रचा हुआ षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ । ग्रन्थों की सूची में षष्टितन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख किया जाना संगत ही है ।[42]

सांख्य व्याख्याताओं के आधार पर –

सांख्य कारिकाओं पर "युक्तिदीपिका" नामक एक व्याख्या है, यह सन् 1938 में कलकत्ते से प्रकाशित हुई है । यद्यपि इसके लेखक का अभी तक निश्चय नहीं हो सका है, पर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि यह व्याख्या कारिकाओं की वाचस्पति मिश्रकृत व्याख्याओं से पर्याप्त प्राचीन है । युक्तिदीपिका कार ने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए प्रथम पन्द्रह श्लोक लिखे हैं । दूसरे श्लोक में ग्रन्थकार ने परमर्षि को गुरु मानकर नमस्कार किया है, दार्शनिक साहित्य में परमर्षि शब्द कपिल के लिए प्रयुक्त होता रहा है । तीसरे श्लोक में जिज्ञासु आसुरि के लिए परमर्षि द्वारा "तन्त्र" के प्रवचन का निर्देश किया गया है ।[43] अगले श्लोक में ग्रन्थकार ने यह भी दर्शाया है कि इस सप्तति नामक प्रकरण अथवा सकल शास्त्र का संक्षेप भी ईश्वर कृष्ण ने वहीं से किया । आगे 14वें श्लोक के तृतीय चरण "पारमर्षस्य तन्त्रस्य" में भी परमर्षि अर्थात् कपिल द्वारा प्रवचन अथवा निर्माण किया हुआ तन्त्र यह अर्थ स्पष्ट होता है। ग्रन्थकार ने सांख्य सप्तति को उसी तन्त्र का प्रतिबिम्ब बताया है । इससे यह परिणाम निकलता है कि सांख्य सप्तति जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया गया है वह "तन्त्र" नामक ग्रन्थ कपिल का बनाया हुआ है । यही भाव इस ग्रन्थ के तीसरे श्लोक से भी स्पष्ट होता है ।[44]

ईश्वर कृष्ण इसीलिए 72वीं कारिका में अपने सम्पूर्ण उल्लेख का उपसंहार इस प्रकार करते हैं -

सप्तत्यां किलयेऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिका विरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥

लगभग सत्तर (70) कारिकाओं के इस ग्रंथ में जो अर्थ प्रतिपादित किये गये हैं, वे सम्पूर्ण षष्टितन्त्र के हैं । उनमें से आख्यायिका और परवादों को छोड़ दिया गया है । ईश्वर कृष्ण की इन चार कारिकाओं का सूक्ष्म विवेचन करने से तथापूर्व प्रदर्शित अन्य प्रमाण एवम् युक्तियों के आधार पर हम जिस परिणाम पर पहुँचते हैं उनका सार निम्न रूप में प्रकट किया जा सकता है -

1. कपिल ने ''तन्त्र'' अथवा ''षष्टितन्त्र'' नामक सांख्य विषयक प्रथम ग्रन्थ का निर्माण किया और उसे आसुरि को पढ़ाया ।
2. आसुरि ने वही ''तन्त्र'' पञ्चशिख को पढ़ाया ।
3. पञ्चशिख ने अध्यापन, व्याख्यान, लेखन आदि के द्वारा उसका बहुत विस्तार किया।
4. वही ''तन्त्र'' शिष्य परम्परा द्वारा ईश्वर कृष्ण को प्राप्त हुआ, जिस परम्परा में भार्गव, उलूक, वाल्मीकि, हारीत, देवल, जनक, वशिष्ठ, पतञ्जलि, गौतम, वार्षगण्य, गर्ग आदि अनेक आचार्य हुए ।
5. उस तन्त्र के सिद्धान्तों को अच्छी तरह समझकर, ईश्वर कृष्ण ने उसका आर्याछन्द में संक्षेप किया । जो सांख्य सप्तति या सांख्यकारिका के नाम से प्रसिद्ध है।
6. इसलिए जिन विषयों का विवेचन सप्तति में है, वे सब षष्टितन्त्र के हैं ।
7. अर्थों को स्पष्ट करने वाली षष्टितन्त्रगत आख्यायिका और परवादों को छोड़ दिया गया है । उपर्युक्त वर्णन हमें अन्तिम रूप से इस ओर ले जाता है कि ''षष्टितन्त्र'' कपिल की रचना है । अन्य किसी की नहीं ।[45]

श्रीयुत कालीपद भट्टाचार्य महोदय ने भी अपने एक लेख में इसी मत को स्वीकार किया है कि ''षष्टितन्त्र'' कपिल की रचना है । तत्त्व समास सूत्रों को तो आधुनिक अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों[46] ने भी कपिल की रचना स्वीकार किया है।[47]

आसुरि –

ये सांख्य के प्रथम आचार्य परमर्षि कपिल के साक्षात् शिष्य थे । इनको कपिल ने सांख्य का उपदेश दिया था । यह तथ्य कि कपिल मुनि ने आसुरि को सांख्य का उपदेश दिया

था विभिन्न स्थलों पर वर्णित है । श्री मद्भागवत में (1/3/10) ''पञ्चम: कपिलो नाम सिद्धेश: कालविप्लुप्तम् । प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्राम विनिर्णयम् ॥'' के रूप में मिलता है ।[48] पञ्चशिखं के गुरु के रूप में इनका महाभारत में उल्लेख मिलता है - जो योग सूत्र 1/25 के भाष्य में व्यास देव द्वारा उद्धृत है - '' आदि विद्वान निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचं ।'' गुरु के विषय में शिष्य के कथन से बढ़कर और कौन सा प्रमाण हो सकता है ? पञ्चशिख आसुरि के शिष्य थे, यह तथ्य महाभारत में अनेक उद्धरणों में से सुसिद्ध है ।[49] उपर्युक्त दोनों ही तथ्य ईश्वर कृष्ण की सत्तरवीं (70) कारिकामें एक ही साथ उल्लिखित हैं-

एतत् पवित्रमग्रंय मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतंतन्त्रम् ॥

इन प्राचीन उद्धरणों के आधार पर आसुरि का ऐतिहासिक होना नितरां सिद्ध है । तथापि कई अर्वाचीन विद्वान ऐसे हैं, जो आसुरि को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं मानते ।[50] डॉ. कीथ भी उनमें से एक हैं ।

डॉ. कीथ ने अपने ग्रन्थ Sankhya System के पृष्ठ 47-48 पर कपिल के साथ-साथ आसुरि की भी ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का कारण देने का असफल प्रयास किया है, वहाँ आसुरि की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं दिया है । केवल बहुत संक्षेप में इतना ही कहा है कि आसुरि केवल नाम ही नाम है और सम्भवत: उन्हें हम एक ऐतिहासिक दार्शनिक के रूप में तब तक स्वीकार नहीं कर सकते, जब तक उनके लिए कोई अतिरिक्त प्रमाण नहीं मिलता । तात्पर्य यह है कि केवल 70वीं कारिका के आधार पर आसुरि की ऐतिहासिकता नहीं मानी जा सकती ।[51]

डॉ. रिचर्ड गार्वे ने डॉ. कीथ की भाँति आसुरि की ऐतिहासिकता को सीधे-सीधे तो नहीं इनकारा है, तथापि उनके आसुरि विषयक कथन का विशेष झुकाव उधर ही कहा जा सकता है । अपने ग्रन्थ "Sankhya and yoga" के पृष्ठ 2-3 पर उन्होंने अपना यह मन्तव्य प्रकट किया है जिसका निष्कर्ष यह है कि यदि सांख्य शास्त्र से सम्बद्ध आसुरि को ऐतिहासिक पुरुष मान भी लिया जाए तो भी शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित आसुरि से इन्हें अवश्य ही भिन्न मानना पड़ेगा । अपनी इस मान्यता के लिए डॉ. गार्वे ने कोई विशेष प्रमाण या तर्क उपस्थित नहीं किया है ।[52] ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका की टीका ''माठरवृत्ति'' तथा ''जयमङ्गला'' में सांख्य दार्शनिक आसुरि के गृहस्थाश्रम से संन्यास लेने का जो वर्णन मिलता है,[53] उसमें तथा शतपथ उल्लिखित आसुरि से सम्बद्ध वर्णनों में पर्याप्त साम्य है । शतपथ के नौ स्थलों में आसुरि के अनेक मतों का उल्लेख है । ये सारे मत यज्ञ-कर्म से सम्बद्ध

हैं जिससे यह अनुमान होता है कि शतपथ ब्राह्मण के रचना काल से बहुत पूर्व आसुरि नामक कोई महायाज्ञिक आचार्य हुए थे ।

पं. उदयवीर शास्त्री ने अपने ग्रन्थ के "अन्य प्राचीन सांख्याचार्य" नामक अन्तिम प्रकरण में आसुरि के सम्बन्ध में विचार करते हुए पृ. 474 पर लिखा है- "माठर वृत्ति तथा अन्य सांख्य-ग्रन्थों में आसुरि का एक गृहस्थ ब्राह्मण के रूप मे उल्लेख किया गया है, और उसका आसुरि यह गोत्र-नाम बताया गया है । उसका सर्वत्र यही नाम उपलब्ध होता है, उसके अन्य किसी सांस्कारिक नाम के सम्बन्ध में हमें अभी तक कुछ भी ज्ञात नहीं है ।

अभाग्यवश हमें इनकी कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है, पर महाभारत में (12-327; 12-328) दो पूरे अध्यायों में कपिल ने इनके कई मार्मिक प्रश्नों का उत्तर दिया है, वे उत्तर इतने महत्त्वपूर्ण है कि पुरुष सूक्त के वास्तविक अर्थ का ज्ञान इनकी सहायता के बिना कदापि नहीं हो सकता । हरिभद्र सूरि (जैन) ने षड्दर्शन समुच्चय की टीका में इनके एक श्लोक को उद्धृत किया है जिसका सम्बन्ध योग शास्त्र से है । वह पद है -

"विविक्तेदृग् परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छो यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥"

इसके अतिरिक्त इनका कोई अन्य वचन उपलब्ध नहीं है । पर इतने से ही स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सांख्य और योग के धुरंधर विद्वान् और लेखक थे । श. प. ब्रा. और वृहदारण्यक (2-8-5-2) ने तो आसुरि का इतिहास देते हुए लिखा है कि आसुरि नामक स्थान के निवासी प्राश्नी पुत्र के आसुरायण के आसुरि नामक पुत्र थे जैसे - "प्राश्नी पुत्रादासुरि वासिनः प्राश्नीपुत्रः आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः॥" और "आसुरेरासुरिः" (2-7-5-3) ।[54]

पञ्चशिख –

सांख्य के इतिहास में पञ्चशिख का स्थान बड़ा महत्त्व रखता है । ये सांख्य के प्रथम आचार्य कपिल के शिष्य आसुरि के शिष्य थे । महाभारत में इनको आसुरि का प्रथम शिष्य बताया गया है जिन्होंने आसुरि से प्राप्त ज्ञान-सम्प्रदाय को अपनी उत्कृष्ट मेघा और बुद्धि से खूब विस्तृत विकसित किया । महाभारत में इनके नाम का विश्लेषण देने की भी चेष्टा की है । कहा है कि पञ्चशिख नाम सार्थक है, "क्योंकि इनकी शिक्षा-दीक्षा पञ्चनद देश में हुई थी, यह पञ्चरात्र सिद्धान्त में निष्णात थे, पञ्चविद्याओं में प्रवीण थे, पाँच प्रकार के यज्ञादि को कराने वाले थे और पाँच गुणों से युक्त थे" अतः इनका नाम पञ्चशिख पड़ा ।[55] वामन पुराण इन्हें - ब्रह्मा के आठ मानस पुत्रों में सम्मिलित करता है; ये दोनों इस प्रकार इन्हें उच्चकोटि का गौरव प्रदान करते हैं ।[56] इसमें ईश्वर कृष्ण की गवाही[57] भी प्राप्त है । इसमें यह स्पष्ट

किया गया है कि सर्वप्रथम कपिल मुनि द्वारा उपदिष्ट और आसुरि के माध्यम या द्वार से पञ्चशिख तक पहुँचे, उस ज्ञान सम्प्रदाय की संज्ञा "षष्टितन्त्र" या केवल "तन्त्र" थी ।

महाभारत में पञ्चशिख को "पराशरसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मन:। भिक्षो: पञ्चशिखस्याह शिष्य: परमसंमत: (शा.प. 320/24) के रूप में "पराशरसगोत्र" और भिक्षु कहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि भिक्षु परम्परा का सूत्रपात सांख्य के ही क्षेत्र में हुआ था, बाद में सांख्य की इस भिक्षु परम्परा से वैदिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ । बौद्ध धर्म भी सांख्य की भिक्षु परम्परा से प्रभावित हुआ। अत: महाभारत के उक्त वचन में पञ्चशिख को "पराशरसगोत्र" कहा गया है ।

सांख्य और योग के विभिन्न ग्रन्थों में पञ्चशिख के कई वचन उद्धृत किए हुए मिलते हैं । ये वचन "षष्टितन्त्र" के भी हो सकते हैं और भिक्षु सूत्र के भी हो सकते हैं और साथ ही उनके किसी अन्य अज्ञात नाम ग्रन्थ के भी हो सकते हैं, ये वचन प्रमुखत: निम्न हैं -

1. "स्यात् स्वल्प: सङ्कर: सपरिहार: सप्रत्यवमर्ष: कुशलस्य नापकर्षायालम् । कस्मात्? कुशलं हि मे बह्वन्यदस्ति यत्रायमावापं गत:, स्वर्गेऽप्यपकर्षमल्पं करिष्यति ।" (योगसूत्र-व्यास भाष्य, सां. तत्व कौमुदी - सा. का. 2)

2. "एकमेव दर्शनं ख्याति मेव दर्शनम् ।" (योग. भा. 1/4)

3. तत्संयोग हेतु विवर्जनात्स्यादयमात्यन्तिको दु:खप्रतीकार: ।" (यो. भा. 1/14, ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य - भामती 2/2/10) ।

4. तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते (यो. भा. 9/36) ।

5. बुद्धित: परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धि मोहेन । (यो. भा. 2/6) ।

6. अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रंमा च परिणामिन्यर्थे प्रति संक्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरुपाया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्यविशिष्टा हि ज्ञान वृत्तिरित्याख्यायते । (यो. भा. 2/20)

षष्टि तन्त्र के नाम से भी "पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्तते" यह वचन सांख्यकारिका (17) के गौडपाद भाष्य में उद्धृत मिलता है ।

अस्तु ! उक्त वचनों से पञ्चशिख के सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश पड़ता है । आचार्य पञ्चशिख कपिलोपदिष्ट सांख्य को विस्तृत रूप में व्याख्यात कर उसे सुव्यवस्थित दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने वाले के रूप में स्मरणीय रहेंगे ।[58]

वार्षगण्य –

वार्षगण्य सांख्य और योग के विश्रुत आचार्य हैं। शान्तिपर्व के याज्ञवल्क्य - जनकसंवाद में अन्य प्राचीन आचार्यों के साथ वार्षगण्य का भी उल्लेख हुआ है ।[59] साख्यकारिका की "युक्तिदीपिका" नामक टीका में भी 71वीं कारिका की व्याख्या में अन्य सांख्याचार्यों के साथ आचार्य वार्षगण्य का भी उल्लेख मिलता है – "संक्षेपेण तुद्राव .... हारीत बाद्धलिकैरातपौरिकर्षभेश्वरपञ्चाधिकरणपतञ्जलिवार्षगण्यकौण्डिण्य-मूकादिशिष्यपरम्परयागतम् ......।" इसमें आचार्यों का उल्लेख कालक्रम अनुसार नहीं दिया गया है । इनमें से कौन किसकी अपेक्षा प्राचीन अथवा अर्वाचीन है, इसका निर्णय कर सकना असम्भव है । इतना अवश्य निवेदन किया जा सकता है कि इनमें से हारीत एवम् वार्षगण्य याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में अन्य प्राचीन आचार्यों के साथ उल्लिखित होने के कारण अवशिष्ट आचार्यों की अपेक्षा प्राचीन होंगे तथा कम से कम महाभारत के शान्ति पर्व के निर्माण काल से पर्याप्त प्राचीन होंगे। शेष महाभारत से अर्वाचीन तथा ईश्वर कृष्ण से प्राचीन रहे होंगे । "युक्तिदीपिका" में इन समस्त आचार्यों के नाम के अतिरिक्त उनके विशिष्ट - विशिष्ट सिद्धान्त भी उल्लिखित हैं । इनमें इनकी ऐतिहासिकता प्रमाणित होती है ।[60]

पं. उदयवीर शास्त्री के अनुसार "वार्षगण्य" गोत्र नाम प्रतीत होता है सांस्कारिक नाम नहीं ।[61] इस पद की सिद्धि शास्त्री जी ने "वार्षगण्य" पद से मानी है, जो गर्गादिगण में पठित है ।[62] इस प्रकार उनके अनुसार इस पद का अर्थ है "वृषगण गोत्र में उत्पन्न हुआ व्यक्ति ।" इस प्रकार स्पष्ट ही यह गोत्र नाम है । श्री नाथू राम प्रेमी ने लिखा है कि – "वार्षगण्य सांख्यकारिका के कर्ता ईश्वरकृष्ण का दूसरा नाम है, और सुप्रसिद्ध चीनी विद्वान डॉ. तकाकुसु के मतानुसार ईश्वर कृष्ण वि. स. 507 के लगभग विद्यमान थे ।"[63] इसका खण्डन करते हुए शास्त्री जी ने लिखा है – कि "श्रीयुत् प्रेमी जी का यह मत, कि वार्षगण्य ईश्वर कृष्ण का ही दूसरा नाम है, सर्वथा निराधार है । इसका विस्तृत खण्डन उन्होंने इसी ग्रन्थ के सप्तम प्रकरण के माठर-प्रसंग में किया है । वहाँ उन्होंने उन सिद्धान्तों का भी उल्लेख किया है जिन्हें ईश्वर कृष्ण तथा वार्षगण्य भिन्न-भिन्न रुप में मानते हैं । इसलिए इनका एक होना सर्वथा असम्भव है । ईश्वर कृष्ण का काल भी ख्रीष्ट शतक प्रारम्भ होने से पूर्व ही कहीं अनुमान किया जाता है । वार्षगण्य का समय पाणिनि से प्राचीन है, सम्भवत: भारत-युद्ध काल से भी।[64] शास्त्री जी का यह कथन सर्वथा समीचीन है । सांख्य के प्राचीनतम आचार्यों की सूची में एक भी ऐसा नाम नहीं है जो बुद्धया पाणिनि के काल से अर्वाचीन हो । इससे महाभारत के लेख की प्रमाणिकता सिद्ध होती है । वार्षगण्य पाणिनि से भी पर्याप्त प्राचीन है । वार्षगण्य नाम पाणिनि के समय से भी पूर्व ही प्रचलित एवम् प्रसिद्ध था। यह बात तो सर्वमान्य है कि ईश्वर कृष्ण पाणिनि से पर्याप्त बाद के हैं । ऐसी स्थिति में वार्षगण्य

और ईश्वर कृष्ण एक ही व्यक्ति कैसे हो सकते हैं ? अतः श्री नाथूराम प्रेमी का पूर्वोक्त वचन असंगत ही कहा जायगा ।[65]

आचार्य वार्षगण्य के अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख सांख्य योग दर्शन के प्राचीन साहित्य में उपलब्ध होता है । सर्वाधिक उल्लेख सांख्य कारिका की प्राचीन टीका "युक्तिदीपिका" में हुआ है । कुछ का उल्लेख वाचस्पति मिश्र की कृतियों में भी हुआ है । एक का उल्लेख योग सूत्रों के "व्यास-भाष्य" में मिलता है । समग्रता की दृष्टि से उनके सिद्धान्तों के उद्धरण इस प्रकार हैं[66] -

1. मूर्ति व्यवधिजातिभेदाभावान्नास्ति मूल पृथकत्वम् इति वार्षगण्यः । (यो. भा. 3/53)

2. अतएव "पञ्चपर्वा अविद्या" इत्याह भगवान वार्षगण्यः । (सांख्य तत्त्व कौमुदी आर्या 47)

3. अतएव योगशास्त्रं व्युत्पादयिताह स्म भगवान पार्षगण्यः -

गुणानां परमं रूपं न दृष्टि पथमृच्छति । यत्तु दृष्टि पथ प्राप्तं तन्मयैव सुतुच्छकम् ॥" इति । (ब्रह्मसूत्र शा. भा. 2/1/3 की भामती)

4.. सम्बन्धादेकस्मात् प्रत्याक्षाच्छेषसिद्धिरनुमानम् । (न्यायवार्तिक 1/1/5) .

5. श्रोतादिवृत्तिरिति वार्षगणाः । (युक्तिदीपिका, पृ. 39)

6. तथा च वार्षगणाः पठन्ति -

"तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तरेपैति, सत्वात् अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात् । संसर्गाच्चास्य सौक्ष्म्यं सौक्ष्म्याच्चानुपलब्धिः । तस्माद् व्यक्त्यपगमो विनाशः । स तु द्विविधः - आसर्ग प्रलयात् तत्त्वानां किञ्चत् कालान्तरावस्थानादितरेषाम्" इति । (युक्तिदीपिका पृ. 67)

7. तथा च भगवान् वार्षगण्यः पठति -
"रुपातिशया वृत्त्यतिशयाश्च विरुध्यन्ते. सामान्यानित्र्वातिशयेः सहवतंन्ते ।"
(युक्तिदीपिका पृ. 72)

8. तथा च वार्षगणाः पठन्ति -
"बुद्धि वृत्त्याविष्टो हि प्रत्ययत्वेनानुवर्तमानामनुयाति पुरुष" इति । (युक्तिदीपिका पृ. 95)

9. तथा च वार्षगणाः पठन्ति -
"प्रधानप्रवृत्तिरप्रत्यया पुरुषेणापरिगृहमाणादिसर्गे वर्तते" इति । (युक्तिदीपिका पृ. 102)

10. वार्षगणनां प्रधानात् महानुत्पद्यते । (युक्तिदीपिका पृ. 108)

11. रुक रूपाणि तन्मात्राणीत्यन्ये, एकोत्तराणीति वार्षगण्य: । (युक्तिदीपिका पृ. 108)

12. करणानां महती स्वभावातिवृत्ति: प्रधानात्, स्वल्पा च स्वत: इति वार्षगण्य: (युक्तिदीपिका पृ. 108)

13. करणं .... एकादशाविधमिति वार्षगणा: । (युक्तिदीपिका पृ. 132)

14. यदि यथा वार्षगणा आहु: "लिङ्गमात्रोमहानसंवेध: कार्यकारणरुपेणविशिष्टो विशिष्ट लक्षणेन यथा स्यात्तत्त्वान्तरम् ।" (युक्तिदीपिका पृ. 133)

15. साधारणो हि महान् प्रकृतित्वादिति वार्षगणानापक्ष: । (युक्तिदीपिका पृ. 145)

16. वार्षगणानां तु, यथा स्त्रीपशुरीराणामचेतनानामुदिश्ये तेरतरं प्रवृत्तिस्तथा प्रधानस्येत्ययं दृष्टान्त: ।[67]

विन्ध्यवासी –

ये भी सांख्य के प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं । इनका वास्तविक नाम "रुद्रिल" बताया जाता है और फिर वे विन्ध्यपर्वत के वनों में वास करने के कारण "विन्ध्यवासी" के नाम से प्रसिद्ध हुए ।[68] विन्ध्यवास का समय विज्ञानवाद के अप्रतिम आचार्य वसुबन्धु के समय निर्धारण पर निर्भर करता है । चीनी परम्परा का अनुसरण करते हुए परमार्थ ने अपने ग्रन्थ "वसुबन्धुचरित" में लिखा है कि – विन्ध्यवास ने बसुबन्धु के गुरु बुद्धिमित्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था । उसमें यह भी उल्लिखित है कि वसुबन्धु अपने गुरु की पराजय का बदला चुकाने का विचार कर ही रहे थे कि इसी बीच विन्ध्यवास का देहावसान हो गया। फिर वसुबन्धु ने अपने "परमार्थसप्तति" नामक ग्रन्थ में विन्ध्यवास के सिद्धान्तों का खण्डन करके वह बदला चुकाया । इससे स्पष्ट होता है कि विन्ध्यवास वसुबन्धु के वृद्ध समकालिक थे । किन्तु वसुबन्धु का समय अनिश्चित है । डॉ. तकाकुसु ने उन्हें ईसवी पञ्चम शताब्दी के अन्तिम पादों अर्थात् 425 से 500 ई. के बीच रखा है । इसके आधार पर विन्ध्यवास का समय 450 ई. के आस-पास सिद्ध होता है । परन्तु चीनी परम्परा के आधार पर एन. पेरी द्वारा वसुबन्धु का समय उससे कम से कम एक शताब्दी पूर्व रखा गया । डॉ. कीथ भी चीनी परम्परा को ठीक मानने के पक्ष में हैं । इस प्रकार विन्ध्यवास का समय ईसवी चतुर्थ शताब्दी का प्रारम्भ निर्धारित होता है ।[69] आज इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती, किन्तु विभिन्न ग्रन्थों में इनके मतों के निर्देश से ज्ञात होता है कि इन्होंने अवश्य कुछ लिखा था, जो कि अब उपलब्ध नहीं है । विभिन्न ग्रन्थों में इनके सिद्धान्तों का जो उल्लेख मिलता है । उससे ज्ञात होता है कि ये ईश्वर कृष्ण की विचारधारा से भिन्न धारा रखते थे। इनकी विचारधारा वार्षगण्य की विचारधारा से कुछ अधिक मेल खाती है; जिससे ऐसा प्रतीत होता

है कि सांख्य के प्रथम आचार्य कपिल द्वारा आसुरि को उपदिष्ट सांख्य-ज्ञान को जहाँ आचार्य पञ्चशिख ने उसी रूप में विस्तृत या पल्लवित किया, वहाँ आचार्य वार्षगण्य ने उसमें अपनी नई विचारधारा का समावेश किया और इस प्रकार सांख्य में दो परम्पराएँ या शाखाएँ हो गई- एक पञ्चशिख की परम्परा और दूसरी वार्षगण्य की परम्परा। जहाँ सांख्यकारिकाकार ने, जैसा कि उन्होंने स्वयं घोषित किया है, पञ्चशिख द्वारा विस्तृत या पल्लवित किए। कपिलोपदिष्ट ज्ञान को शिष्य परम्परा से प्राप्त कर "सांख्य कारिका" में प्रस्तुत किया, वहाँ वार्षगण्य की विचारधारा से युक्त सांख्य ज्ञान को विन्ध्यवासी ने अपनाया। इस प्रकार जहाँ ईश्वर कृष्ण पञ्चशिख की परम्परा में हैं, वहाँ विन्ध्यवासी वार्षगण्य की परम्परा के अनुयायी है, यही कारण है कि जहाँ विन्ध्यवासी की विचारधारा से भिन्नता रखती है, वहाँ वह वार्षगण्य की विचारधारा से साम्य रखती है।

विन्ध्यवासी के विभिन्न विशिष्ट सिद्धान्तों में से सर्व प्रमुख सिद्धान्त यह है कि वे सूक्ष्म शरीर को नहीं मानते। उनके इस सिद्धान्त को विभिन्न ग्रन्थों में निर्दिष्ट किया गया है। मनुस्मृति (1/55) के मेधातिथिप्रणीत भाष्य में कहा गया है कि "सांख्या हि केचिन्नान्तराभवमिच्छन्ति विन्ध्यवास प्रभृतय:।" यहाँ "अन्तरा भाव" शब्द का प्रयोग सूक्ष्म शरीर के लिए किया गया है। प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य कुमारिलभट्ट ने भी अपने "श्लोक वार्तिक" नामक ग्रन्थ (श्लोक 62) में कहा है कि "अन्तराभवदेहस्त निषिद्धो विन्ध्यवासिना।" सांख्यकारिका की "युक्तिदीपिका" नामक टीका (पृ. 144) में भी कहा गया है कि "विन्ध्यवासिनस्तु विभुत्वादिन्द्रियाणां बीज देशे वृत्या जन्म, तत्त्यागोमरणम्, तस्मान्नास्ति सूक्ष्मशरीरं, तस्मान्निर्विशेष: संसार इति पक्ष:।" कहने की आवश्यकता नहीं कि विन्ध्यवासी का यह इतिहास ईश्वर कृष्ण के एतद्विषयक सिद्धान्त से विपरीत है, क्योंकि ईश्वर कृष्ण सूक्ष्म शरीर का अस्तित्व मानते हैं (का. 39-42)[70]

उक्त सिद्धान्त के अतिरिक्त विन्ध्यवासी के अन्य सिद्धान्तों का निर्देश विभिन्न ग्रन्थों में प्रमुखत: निम्न रूप में मिलता है -

1. संदिह्यमानसद्भाववस्तु बोधात् प्रमाणता।
   विशेषदृष्टमेतच्च लिखितं विन्ध्यवासिना॥ (श्लोक. वा.)
2. प्रत्यक्षदृष्टसम्बन्धमनुमान विशेषतोदृष्टमनुमानित्येवं।
   विन्ध्यवासिना गदितम् (तत्त्व संग्रह पंजिका, पृ. 423)
3. यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तद् दधीति च।
   वदता रुद्रिलेनैवं ख्यापिता विन्ध्यवासिना॥ (तत्त्वसंग्रह पंजिका पृ. 22)
4. अनेनैवाभिप्रायेण विन्ध्यवासिनोक्तम् - "सत्त्वतप्यत्व मेव पुरुषतप्यत्वम्।" (योग सूत्र - भोज वृत्ति सू. 4/22)

5. महत: जड विशेषा: सृज्यन्ते पञ्चतन्मात्राण्यहङ्कारश्चेति विन्ध्यवासिमम् (सांख्यकारिका की "युक्तिदीपिका" नामक टीका, पृ. 108)

6. अधिकरणमपि .... एकादशमितिविन्ध्यवासी (सांख्यकारिका की "युक्तिदीपिका" टीका पृ. 108)

7. सङ्कल्पाभिमानाध्यवसायननात्वमन्येषाम्, एकत्वं विन्ध्यवासिन: । (सांख्यकारिका की "युक्तिदीपिका" टीका पृ. 108)

जैसा कि सांख्य कारिका की "युक्तिदीपिका" नामक टीका के "करणम् .... एकादशविधमिति वार्षगणा: (पृ. 113) और "अधिकरणमपि .... एकादशकमिति विन्ध्यवासी" (पृ. 108) कथनों से स्पष्ट होता है कि - आचार्य वार्षगण्य और उनके अनुयायी तथा विन्ध्यवासी ग्यारह कारण मानते हैं; जबकि, जैसा कि सांख्यकारिका के "करणं त्रयोदशविधम्" (का. 32) से स्पष्ट है कि ईश्वर कृष्ण तेरह करण मानते हैं। इस प्रकार जहाँ वार्षगण्य और विन्ध्यवासी की मान्यताओं में साम्य प्रकट होता है, वहाँ ईश्वर कृष्ण और विन्ध्यवासी की मान्यताओं में वैषम्य प्रकट होता है ।[71]

ईश्वर कृष्ण –

सांख्य दर्शन के इतिहास में आचार्य ईश्वर कृष्ण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। महर्षि कपिल प्रवर्तित एवम् आचार्य आसुरि तथा पञ्चशिख संवर्द्धित सांख्य दर्शन की विचारधारा को विच्छेदरहित रूप से प्रवाहित करने वाले यही ईश्वर कृष्ण है । इसका अनुमोदन वे स्वयं ही अपनी सांख्यकारिका 69-72 में करते हैं । मानवजीवन के परम् पुरुषार्थ अपवर्ग को सम्पन्न करने के लिए अतिशय अनुग्रह करके अत्यन्त रहस्यमय एवम् दुर्बोध सांख्य ज्ञान का उपदेश महर्षि कपिल ने आसुरि को दिया । गुरु गृहीत इस ज्ञान को आसुरि ने पञ्चशिख को प्रदान किया और पञ्चशिख ने इस ज्ञान का पर्याप्त प्रचार व प्रसार किया । परम् पवित्र एवम् कल्याणकारक यही ज्ञान गुरु शिष्य परम्परा से ईश्वर कृष्ण को प्राप्त हुआ और उन्होंने सम्यक् रूप से इस रहस्यात्मक ज्ञान को हृदयंगम करके सत्तर (70) आर्या छन्दों में इसी को सुसंबद्ध कर दिया। इन कारिकाओं में निरूपण किए गये तत्त्व सांख्य के सबसे प्राचीन किन्तु लुप्त ग्रन्थ षष्टितन्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही है । इसमें केवल आख्यायिकाओं तथा परमत खण्डन का अभाव है ।

सप्तभ्यां किल येऽर्थास्तेऽर्था: कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिता: परवादविवर्जिताश्चापि ॥ (सां. का. 72)

अत: सांख्य कारिकाकार आचार्य ईश्वर कृष्ण मुख्य रूप से कपिल परम्परा का ही अनुगमन करते हैं । अन्य आचार्यों के कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । इस प्रकार वेदों, उपनिषदों,

महाभारत, इतिहास, पुराण इत्यादि ग्रन्थों में उल्लिखित सांख्य सिद्धान्तों का सार संग्रह करके आचार्य ईश्वर कृष्ण ने जिस सांख्य शास्त्र का प्रतिपादन किया, वह भारत का सर्वाधिक प्राचीन एवम् प्रसिद्धि प्राप्त दर्शन है । इसकी अत्यधिक ख्याति का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि आचार्य शंकर ने अपने शारीरिक भाष्य में सांख्य कारिका के मतों को आधार मानकर उनके उपन्यास एवम् खण्डन पूर्वक स्वसिद्धान्त की स्थापना करते हैं ।[72]

प्रमाणों के आधार पर आचार्य ईश्वर कृष्ण का समय प्रथम शताब्दी ई. से पर्याप्त पूर्व सिद्ध होता है । ''सांख्यकारिका'' की प्राचीनत्तम् व्याख्या आचार्य माठर द्वारा प्रणीत ''माठरवृत्ति'' मानी जाती है और आचार्य माठर का समय सम्राट कनिष्क का शासनकाल (प्रथम शताब्दी ई.) माना जाता है, जिससे सिद्ध होता है कि सांख्य कारिकाकार ईश्वर कृष्ण ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व हुए है । इसके अतिरिक्त, प्रथम शताब्दी ईसवी की रचना माने जाने वाले ''अनुयोगद्वार सूत्र'' नामक जैन ग्रन्थ में ''काविलं'', ''षट्ठितंत'', ''माठर'', कणगसत्तरी'' आदि के रुप में सांख्य कारिका के टीकाकार ''माठर'' तथा ''कणगसत्तरी''(कनकसप्तति) का उल्लेख है । यत: यहाँ ''काविल'' (कापिल) एवम् ''षट्ठितंत'' (षष्टितन्त्र) के रूप में सांख्य दर्शन के ग्रन्थों का उल्लेख है, अत: स्पष्ट है कि ''कणगसत्तरी'' भी कोई सांख्य ग्रन्थ ही है और यत: सांख्य कारिकाकार ने ''सांख्यकारिका'' की ''सप्तत्या. किल येऽर्था:'' (का. 72) के रूप में ''सप्तति'' अर्थात् सत्तर आर्याओं या कारिकाओं का ग्रन्थ कहा है और इसके आधार पर इसका दूसरा नाम ''सांख्य सप्तति'' भी है तथा चीन में यह ''सुवर्णसप्तति'' के नाम से प्रसिद्ध है, अत: स्पष्ट होता है कि भारत में भी कम से कम बौद्ध और जैन क्षेत्रों में यह ''कनक सप्तति'' या ''सुवर्णसप्तति'' के नाम से भी प्रसिद्ध रही होगी, जिसके कारण उक्त जैन ग्रन्थ में इसे ''कणगसत्तरी'' (कनकसप्तति) कहा गया और चीन में इसे ''सुवर्ण-सप्तति'' कहा गया । इस प्रकार उक्त जैन ग्रन्थ में ''सांख्यकारिका'' का उल्लेख होने से सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ प्रथम शताब्दी ईसवी से पूर्व की रचना है और फलत: इसके रचयिता ईश्वर कृष्ण ईसा की प्रथम शताब्दी से पूर्व हुए हैं ।[73]

चीनी परम्परा में यह माना जाता है कि सांख्याचार्य विन्ध्यवासी ने ''हिरण्यसप्तति'' नामक ग्रन्थ लिखा था और यत: ''हिरण्य सप्तति'', ''सुवर्ण-सप्तति'' या ''कनकसप्तति'' का ही नामान्तर हो सकता है और ''सुवर्ण सप्तति'' या ''कनक-सप्तति'' उक्त प्रकार से ''सांख्य सप्तति'' या ''सांक्यकारिका'' का नाम है अत: चीनी विद्वान तकाकुसु ने यह निष्कर्ष निकाला है कि विन्ध्यवासी और ईश्वर कृष्ण एक ही व्यक्ति हैं।[74] किन्तु डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र के अनुसार - ईश्वर कृष्ण और विन्ध्यवास भिन्न-भिन्न आचार्य थे एक नहीं । उनके अनुसार वार्षगण्य से ईश्वर कृष्ण एवम् ईश्वर कृष्ण से विन्ध्यवासी पर्याप्त परवर्ती थे । दूसरे,

कई महत्त्वपूर्ण बातों में ईश्वर कृष्ण तथा विन्ध्यवासी में पर्याप्त मत-भेद दीख पड़ता है। जिन बातों के समम्बन्ध में ईश्वर कृष्ण का वार्षगण्य से मत-भेद है, उनके सम्बन्ध में उनका विन्ध्यवासी से प्राय: मत-भेद है, एवम् वार्षगण्य एवम् विन्ध्यवासी का प्राय: परस्पर मतैक्य। ईश्वर कृष्ण तेरह कारण मानते हैं, इसके विपरीत वार्षगण्य एवं विन्ध्यवासी दोनों ही ग्यारह करण मानते हैं।[75] इसी प्रकार वार्षगण्य कृत प्रत्यक्ष लक्षण "श्रोत्रादिवृत्ति:76 तथा विन्ध्यवास कृत प्रत्यक्ष लक्षण "श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका77 है। किन्तु ईश्वर कृष्ण कृत लक्षण "प्रतिविषयाध्यवसाय:78 है। वार्षगण्य एवम् विन्ध्यवास का अनुमान लक्षण भी समान है और ईश्वर कृष्ण का भिन्न। इसके अतिरिक्त ईश्वर कृष्ण और विन्ध्यवास का प्रसिद्ध मतभेद सूक्ष्म या लिङ्ग शरीर के सम्बन्ध में है। विन्ध्यवास सूक्ष्म शरीर की सत्ता नहीं मानते। युक्ति दीपिका एवम् श्लोकवार्तिक के रचयिताओं ने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है - "विन्ध्यवासिनस्तु .... नास्ति सूक्ष्मशरीरम्" (युक्ति दीपिका पृ. 144)। अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धोविन्ध्यवासिना (श्लोकवार्तिक)। वार्षगण्य के एतद्विषयक मत का उल्लेख न मिलने से इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विन्ध्यवास के मत के विरूद्ध ईश्वर कृष्ण सूक्ष्म शरीर मानते हैं। 39-40वीं कारिकाओं में उन्होंने इसका विवरण प्रस्तुत किया है। इन भेदों के आधार पर स्पष्ट रूप से यह बात कही जा सकती है कि ईश्वर कृष्ण एवम् विन्ध्यवास सर्वथा भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसके विपरीत डॉ. तकाकुसु एवम् तिलकजी का यह मत है कि "ईश्वर कृष्ण एवम् विन्ध्यवास एक ही व्यक्ति है", सर्वथा असंगत है। इससे डॉ. कीथ का यह कथन भी खण्डित हो जाता है कि विन्ध्यवास सांख्यकारिका के रचयिता से अभिन्न थे और वसुबन्धु के वृद्ध समकालिक थे।[79]

यद्यपि आचार्य ईश्वर कृष्ण अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में आदि आचार्य महर्षि कपिल का अनुगमन करते है किन्तु सांख्यकारिका में निरूपित सांख्य में ईश्वर तत्त्व को स्वीकार नहीं किया गया है। इस विषय में कुछ विद्वान् कपिल सांख्य को ईश्वरवादी मानने के पक्ष में है।[80] प. उदयवीर शास्त्री तो ईश्वर कृष्ण निरुपित सांख्य को भी सेश्वर स्वीकार करते हैं। क्योंकि सांख्यकारिका में केवल सृष्टि के उपादान कारण के रूप में ही ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है। इसका अभिप्राय ईश्वर तत्त्व का प्रत्याख्यान नहीं है। अत: ईश्वर कृष्ण को ईश्वरवादी ही कहना उपयुक्त है - ईश्वर को सृष्टि का उपादान न मानने के कारण कोई भी व्यक्ति निरीश्वरवादी कैसे कहा जा सकता है ? पातञ्जल योग दर्शन भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं मानता परन्तु उसे निरीश्वर वादी नहीं कहा जा सकता। न्यायवैशेषिक भी ईश्वर को सृष्टि का उपादान कारण नहीं कहते, पर वे भी निरीश्वर वादी नहीं और न कोई दार्शनिक उन्हें निरीश्वर वादी कहता है। ईश्वर की तरह पुरुष की भी उपादान-कारणता का निषेध होने से ईश्वर कृष्ण को तब पुरुषवादी भी नहीं माना जाना

चाहिए। .... यदि पुरुष की उपादानता का प्रत्याख्यान करने पर भी वह पुरुष को मानता है, तो ईश्वर की उपादान-कारणता का खण्डन करने पर भी वह निरीश्वरवादी नहीं कहा जा सकता ।[81]

किन्तु डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र ने शास्त्री जी के इस मत को सर्वथा अनुपयुक्त बतलाया है । ईश्वर कृष्ण को ईश्वर नामक तत्त्व न तो उपादान कारण के रूप में और न निमित्त कारण के रूप में ही स्वीकार्य हैं । अत: उनके द्वारा प्रतिपादित सांख्य निरीश्वरवादी ही है- ''ईश्वर कृष्ण के उपादान अथवा निमित्त किसी भी रूप में ईश्वर को न मानने के कारण ही निरीश्वर वादी आचार्य है । ''पुरुष'' को सृष्टि का उपादान न मानते हुए भी निमित्त मानने के कारण ईश्वर कृष्ण निस्संदेह पुरुषवादी या अध्यात्मवादी आचार्य हैं, जड़वादी कदापि नहीं ।[82]

इस प्रकार सांख्यसिद्धान्तों को प्रतिष्ठित करने वाली सांख्यकारिका का कर्ता होने के कारण सांख्य दर्शन के इतिहास में आचार्य ईश्वर कृष्ण का उत्कृष्टतम स्थान है।

पं. वाचस्पति मिश्र –

भारतीय दर्शन साहित्य में पं. वाचस्पति मिश्र का अत्यन्त महनीय एवम् गरिमामय स्थान है । दार्शनिक सिद्धान्तों के वे अनुपम व्याख्याकार है । दर्शन साहित्य को उनकी बहुत ही महत्त्वपूर्ण देन है । यह मिथिला के निवासी हैं । इनके गुरु का नाम त्रिलोचन है ।[83] न्यायशास्त्र के नष्टप्राय सम्प्रदाय के उद्धार के लिए वाचस्पति मिश्र ने ''न्याय सूचीनिबन्ध'' नाम से गौतम के मूल न्याय सूत्रों का जो सम्पादन किया है, उसके एक उपसंहारात्मक श्लोक में उसका समय 898 संवत्सर दिया गया है ।[84] जो विक्रमान्द माने जाने पर 841 ई. होता है। इससे वाचस्पति मिश्र का समय ईसवी नवम् शताब्दी का पूर्वार्द्ध निश्चित होता है । यद्यपि वाचस्पति मिश्र द्वारा उल्लिखित 898 वत्सर के विक्रम संवत् माने जाने के विषय में बड़ा विवाद रहा है जो आज भी समाप्त नहीं हुआ, एवम् हर प्रसाद शास्त्री, विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, दिनेश चन्द्र भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने इसे शक सम्वत् ही माना है, तथापि इसे विक्रम संवत् ही मानना उचित प्रतीत होता है । डॉ. गंगानाथ झा ने इसे विक्रम संवत् ही माना है ।[85] पं. उदयवीर शास्त्री एवम् महामहोपाध्याय डॉ. उमेश मिश्र का भी यही विचार है । डॉ. कीथ तथा प्रो. बुड्ज ने भी वाचस्पति मिश्र के ''वत्सर'' पद का अर्थ विक्रम संवत् ही किया है ।[86]

वाचस्पति के काल के विचार के प्रसंग में एक और बात विचारणीय है । ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की अपनी टीका भामती का उपसंहार करते हुए वाचस्पति मिश्र ने दो श्लोकों

में लिखा है कि यह ग्रन्थ मैंने कीर्तिमान, वदान्य, शास्त्रज्ञ एवम् महनीय महाराज नृग के राज्य काल में लिखा है वे श्लोक इस प्रकार हैं -

नृगान्तराणां मनसाप्यगम्यां भुक्षेपमात्रेण चकार कीर्तिम् ।
कार्तस्वरासार सुपूरितार्थ सार्थः स्वयं शास्त्रविचक्षणश्च ॥

नरेश्वरा यच्चरितानुकारमिच्छन्ति कर्तुंन च पारयन्ति ।
तस्मिन्महं मे महनीयकीर्तौ श्रीमन्नृगेऽकारि मयानिबन्धः ।[87]

अस्तु यहाँ इतने से ही सन्तोष करना पड़ेगा कि नृग के काल को छोड़कर भी अन्य उपलब्ध तथ्यों के आधार पर वाचस्पति मिश्र का समय ईसवी नवम् शताब्दी का पूर्वार्द्ध तथा उसके कुछ आगे-पीछे का समय ज्ञात होता है ।[88]

प्रायः सभी विद्वानों का इस बात में एकमत हैं कि समस्त भारतीय दर्शनों में जैसी अप्रतिहत या अनवरुद्धगति वाचस्पति मिश्र की थी वैसी किसी भी प्राचीन या अर्वाचीन आचार्य की नहीं थी । पं. वाचस्पति मिश्र वास्तव में बृहस्पति के अवतार ही हैं । प्रकाण्ड पाण्डित्य, अलौकिक प्रतिभा एवम् अद्‌भुत वैदुष्य से समलङ्कृत हैं। सभी दर्शन शास्त्रों में पूर्ण निष्णात है । साथ ही वेद - उपनिषद् - इतिहास - पुराण इत्यादि विविध शास्त्रों के मर्मज्ञ विद्वान हैं । सर्वत्र इनकी अप्रतिहत गति है । इसीलिए ''द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन'' रूप में इनकी प्रसिद्धि है । अपने प्रखर ज्ञानालोक से समस्त दर्शनशास्त्र के अन्तस्तल को इन्होंने सुस्पष्ट रूप से प्रकाशित किया । अपनी अत्यन्त विशद एवम् स्फुट टीकाओं के माध्यम से अतीव दुर्बोध दुरुह निगूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों को सरल सुबोध, सुग्राह्य बनाने का इन्होंने बहुत ही श्लाघनीय, साथ ही सफल प्रयास किया । वैशेषिक के अतिरिक्त सभी आस्तिक दर्शनों पर इन्होंने अत्यन्त प्रौढ़ पाण्डित्य पूर्ण टीकायें प्रस्तुत कीं । वे टीकायें इस प्रकार हैं[89] -

1. न्यायवार्तिक तात्पर्य टीका
2. न्याय सूची निबन्ध
3. सांख्य तत्त्व कौमुदी
4. तत्त्व वैशारदी
5. न्याय कणिका
6. ब्रह्म तत्त्व समीक्षा
7. तत्त्व बिन्दु
8. भामती

इस प्रकार भारतीय दर्शन की सभी प्रमुख शाखायें पं. वाचस्पति मिश्र जी के प्रति अनुगृहीत हैं । प्रायः सभी के प्रति उनकी देन अद्‌भुत है । दर्शन की सभी प्रधान शाखाओं पर प्रमाणिक एवम् पाण्डित्यपूर्ण टीकाओं की रचनाकर लोक का अतिशय कल्याण किया तथा अपनी टीकाओं द्वारा तत्तद् दार्शनिक सिद्धान्तों को परिपुष्ट, समृद्ध एवम् सुप्रतिष्ठित बनाया। ये सभी टीकायें इनकी मौलिक प्रतिभा की परिचायिका हैं ।

विषय प्रतिपादन की पं. वाचस्पति मिश्र की शैली अत्यन्त विशद् उदात्त एवम् सुबोध है। सिद्धान्तों के सुस्पष्टीकरण में मिश्र जी का सफल प्रयास है। शब्दों के अक्षरार्थ, व्युत्पत्ति, भावार्थ एवम् सुन्दर सरल समीचीन उदाहरणों द्वारा विषय को सुबोध तथा सुग्राह्य बनाने का पर्याप्त प्रयास किया है। इनकी तुलनात्मक एवम् समीक्षात्मक व्याख्या पद्धति प्रतिपाद्य विषय के सम्यक् अवगाहन में अत्यन्त सहायक है। खण्डनात्मक एवम् मण्डनात्मक शैली द्वारा इन्होंने प्रतिपाद्य दार्शनिक सिद्धान्तों की सुन्दर स्थापना की है। अन्य प्रतिकूल दर्शन के सिद्धान्तों का उपन्यास कर, उनके खण्डन के पश्चात् प्रतिपाद्य दर्शन के सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हैं। यथा सांख्य अभिमत सत्कार्यवाद की स्थापना के अवसर पर सर्वप्रथम "असत: सज्जायेत, सत: असज्जायते एकस्य सतो विवर्त: कार्यं जातं न वस्तु सत्" इत्यादि रूप से क्रमश: बौद्ध, न्यायवैशेषिक अद्वैतवेदान्त के मतों को प्रस्तुत करके युक्तियों द्वारा उनका प्रत्याख्यान करके पुन: सांख्य सम्मत "सत: सज्जायते" की प्रतिष्ठा करते हैं तथा इस सिद्धान्त की "असदकरणात्" इत्यादि हेतुओं द्वारा पुष्टि करते हैं। मूल भाग में विद्यमान कमियों, अपूर्णताओं को दूर करके विषय को अत्यन्त स्पष्ट, सरल, सन्देह रहित बनाते हैं। यथा - सत्कार्यवाद की सिद्धि करने के लिए प्रस्तुत हेतु "कारणभावात्" की सुन्दर व्याख्या करते हैं और कार्यकारण में अभेद की सिद्धि के लिए "धर्मधर्मिसम्बन्ध", "उपादेय-उपादान भाव सम्बन्ध", "संयोग एवम् अप्राप्ति का अभाव तथा गुरुत्व के अन्तर का ग्रहण न होना" रूप हेतुओं को उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार सर्वत्र सूत्रात्मक भाषा में निबद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को अपनी टीकाओं द्वारा सरल बनाने का पूर्ण प्रयास करते हैं, और अपने इस प्रयास में वे सफल हैं।

इस प्रकार दर्शन जगत् में पं. वाचस्पति मिश्र का अति गौरव पूर्ण स्थान है। विविध दार्शनिक सिद्धान्तों के सुस्पष्टीकरण में इनका सर्वाधिक योगदान है। यद्यपि दार्शनिक सिद्धान्तों की समीचीन व्याख्या में मिश्र जी का प्रयास प्रशंसनीय है, तथापि इन व्याख्याओं में सहसा प्रवेश पाना सर्वसामान्य के लिए सरल नहीं हैं। इनकी दुरूहता एवम् दुर्गमता का प्रधान कारण मिश्र जी का अगाध आचार्यत्व, साथ ही विषय प्रतिपादन की उनकी नैयायिक शैली है। इसी कारण ये व्याख्यायें क्लिष्ट हो गयी हैं। फिर भी मिश्र जी का टीकाकारों में अनुपम स्थान है ही।[90]

विज्ञान भिक्षु –

भारतीय दर्शन साहित्य में विज्ञान भिक्षु का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। विज्ञान भिक्षु - कृत भाष्य अत्यन्त प्रसिद्ध व्याख्या ग्रन्थ है। सांख्य सार की भूमिका के पृ. 37 की पादटिप्पणी में श्री एफ. ई. हाल ने सांख्य सूत्र-वृत्ति की भूमिका के पृ. 8 पर डॉ. गार्वे ने इण्डियन लिट्रेचर (जर्मन संस्करण) के पृ. 457 पर प्रो. विण्टरनिट्ज ने, तथा हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी,

भाग 1 के 212 तथा 221 पृष्ठों पर डॉ. एस. एन. दास गुप्त ने विज्ञान भिक्षु का समय ईसवी सोलहवीं शताब्दी का मध्य माना है । डॉ. कीथ ने भी अपने "सांख्य सिस्टम" नामक ग्रन्थ में उनका समय ईसवीय सोलहवीं शताब्दी का मध्य ही माना है ।[91] श्री पी. के. गौडे ने भी विज्ञान भिक्षु का यही समय सिद्ध किया है । यह बात सर्वविदित है कि विज्ञान भिक्षु के शिष्य भावगणेश थे, जिन्होंने तत्त्व समास सूत्रों की "तत्त्वयाथार्थ्यदीपन" नामक टीका रची है । भावागणेश ने ग्रन्थ के आरम्भ में विज्ञान भिक्षु को गुरु बताकर नमस्कार किया है । आगे भी कई स्थलों पर बड़े आदर और गर्व के साथ उनका उल्लेख किया है । पी. के. गोडे के मतानुसार इन्हीं भावागणेश का उल्लेख बनारस के एक निर्णय पत्र में पाया गया है, जो शक् सम्वत् 1505 अर्थात 1583 ई. सन् में लिखा गया । उसमें कई विद्वानों के हस्ताक्षर हैं, जो उस समय अपने ब्राह्मण वर्ग के मुखिया थे। इनके सर्वप्रथम भावागणेश का नाम है। वहाँ का लेख इस प्रकार है -

"तत्र सम्मतिः, भावयेगणेशदीक्षित चिपोलणे ।"

गौडे महोदय के विचार से निर्णय पत्र के भावये गणेश दीक्षित तथा विज्ञान भिक्षु के शिष्य भावगणेश दोनों एक ही व्यक्ति हैं । इस प्रकार भावगणेश का समय ईसवी सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है । ऐसी स्थिति में उनके गुरु विज्ञान भिक्षु का समय ई. सोलहवीं शताब्दी का मध्य होना चाहिए ।[92]

सांख्य दर्शन सम्बन्धी साहित्य –

आधुनिक योरोपीय और अनेक भारतीय विद्वानों का यह मत है कि उपलभ्यमान सांख्य ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण रचित सांख्य कारिका ही है ।[93] कुछ विद्वान् "तत्त्व समास" नामक बाईस सूत्रों के संग्रह को इन कारिकाओं से प्राचीन मानते हैं । इनके अतिरिक्त पातञ्जल योग दर्शन के व्यासभाष्य तथा सांख्य-योग सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में कुछ वाक्य उद्धृत मिलते हैं, जिनको वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों ने पञ्चशिख की रचना बताया है । पञ्चशिख, कपिल का प्रशिष्य और आसुरि का प्रधान शिष्य था । यदि वाचस्पति के लेख को ठीक मान लिया जाए, जिसके स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं दिखती, तो यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि व्यास भाष्य आदि में उद्धृत सूत्र भूत वाक्य, ईश्वर कृष्ण रचित सांख्यकारिकाओं से अत्यन्त प्राचीन हैं ।[94]

इस प्रकार ये तीन सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ कहे जा सकते हैं -

1. तत्त्व समास सूत्र
2. सांख्य सूत्र
3. सांख्य कारिका

तत्त्व समास सूत्र –

सांख्य शास्त्र का सबसे प्रथम और प्राचीन ग्रन्थ सूत्रयुग का ''तत्त्वसमाससूत्र'' माना जाता है । विज्ञान भिक्षु ने सांख्य प्रवचन भाष्य की प्रस्तावना में लिखा है कि यह ग्रन्थ सांख्य सूत्रों का एक प्रकार से संक्षिप्त संस्करण है । ''तत्त्वसमास'' सचमुच बहुत संक्षिप्त रचना है और अब तक संरक्षित रूप में मिलता है । विज्ञान भिक्षु ने ब्रह्मसूत्र ऋजु व्याख्या में कहा है कि इस रचना पर पञ्चशिख ने भाष्य लिखा था।

''त्रिविधं मोक्षं क्रमेणाह तत्त्वसमासाख्यभाष्ये पञ्चशिखाचार्यः - आद्यस्तु मोक्षो ज्ञानेन द्वितीयो रागसंक्षयात् । कृच्छक्षयान्तृतीयस्तु व्याख्यातं मोक्ष लक्षणम् ॥'' आगे चलकर विष्णु जी ने यह भी स्पष्ट किया है कि यह ग्रन्थ सूत्रों में लिखा गया था, जिसमें ईश्वर की वही स्थिति पायी जाती है जो सां. सू. में । तत्त्व समास पर पञ्चशिख के भाष्य लिखने का समर्थन माठरवृत्ति (पृ. 2) ने इस प्रकार किया है - ''समाससूत्रमालम्ब्य व्याख्यां पञ्चशिख च । '' यही बात भाव गणेश ने दुहरायी है ।[95]

कुछ लोगों का कहना है कि इस ग्रन्थ से किसी लेखक ने उद्धरण नहीं दिए हैं, न किसी ने इसका उल्लेख ही किया है, अतः यह अर्वाचीन रचना है । किन्तु यह अनुचित है तत्त्वसमास की भाषा और शब्द भी इसकी प्राचीनता का समर्थन करते हैं । अतः इसके प्राचीन होने में कोई शंका नहीं रह जाता ।

सर्वोपकरणी में दिये गये पाठ के अनुसार तत्त्व समास में 22 सूत्र है, जो इस प्रकार हैं ।[96]

1.	अष्टौप्रकृतयः	2.	षोडशविकाराः
3.	पुरुषः	4.	त्रैगुण्यसंचरः
5.	प्रतिसंचरः	6.	अधिभूतम्
7.	अध्यात्मम्	8.	अधिदैवम्
9.	पञ्चाभिबुद्धयः	10.	पञ्चकर्मयोनयः
11.	पञ्चावयवाः	12.	पञ्चकर्मात्मानः
13.	पञ्चपर्वाऽविद्या	14.	अष्टविंशतिधाशक्तिः
15.	नवधातुष्टि	16.	अष्टधासिद्धिः
17.	दशमूलिकार्थाः	18.	अनुग्रहसर्गः
19.	चतुर्दशविधोभूतसर्गः	20.	त्रिविधोबन्धः
21.	त्रिविधोमोक्षः	22.	त्रिविधं प्रमाणम् एतद्

यथातथ्यं एतत्सम्यग्ज्ञात्वा कृतकृत्यः स्यात्, नपुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभिभूयते ।''

प्राय: सभी टीका कारों ने चतुर्थ सूत्र के दो खण्ड करके "त्रैगुण्यम्" और "संचर:" पाठ मानकर ग्रन्थ में कुल 23 सूत्र कर दिये हैं । सांख्य क्रम दीपिका में कहा गया है कि ग्रन्थ में 25 सूत्र हैं, पर लिखे केवल 24 ही हैं । यह टीका 19वें सूत्र को छोड़ देती है, उसकी जगह "त्रिविधो धातु सर्ग:" लिखती है जो अशुद्ध पाठ लगता है । इसने एक न्याय सूत्र "त्रिविधं दुखम्" भी जोड़ा है । तत्त्वयाथार्थ्य-दीपिका, सांख्य क्रमदीपिका का ही समर्थन करती है, पर वह "त्रिविधोधातुसर्ग:" पाठ परिवर्तन स्वीकार नहीं करती है। यह अन्तिम वाक्य "एतद्याथातथ्यम्" को सूत्र मानती है । क्षेमेन्द्र भी अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि ग्रन्थ में 25 सूत्र हैं, पर लिखते समय क्रमदीपिका का अनुसरण करते हैं ।[97]

तत्त्वसमास में सांख्य के तत्त्वों की गिनती सूत्रों द्वारा की गयी है । कुछ टीकाकारों ने सां. का. (70) में आये "षष्टितन्त्र" शब्द की सार्थक व्याख्या देते हुए उक्त तत्त्वसंख्या का निर्देश निम्नलिखित ढंग से करने का प्रयास किया है । सम्भव है कि इन टीकाकारों ने इस विषय में तत्त्वसमास से सहायता ली हो । सर्वप्रथम भोज ने अपने राजवार्तिक सा. का. 70 में लिखा है -

प्रधानास्तित्वमेकत्वमर्थतत्त्वमथान्यथा ।
परार्थ्य च तथानैक्यं वियोगे योग एव च ॥
शेषवृत्तिरकर्तृत्वं मौलिकार्था: स्मृता दश ।
विपर्यय: पञ्चविद्यास्तथोक्ता नव तुष्टय: ॥
करणानामसामर्थ्यमष्टाविशंतिधा मतम् ।
इति षष्टि पदार्थानामष्टभि: सह सिद्धिभि: ॥

यह श्लोक सर्वोपकरणी और तत्त्व कौमुदी में उद्धृत मिलते हैं । सांख्यकारिका की एक हस्तलिखित प्रति में पूर्वोक्त प्रथम और दूसरे श्लोकों के बदले निम्नलिखित पाठ मिलता है । (दे. सरस्वती भवन पुस्तकालय)

पुरुष: प्रकृतिर्बुद्धिरहंकारो गुणास्त्रय: ।
तन्मात्रमिन्द्रियं भूतं मौलिकार्था: स्मृता दश ॥

परन्तु तत्वसमास की टीकाओं में मौलिकार्थों के लिए निम्नलिखित दूसरा श्लोक आता है ।[98]

अस्तित्त्वमेकत्वयथार्थवत्त्वं पारार्थ्यमेकत्वमकर्तृता च ।
योगे वियोगे वहव: पुमांस: स्थिति शरीरस्य तु शेषवृत्ति: ॥

वस्तुत: सांख्य सिद्धान्त की स्थापना में इस लघुकृति "तत्त्वसमास सूत्र" का अपना विशिष्ट स्थान है । चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, बनारस से 1918 में प्रकाशित सांख्य संग्रह में इस पर की गई 5 टीकाओं का संग्रह है ।[99]

1. सांख्य तत्त्व विवेचन -
2. तत्त्वयाथार्थ्यदीपन - भावगणेश
3. सर्वोपकारिणी
4. सांख्य सूत्र विवरण
5. तत्त्वसमास सूत्रवृत्ति (मदीपिका)

इसके अतिरिक्त कलकत्ता से 1890 में प्रकाशित हुई ''कपिल सूत्र विवरण'' नाम की एक और टीका इस पर प्राप्त होती है ।

सांख्य सूत्र –

सांख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादक अन्य ग्रन्थ ''सांख्य सूत्र'' है । किन्तु इसके कर्त्ता के सम्बन्ध में अनेक मत हैं । भारतीय परम्परा महर्षि कपिल को ही इसका कर्त्ता मानती है। ''तत्त्वसमाससूत्र'' की टीका ''सर्वोपकारिणी'' के अनुसार ''सांख्यसूत्र'' तथा ''तत्त्वसमाससूत्र'' दोनों ही सूत्र ग्रन्थों के कर्त्ता भिन्न-भिन्न कपिल हैं, परन्तु विज्ञान-भिक्षु के अनुसार दोनों ही ग्रन्थ समान कर्तृक हैं । सांख्य सूत्र के व्याख्याकार आचार्य अनिरुद्ध[100] तथा विज्ञानभिक्षु[101] इसको कपिल प्रणीत स्वीकार करके ही अत्यन्त श्रद्धापूर्वक इस पर अपनी-अपनी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । अपनी पुस्तक ''सांख्य दर्शन का इतिहास'' में पं. उदयवीर शास्त्री ने स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि वर्तमान उपलब्ध षडध्यायी सांख्य सूत्र ही महर्षि कपिल कृत मूल षष्टितन्त्र है । ईश्वर कृष्ण द्वारा की गई प्रतिज्ञा के अनुसार सांख्य सूत्र के साथ सांख्य कारिका का अद्‌भुत सादृश्य मिलता है । इन दोनों की तुलना के आधार पर ही उन्होंने अपने इस सिद्धान्त का स्थापना की है -

''यह निश्चित है कि उसने (ईश्वर कृष्ण ने) जिस ग्रन्थ का संक्षेप किया, वह वर्तमान सांख्य षडध्यायी ही है । इसी का प्राचीन नाम षष्टितन्त्र है ।[102]

किन्तु सांख्य सूत्र में आसुरि के शिष्य पञ्चशिख के मत भी उद्‌धृत किये गये हैं-

''आधेय शक्तियोग इति पञ्चशिख''[103]
''अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः''[104]

इसी प्रकार इसमें प्राप्त होने वाले कुछ सूत्र दूसरे ग्रन्थों से संगृहीत है । इसकी प्राचीनता तथा कपिल प्रणीत होने के विषय में सबसे अधिक सन्देहास्पद बात यह भी है कि आचार्य शंकर इत्यादि ने सांख्य कारिकाओं को उद्‌धृत किया है, किन्तु सूत्रों को नहीं । पं. वाचस्पति मिश्र ने तो पञ्चशिख तथा वार्षगण्य के मतों को तो अपनी सांख्य तत्त्वकौमुदी में उद्‌धृत किया है, पर कपिल सूत्रों का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है । 14वीं शताब्दी के माधवाचार्य ने भी अपने सर्वदर्शन संग्रह में केवल कारिकाओं को ही उद्‌धृत किया है, सांख्य सूत्रों को नहीं । इससे सांख्य सूत्र की अर्वाचीनता तथा कपिल कर्तृत्त्व के निरास की सिद्धि होती है।

किन्तु किसी ग्रन्थ में उल्लिखित होना मात्र ही उसकी प्राचीनता की सिद्धि में हेतु नहीं है । अनेक ऐसे आचार्य हैं, जिनका परवर्ती आचार्यों द्वारा उल्लेख नहीं हुआ, फिर भी उनका पूर्वस्थायित्व असंदिग्ध ही रहता है । इसीलिए डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र ने उपलब्ध वर्तमान सांख्य सूत्र में अनेक प्रक्षिप्तांसों को बतलाया है जो उसकी प्राचीनता में बाधक है । सांख्य सूत्र का अन्य ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक एवम् समीक्षात्मक अध्ययन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि - यद्यपि सम्पूर्ण सांख्य सूत्र महर्षि कपिल प्रणीत नहीं हैं, तथापि इसमें अधिकांश मूल भाग अवश्य ही निहित है -

"जिन सूत्रों के आधार पर सांख्यसूत्र को अर्वाचीन सिद्ध किया जाता है, वे प्रक्षिप्त हैं । वे कपिलकृत नहीं है । परवर्ती काल में अन्यों के द्वारा ठूँस दिये गये हैं ।"[105]

"यद्यपि वर्तमान काल में सांख्य सूत्र समूचे के समूचे आदि विद्वान कपिल की रचना नहीं कहे जा सकते, इसमें अनेक सूत्र निःसन्देह प्रक्षिप्त है, तथापि यह बात असंदिग्ध है कि महर्षि कपिल की कृति इन्हीं सूत्रों में विलीन अथवा समाविष्ट है ।"[106]

सांख्य सूत्र के टीकाकारों में सर्वप्रथम 15वीं शताब्दी के आचार्य अनिरुद्ध है। यह अनिरुद्धवृत्ति एक अत्यन्त प्रमाणिक तथा वैदुष्यपूर्ण टीका है । विज्ञान-भिक्षु ने अपने सांख्य प्रवचन भाष्य में सांख्य सूत्र की विशद व्याख्या प्रस्तुत की है । इसी तरह महादेव वेदान्ती द्वारा प्रस्तुत वृत्ति सार भी सांख्य सूत्र की प्रसिद्ध व्याख्या है ।[107]

जैन विद्वान सिद्धर्षि और सांख्यसूत्र -

प्रसिद्ध जैन विद्वान सिद्धर्षि ने "उपमिति भवप्रपञ्चकथा" नामक अपने ग्रन्थ में अनेक दार्शनिक मतों का प्रसंगवश निरूपण किया है ।[108] उसमें सांख्य मत का भी उल्लेख है । सिद्धर्षि के सन्दर्भ में सांख्य षडध्यायी का 1/61 सूत्र इस प्रकार सन्निहित है -

"सत्त्वरजस्तमसः साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेः .... महान् .... बुद्धिरित्यर्थः । बुद्धेश्चाहंकारः । .... अहंकारादेकादशेन्द्रियाणि .... पञ्चतन्मात्राणि .... तेभ्यः .... पञ्चमहाभूतानि । .... पुरुषः .... ।"

सांख्य सप्तति की 22वीं आर्या में तत्त्वों की उत्पत्ति का जो क्रम निर्देश किया गया है, वहाँ अहंकार से "षोडशक गण" की उत्पत्ति कही है । इन्द्रिय और तन्मात्राओं का पृथक् निर्देश नहीं है, जैसा कि सूत्र में उपलब्ध है । इसके अतिरिक्त सिद्धर्षि के ग्रन्थ की प्रथम पंक्ति, उक्त सूत्र के साथ सर्वथा समानता रखती है, जबकि सांख्य सप्तति में उसका सर्वथा अभाव है । "कथा" - सन्दर्भ की तुलना के लिए सांख्य सूत्र इस प्रकार है -

"सत्त्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेर्महान् । महतोऽहंकारः अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि, उभयमिन्द्रियम् । तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुषः ।"

यह तुलना निश्चय करा देती है कि सिद्धर्षि ने उक्त सन्दर्भ, षडध्यायी के इस सूत्र के आधार पर ही लिखा है ।

सिद्धर्षि ने अपने ग्रन्थ को 962 विक्रम संवत् में समाप्त किया था । इसके अनुसार ख्रीस्ट नवम् शतक के अन्त में उक्त षडध्यायी सूत्र की विद्यमानता का निश्चय होता है । यह समय निश्चित ही सायण से कई सदी पूर्व है ।

डॉ. कीथ ने लिखा है कि "उपमिति भव प्रपञ्चकथा" में जो सांख्य सूत्र उद्धृत है - वे षडध्यायी में उपलब्ध नहीं होते ।[109] परन्तु उक्त तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ. कीथ के लेख की यथार्थता कहाँ तक है । कीथ जैसे विद्वान के लिए इतना असत्य लिखना, सचमुच ही लज्जाजनक होना चाहिए ।[110]

सांख्य कारिका –

सांख्य साहित्य में सांख्य कारिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, प्रचलित एवम् प्राचीन कृति है । विभिन्न सम्प्रदाय के मौलिक ग्रन्थों तथा भाष्य इत्यादि में इसका ही उद्धरण दिये जाने के कारण इसके महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है । यह छोटी सी कृति ही समस्त सांख्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली है । इन कारिकाओं की संख्या के विषय में पर्याप्त मत-भेद हैं । यद्यपि कनक सप्तति, हिरण्य सप्तति, सांख्य सप्तति के अनुसार इसमें 70 कारिकायें ही होनी चाहिए तथा 72वीं कारिका में दिये गये स्वयं ईश्वर कृष्ण के स्पष्ट कथन के अनुसार भी इसमें 70 कारिकायें होनी चाहिए । किन्तु वर्तमान उपलब्ध कृति में 72 कारिकायें विद्यमान है । आचार्य गौडपाद का भाष्य केवल 69 कारिकाओं पर ही प्राप्त है । इसी आधार पर पाश्चात्य विद्वान विल्सन तथा भारतीय विद्वान् लोकमान्य पं. बाल गङ्गाधर तिलक एक कारिका लुप्त हुई स्वीकार करते है लोकमान्य तिलक के अनुसार आचार्य गौडपाद द्वारा 61वीं कारिका का प्रस्तुत भाष्य दो कारिकाओं का है । कारिका 62 लुप्त हो गई है, किन्तु उसका भाष्य सुरक्षित है । उनके अनुसार लुप्त हुई कारिका का स्वरुप इस प्रकार होना चाहिए -

करणमीश्वरमेके ब्रुवते काले परे स्वभाव वा ।
प्रजाः कथं निर्गुणतो व्यक्तः कालः स्वभावश्च ॥

श्री तिलक जी की दृष्टि में किसी असहिष्णु ने इस कारिका को मूल भाग से पृथक कर दिया, किन्तु कारिका के भाष्य को वह न निकाल सका । म. म. डॉ. उमेश मिश्र ने बद्ध-मुक्त-ज्ञ रूप त्रिविध-पुरुष स्वीकार किया है । सांख्य कारिका 10, 11, 19 में पुरुष

के जिस स्वरूप का वर्णन किया गया है वह "ज्ञ पुरुष" है । किन्तु सांख्य कारिका 17 में बद्ध पुरुष की सिद्धि की गई है, ज्ञ की नही । इसी ज्ञ पुरुष को सिद्ध करने वाली कारिका 17 के बाद एक कारिका का लोप वे स्वीकार करते हैं, किन्तु डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र ने युक्तियों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वर्तमान सांख्यकारिका का स्वरूप मूल एवम् प्रमाणिक ही है । इन उपलब्ध 72 कारिकाओं में न तो कोई कारिका लुप्त हुई है और न कोई प्रक्षिप्त ही है ।[111]

समग्र सांख्य सिद्धान्तों को अति संक्षेप में प्रस्तुत करने के कारण सांख्य कारिका की भाषा सूत्रवत् एवम् सारगर्भित है । स्वल्पाक्षरों में निबद्ध होने के कारण ही यह अत्यन्त गम्भीर तथा दुर्बोध है । इसीलिए इसके गूढ़ार्थ को विवृत करने के लिए विविध प्रकार के प्रयास किये गये हैं । इनमें आचार्य माठर का सर्वप्रथम उद्योग है । जिसकी रचना सांख्य कारिका के प्रणयन के कुछ समय पश्चात् ही हुई । इस प्रकार उपलब्ध टीकाओं में "माठर वृत्ति" सबसे प्राचीन है । सांख्य कारिका की एक और भी अधिक प्राचीन टीका बतलायी जाती है, जो आज प्राप्त नहीं होती और सम्भवत: इसी टीका का चीनी भाषा में अनुवाद षष्ठ शतक के बौद्ध भिक्षु परमार्थ ने किया तथा इसी की संस्कृत छाया पं. अय्यास्वामी शास्त्री द्वारा प्रस्तुत की गई । अनुयोग द्वार सूत्र, परमार्थकृत चीनी अनुवाद इत्यादि में इसी का नाम कनगसत्तरी, कनकसप्तति, हिरण्यसप्तति, सांख्यसप्तति इत्यादि है । किन्तु डॉ. वेल्वल्कर ने हिरण्य सप्तति को विन्ध्यवास कृत सांख्य कारिका की टीका स्वीकार की है । इनकी इस मान्यता का मुख्य आधार "योग सूत्र भोजवृत्ति" में उल्लिखित विन्ध्यवास का ही कथन है–

"सत्त्वतप्यत्वमेक पुरुषतप्यत्वम्"
"बिम्बे प्रतिबिम्बमानच्छायासदृशच्छायान्तरोद्‌भव: प्रतिबिम्बशब्देनोच्यते" भोजवृत्ति 4/22

किन्तु डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र के अनुसार डॉ. वेल्वल्कर का मत समीचीन नहीं है–

"इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि हिरण्य सप्तति विन्ध्यवास कृत व्याख्या का नाम नहीं, अपितु सांख्य सप्तति या सांख्यकारिका का ही नामान्तर रहा होगा।[112]

माठर वृत्ति के अनन्तर सांख्यकारिका की युक्तिदीपिका, गौडपादभाष्य, जयमङ्गला, सांख्य तत्त्व कौमुदी, सांख्य चन्द्रिका, सांख्य-तरु वसन्त विद्वत्तोषिणी, सुषमा, किरणावली, सांख्य तत्त्वदिवाकर, सांख्यतत्त्व विभाकर इत्यादि अति प्रसिद्ध टीकायें हैं । टीकाओं की विस्तृत शृङ्खला से यह स्पष्ट रुप से प्रतीत होता है कि सांख्य दर्शन बहुत ही प्रसिद्ध एवम् प्रचलित शास्त्र है और इसका अत्यन्त विशद और गहन अध्ययन किया गया है। विद्वत्समाज में इसका बहुत ही अधिक सम्मान है ।[113]

सांख्य दर्शन की प्रमुख अवधारणायें –

प्रकृति का स्वरूप –

सांख्य दर्शन द्वैतमत का प्रतिपादन करता है । इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति एवम् पुरुष दो ही मूल तत्त्व हैं । सांख्य प्रकृति की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है कि वह तत्त्वों का अत्यधिक सम्मिश्रण है जो सदा परिवर्तित होता रहता है । कार्य-कारण के सिद्धान्त से अनुमान द्वारा यह परिणाम निकलता है कि इस अनुभाविक विश्व का परम (अन्तिम) आधार अव्यक्त प्रकृति है । सांख्य कारिका में अव्यक्त प्रकृति के अस्तित्त्व को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी गई हैं –

1. व्यक्तिगत पदार्थों का परिणाम परिमित है जो कुछ परिमित है वह अपने से बाह्य किसी वस्तु पर निर्भर है । इसलिए सान्त-सान्त के रूप में विश्व का उद्भव स्थान नहीं हो सकता ।

2. सब व्यक्तिगत पदार्थ कुछ व्यापक लक्षण रखते हैं, और इससे यह उपलक्षित करते हैं कि उन सबका कोई एक सामान्य उद्भव स्थान होना चाहिए, जहाँ से वे सब निकलते हैं । सांख्य यह नहीं मानता कि भिन्न-भिन्न तत्त्व एक दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न हैं ।

3. वस्तुओं के विकास में अपने को व्यक्त करता हुआ एक क्रियात्मक तत्त्व अवश्य है ।

4. कार्य-कारण से भिन्न है और इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि सान्त और सोपाधिक जगत् अपना कारण अपने आप है ।

5. विश्व का एकत्व प्रकट है जिससे एक ही कारण का निर्देश मिलता है ।[114] पदार्थ एक निश्चित अवस्था में विकसित होते हैं तथा विलीन होते हैं । जगत् को प्रकृति का परिणाम कहा गया है; और प्रकृति जगत् का कारण है । ऐसी कोई वस्तु विकसित नहीं हो सकती जो प्रारम्भ में किसी रूप में अन्तर्निहित न हो । जबकि प्रत्येक कार्य का कारण है, प्रकृति का कोई कारण नहीं है ।[115] बल्कि वह सब कार्यों का कारण है और उन्हीं से उसका अनुमान किया जाता है ।[116] इसे प्रधान नाम दिया गया है, क्योंकि यह सब कार्यों का आधार है, ब्रह्मा अथवा वह जो बढ़ता है ।[117]

उत्पन्न पदार्थों के कारण होते हैं, किन्तु प्रकृति का कारण नहीं है । उत्पन्न पदार्थ पराधीन है, किन्तु प्रकृति स्वाधीन है । व्यास प्रकृति की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि- ''प्रकृति वह है जो कभी नहीं है और न ही अभावात्मक है, जिसका अस्तित्व है और नहीं भी है, जिसके अन्दर कोई अभाव नहीं है, जो अव्यक्त है, विशेष लक्षण से रहित है और

सबकी मुख्य पृष्ठ भूमि है ।[118] डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में प्रकृति इतनी सत् नहीं है जितन कि शक्ति है । तीनों गुणों की साम्यावस्था होने के कारण यह समस्त भौतिक तथा मानसिव परिवर्तनों का आधार है । यह विशुद्ध क्षमता है । हम प्रकृति तथा गुणों के यथार्थ स्वरू को नहीं जानते, क्योंकि हमारा ज्ञान दृश्यमान जगत् तक सीमित है । यह शब्द तथा स्पश से रहित है, जो क्रियात्मक रूप में एक सीमा है जिससे परे हम नहीं जा सकते । यह आनुभविव रूप में एक अमूर्त्तभाव है, केवल नाम मात्र है । किन्तु इसकी सत्ता को समस्त सृष्टि क पूर्व भूमिका के रूप में स्वीकार करना ही होगा ।[119]

पुरुष का स्वरूप –

सांख्य सिद्धान्त में प्रकृति एवम् पुरुष दो ही मूल तत्त्व है । प्रकृति अचेतन तथा पुरु चेतन । पुरुष के संयोग से परिणामिनी प्रकृति से समस्त सृष्टि का आविर्भाव होता है । यह दोनों तत्त्व नित्य है तथा इनसे भिन्न सभी पदार्थ, प्रकृति के विकार भूतअनित्य हैं । अपने कारण रूप मूल प्रकृति में विलय को प्राप्त करते हैं – ''प्रकृतिपुरुषयोरन्यत्सर्वंमनित्यम्''[12] साथ ही यह पुरुष नामक तत्व ही परिणाम रहित, अविचल, कूटस्थ है । इसके अतिरिक्त सभी पदार्थ परिणाम को प्राप्त करने वाले हैं। प्रकृति तो सततपरिणामिनी है ही । यही पुरुष तत्त्व अन्य दर्शनों में आत्मा नाम से संबोधित किया गया है । यह पुरुष शरीर इन्द्रिय. बुद्धि प्रकृति इत्यादि से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व है –

''शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्''[121]
''देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात्''[122]

यह पुरुष अनादि, अज एवम् नित्य है । वह विशुद्ध अर्थात् अपरिणामी तथा विकार रहित है । किसी कारण से उसकी उत्पत्ति नहीं होती । अतः वह अहेतुमान है । साथ ही वह स्वयं किसी परिणाम को भी प्राप्त नहीं करता और न तो किसी कार्य को ही उत्पन्न करता है । इसीलिए पुरुष को अविकृति तथा अप्रकृति कहा गया है ।[123]

पुरुष त्रिगुणातीत है । रजो गुण से विरहित होने के कारण ही वह अपरिणामी है । त्रिगुण का अभाव होने से उसमें सुख-दुःख-मोह का सर्वथा अभाव है । सुख-दुःख, राग-द्वेष, मोह, लाभ, क्रोध इत्यादि बुद्धि के ही भाव हैं । पुष्कर पत्रवत् वह स्वभावतः इन समस्त विकारों से विनिर्मुक्त है । देश, काल, कारण सभी बन्धनों से रहित हैं । प्रकृति की परिधि से परिच्छिन्न नहीं है । अविद्या इसका स्वरूप नहीं है; और न ही उसको बन्धन गत करने में समर्थ है ।

''नाविद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात्''[124]
''नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य''[125]

इसलिए त्रिविध दुःखों का अभाव होने से पुरुष नित्य मुक्त है । उसका बन्धन नहीं है - ''नित्यमुक्तत्वम्'' (सांख्य सूत्र - 1/162)

पुरुष नित्य, बुद्ध, सर्वदा ज्ञातारूप, स्वयं प्रकाश है । वह प्रमाता है, प्रमेय नहीं। चैतन्य ही पुरुष का स्वरूप है । वह चेतनता उसका गुण है अथवा धर्म नहीं है क्योंकि वह निर्गुण है ।[126] वेदान्त के समान यह पुरुष आनन्द रूप नहीं है । क्योंकि आनन्द और सुख तो बुद्धि का धर्म है । साथ ही एक ही तत्त्व के चैतन्य एवम् आनन्द दो भिन्न स्वरूप नहीं हो सकते ।[127] अतः पुरुष चेतनरूप ही है । वह निर्लिप्त असङ्ग, आसक्ति रहित है ।[128] वह निष्क्रिय एवम् अकर्त्ता है । अतः सभी प्रकार के कर्मों का उसमें अभाव है । वह उदासीन मध्यस्थ, केवल साक्षी एवम् चेतन द्रष्टा है ।[129]

''औदासीन्यं चेति'' सा. सू. 1/163

इस प्रकार यह पुरुष सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुणों से रहित व्यापक, विवेकी, असंहत, निरवयव, अनाश्रित, राजतन्त्र, अलिङ्ग, अहेतुमान्, नित्य, निष्क्रिय, अविषय, असामान्य, चेतन एवम् अप्रसवधर्मा है । यह अतीन्द्रिय परोक्ष एवम् अतिसूक्ष्म तथा प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न है ।[130] यही नित्य शुद्ध-बुद्ध-युक्त स्वभाव वाला पुरुष अनादि अविद्या के कारण प्रकृति के साथ सम्बन्धाप्त कर लेता है तथा प्रकृति प्रदत्त समस्त विषयों का उपभोग करता हुआ सुखी-दुःखी होता है । पुरुष का यह भोक्तृत्व अविद्याजन्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही होता है । यथार्थतः नहीं[131] -

''न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।''
सां. सू. 1/19

डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में - ''सांख्य का पुरुष सम्बन्धी विचार उपनिषदों की आत्मा सम्बन्धी-धारणा द्वारा निर्धारित है । इसका न आदि है, न अन्त है, यह गुणों से रहित (निर्गुण) है, सूक्ष्म है, सर्वव्यापी है, एक नित्य द्रष्टा है, इन्द्रियातीत तथा मन की पहुँच से परे है, बुद्धि के क्षेत्र से परे है, काल, देश तथा कार्य-कारण की शृंखला से भी परे है, जो इस अनुभाविक जगत् की विचित्रता का ताना-बाना बुनते हैं । यह अजन्मा है और कुछ उत्पन्न भी नहीं करता। इसकी नित्यता न केवल सर्वदा स्थायित्व में है, बल्कि अखण्डता तथा पूर्णता भी है । यह चिद्रूप है, यद्यपि यह व्यवहारिक अर्थों में सब वस्तुओं को नहीं जानता, क्योंकि व्यवहारिक बोध केवल शारीरिक सीमाओं के द्वारा ही सम्भव है । जब आत्मा इन सीमाओं से मुक्त होती है तो इसे परिवर्तन का कोई बोध नहीं होता, बल्कि तब यह अपने स्वरुप में रहती है । पुरुष प्रकृति से सम्बद्ध नहीं है । यह केवल दर्शक है, अकेला, उदासीन, निष्क्रिय, दर्शक है । पुरुष तथा प्रकृति के लक्षण स्वभाव से परस्पर प्रतिकूल हैं । प्रकृति अचेतन है, जबकि

पुरुष सचेतन है । प्रकृति क्रियाशील और सदा संक्रमणशील है, जबकि पुरुष अकर्त्ता है पुरुष बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर रहने वाला है, जबकि प्रकृति परिवर्तन सहित निरन्तर रहने वाली है । प्रकृति त्रिगुणात्मक है, जबकि पुरुष निर्गुण है । प्रकृति प्रमेय (विषय) है जबकि पुरुष प्रमाता (विषयी) है ।[132]

सुक्ष्म शरीर –

सांख्य सिद्धान्त में सूक्ष्म शरीर का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है । पुरुष नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव वाला तथा चेतन है । अनादि अविद्या के कारण प्रकृति के साथ उसका संयोग होता है । फलस्वरूप निष्क्रिय, उदासीन, निर्लिप्त, अकर्त्ता होने पर भी वह विविध प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करने वाला बनता है । अनेक प्रकार के विषयों का उपभोग करता हुआ वह सुखी दु:खी होता है -

''अकर्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत्''[133]

''अविवेकाद्वा तत्सिद्धे कर्तुः फलावगमः''[134]

स्वभावत: समस्त बन्धनों से मुक्त होते हुए भी वह बन्धन का अनुभव करता है, तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में संसरण करता है । पुरुष में इन सभी आगन्तुक धर्मो की स्थिति अविवेक के कारण होती है । वह सूक्ष्म शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है और इस अभेद प्रतीति के कारण तद्गत समस्त धर्मों के साथ उसका समबन्ध हो जाता है ।

प्रकृति के ही विकार महत्त्व, अहंकार, एकादशेन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र रूप अष्टादश तत्त्वों का समुदाय यह सूक्ष्म शरीर है । इसी की ''लिङ्गशरीर'' भी संज्ञा है । सृष्टि के प्रारम्भ में प्रत्येक पुरुष के लिए यह सूक्ष्म शरीर प्रकृति द्वारा उत्पन्न किया जाता है । यह नित्य पुरुष के कैवल्य प्राप्ति तक रहने वाला एवम् अप्रतिहतगतिवाला, शिला में भी प्रवेश करने की सामर्थ्य रखने वाला है । धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य रूप अष्टविध भावों से समन्वित है । भोग रहित यही सूक्ष्म शरीर संसरण करता है अर्थात् विषय भोग के लिए षाड्कौशिक स्थूल शरीर की अपेक्षा होती है। अतएव यह सूक्ष्म शरीर गृहीत स्थूल शरीर का परित्याग तथा अन्य अभिनव स्थूल शरीरों के साथ सम्बन्ध को प्राप्त करता जाता है ।[135]

इस प्रकार यह सूक्ष्म शरीर ही संसरण करता है और इसके साथ तादात्म्य को प्राप्त कर पुरुष भी विभिन्न योनियों में संसरण करता है । पुरुषार्थ सम्पन्न करना ही सूक्ष्म शरीर का प्रयोजन है । यथा नट विविध रूप की वेशभूषा को धारण कर राम, दुष्यन्त, युधिष्ठिर इत्यादि रूप में प्रतीत होता है । उसी प्रकार प्रकृति की विभुत्व-शक्ति का संयोग प्राप्त कर

धर्म-अधर्म इत्यादि निमित्त तथा नैमित्तिक स्थूल शरीरों के साथ सम्बन्ध होने से स्थूल शरीर भी देव, मनुष्य पशु-पक्षी वनस्पति इत्यादि के स्वरूप वाला हो जाता है ।[136]

यही सूक्ष्म शरीर बुद्धि, अहंकार इत्यादि का आश्रय है। जिस प्रकार आधार पट इत्यादि के अभाव में चित्र तथा स्तम्भ आदि के अभाव में छाया की स्थिति नहीं हो सकती, उसी प्रकार आश्रय रूप सूक्ष्म शरीर के बिना बुद्धि इत्यादि भी नहीं रह सकते ।[137]

कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सुख-दु:ख राग द्वेष इत्यादि सब बुद्धि के ही धर्म हैं। किन्तु यह बुद्धि तत्त्व सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत ही है और सूक्ष्म शरीर के साथ पुरुष की तादात्म्य प्राप्ति है । अत: पुरुष में भी यह सभी भाव आ जाते हैं । यही पुरुष का बन्धन है और इसका हेतु अविद्या अथवा अविवेकख्याति ही है । अत: विवेक ख्याति से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है । जब तक पुरुष का सूक्ष्म शरीर के साथ सम्बन्ध बना हुआ है, तब तक उसका बन्धन है और इसलिए विभिन्न योनियों में संसरण करता रहता है तथा सुख-दु:ख रूप अनेक प्रकार के विषयों का उपभोग करता है । किन्तु जैसे ही विवेकख्याति की प्राप्ति होती है वह पुरुष अविद्याजन्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है । श्रद्धापूर्वक दीर्घकाल तक निरन्तर रूप से तत्त्वों के साक्षात्कार के लिए की गई सतत साधना से ''सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति'' या ''प्रकृति पुरुष विवेकज्ञान'' की उत्पत्ति होती है । इस ज्ञान के उदय से पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप का दर्शन कर लेता है । परिणामिनी, सुख दु:ख मोह स्वरूपा प्रकृति एवम् बुद्धि इत्यादि से भिन्न, मैं अपरिणामी, सुख-दु:ख मोहरहित, निष्क्रिय, अकर्त्ता, अभोक्ता पुरुष हूँ, चिन्मात्र ही मेरा स्वरूप है ऐसी प्रतीति पुरुष को हो जाती है ।[138]

इस प्रकार भेद की प्रतीति होते ही पुरुष सभी बन्धनों से रहित हो जाता है। त्रिविध दु:खों का उसमें पूर्णत: अभाव हो जाता है । वह निष्क्रिय, अकर्त्ता, अभोक्ता, उदासीन द्रष्टामात्र रह जाता है । चिन्मात्र अपनी केवली दशा को पुरुष प्राप्त कर लेता है यही पुरुष का कैवल्य है ।

अत: सूक्ष्म शरीर के साथ सम्बन्ध होने से ही पुरुष का बन्धन एवम् संसरण है । इस सम्बन्ध के समाप्त होते ही पुरुष कैवल्य प्राप्त कर लेता है । यथार्थ में इस सूक्ष्म शरीर का ही बन्धन, संसरण एवम् मोक्ष होता है । पर अविवेक के कारण इनका पुरुष में उपचार होता है-

''बन्धोविपर्ययात्'' सा. सूत्र 3/24
''नि:सङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात्'' सा. सूत्र 6/27

संसार और मोक्ष के विषय में सांख्य के विचार –

अनादि अविद्या के फलस्वरूप पुरुष और प्रकृति में संयोग होता है । प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है । जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग में आती है तभी संसार की

उत्पत्ति होती है । प्रकृति और पुरुष का संयोग उस तरह का साधारण संयोग नहीं है जो भौतिक द्रव्यों में (जैसे रथ और घोड़े में) होता है । यह एक विलक्षण प्रकार का सम्बन्ध है । प्रकृति पर पुरुष का प्रभाव वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी विचार का प्रभाव हमारे शरीर पर । जब तक दोनों में किसी तरह सम्बन्ध नहीं होता तब तक संसार की सृष्टि नहीं हो सकती । अकेला पुरुष सृष्टि नहीं कर सकता, क्योंकि वह निष्क्रिय है । इसी प्रकार अकेली प्रकृति भी सृष्टि नहीं कर सकती क्योंकि वह जड़ है । प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होती है, तभी सृष्टि का उद्गम होता है । अर्थात् प्रकृति और पुरुष इन दोनों के सहकार से ही विषय जगत् की उत्पत्ति होती है । यहाँ प्रश्न उठता है - कि प्रकृति और पुरुष तो एक दूसरे से भिन्न और विरुद्ध धर्मक है । तब फिर उनका पारस्परिक सहयोग कैसे सम्भव है ? इसके उत्तर में सांख्य कहता है - जिस प्रकार एक अन्धा और लंगड़ा (अन्ध-पंगु) ये दोनों आपस में मिलकर एक दूसरे की सहायता से जंगल पार कर सकते हैं, उसी प्रकार जड़ प्रकृतिं और निष्क्रिय पुरुष, ये दोनों परस्पर मिलकर एक दूसरे की सहायता से अपना कार्य सम्पादित कर सकते हैं ।[139] प्रकृति दर्शनार्थ (ज्ञात होने के लिए) पुरुष की अपेक्षा रखती है और पुरुष कैवल्यार्थ (अपना स्वरूप पहचानने के लिए) प्रकृति की सहायता लेता है ।

सृष्टि के पूर्व में तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं । प्रकृति और पुरुष का संयोग होने से गुणों की साम्यावस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है, जिसे ''गुण-क्षोभ'' कहते हैं। पहले रजोगुण जो स्वभावतः क्रियात्मक है, परिवर्तनशील होता है । तब उसके कारण और गुणों में भी स्पनन्दन होने लगता है । परिणामस्वरूप प्रकृति में एक भीषण आन्दोलन उठता है, जिसमें प्रत्येक गुण दूसरे गुणों पर आधिपत्य जमाना चाहता है। क्रमशः तीनों गुणों का पृथक्करण और संयोजन होता है और न्यूनाधिक अनुपातों में उनके संयोगों के फलस्वरूप नाना प्रकार सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं ।[140] इस प्रकार एक ही प्रकृति समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति होती है । उससे व्यक्त होने वाले मुख्य 23 तत्त्व हैं इस सम्पूर्ण सृष्टि का मूल होने के कारण ही इसको मूल कारण प्रकृति परम अव्यक्त कहते हैं । प्रकृति से समुद्भूत होने वाला सर्वप्रथम तत्त्व महत् तत्त्व अथवा बुद्धि है । महत्तत्व से अहंकार एवम् तामस अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध संज्ञक पञ्चतन्मात्राओं अथवा सूक्ष्म महाभूतों तथा सात्त्विक अहंकार से मन सहित एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है । पुनः सूक्ष्म पञ्च तन्मात्रों से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी रूप पञ्च स्थूलभूतों की अभिव्यक्ति होती है । इनमें पञ्च तन्मात्राओं की संज्ञा अविशेष, सूक्ष्मभूत है तथा सुख दुःख मोह प्रदान करने के कारण आकाश इत्यादि महाभूतों को विशेष, स्थूल महाभूत कहते हैं ।

इस प्रकार पुरुष के संयोग से एक ही प्रकृति से सम्पूर्ण सृष्टि का विकास होता है। इनमें प्रकृति सभी कार्यों का मूल होने के कारण केवल प्रकृति है। महत्तत्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रायें यह सात तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करने के कारण प्रकृति तथा स्वयं दूसरों से उद्‌भूत होने के कारण विकृति भी है। एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्चस्थूल महाभूत, ये षोडश तत्त्व दूसरों से आविर्भूत होने के कारण केवल विकृति ही कहे जाते हैं।[141]

सांख्य दर्शन में मोक्ष केवल प्रतीति मात्र है, क्योंकि बन्धन का सम्बन्ध पुरुष के साथ है ही नहीं। बन्धन और मुक्ति पुरुष और प्रकृति के संयोग तथा वियोग को बतलाते हैं, जो अभेद तथा भेद ज्ञान का परिणाम है। प्रकृति पुरुष को बन्धन में नहीं डालती है[142] पुरुष तो पाप और पुण्य दोनों के विरोध में सर्वथा स्वतन्त्र हैं।[143] पुरुष अज एवम् नित्य है। चिन्मात्र उसका स्वरूप है, गुण अथवा धर्म नहीं। त्रिगुणातीत होने से वह स्वरूपतः दुःखों से विरहित, असंभिन्न है। त्रिविध दुःखों का उसमें नितान्त अभाव है। पुष्कर पत्रवत् वह राग, द्वेष, मोह, लोभ, क्रोध इत्यादि समस्त विकारों से रहित, निर्लिप्त है। वह कारण रहित, अपरिणामी, निर्विकारी, कूटस्थ, निरवयव, असंहत, विवेकी, स्वतन्त्र, अलिङ्ग, अविषयी, असामान्य विभु एवम् व्यापक है। देशकाल, कारण सभी बन्धनों से पुरुष विहीन है। प्रकृति की परिधि से वह अपरिच्छिन्न, विनिर्मुक्त है वह निष्क्रिय एवम् अकर्त्ता है।[144] अतः सभी प्रकार के कर्मों का उसमें पूर्णतः अभाव है। वह असङ्ग उदासीन मध्यस्थ, साक्षी, द्रष्टा चेतन मात्र है। इसके विपरीत प्रकृति त्रिगुणात्मिका, परिणामिनी, प्रसवधर्मा, सुख-दुःख मोह रूप है। इसलिए पुरुष का न तो बन्धन होता है, न संसरण और न मोक्ष ही। अपितु विविध पुरुषों के आश्रय में रहने वाली प्रकृति का ही बन्धन संसरण एवम् मोक्ष होता है।[145]

फिर भी, स्वरूपतः अबद्ध मुक्त होते हुए भी पुरुष अपने को बंधा हुआ मानता है। अनादि अविद्या के कारण द्रष्टा, अविषय चेतन पुरुष दृश्या भोग्या विषय रूप अचेतन प्रकृति के साथ सम्बन्ध प्राप्त कर तद्‌गत समस्त धर्मों को अपने में उपचरित करके बन्धनगत होता है, जन्म-मृत्यु के चक्र में आता है तथा प्रकृति प्रदत्त विषयों का उपभोग करता है एवम् इस प्रकार सुख दुःख इत्यादि का अनुभव करता है। यद्यपि सुख दुःख इत्यादि बुद्धि के ही धर्म है, तथापि उसमें प्रतिबिम्बित होता हुआ पुरुष उन सभी को अपने लिए मान लेता है[146] जैसे स्वच्छ स्फटिक मणि जपाकुसुम के सान्निध्य से स्वयं भी उपरञ्जित हो जाता है वैसे ही पुरुष भी बुद्धि में रहने वाले सुख दुःख मोह इत्यादि भावों का अनुभव करता है। प्रकृति के ही विकार स्वरुप महत्तत्व, अहंकार एकादश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र रूप अष्टादश तत्त्व निर्मित सूक्ष्म लिङ्ग शरीर का ही संसरण होता है। परन्तु अविद्या के कारण इस सूक्ष्म शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित कर स्वयं भी संसरण करता है और विविध प्रकार के विषयों का उपभोग करता है तथा बन्धन का अनुभव करता है। इस प्रकार पुरुष के लिए भी बन्धन,

संसरण एवम् मोक्ष कहा जाता है । किन्तु स्वरूपतः वह अबद्ध, समस्त बन्धनों से पृथक ही है ।

प्रकृति एवम् पुरुष के स्वरूप के सम्बन्ध में जब तक अविद्या विद्यमान है तब तक ही संसार की स्थिति है । प्रकृति पुरुष विवेक ख्याति, सत्त्व पुरुषान्यथाख्याति की उपलब्धि होते ही संसार का सर्वथा अभाव हो जाता है । वह पुरुष समस्त बन्धनों से विनिर्मुक्त हो जाता है । अज्ञान ही पुरुष का बन्धन तथा ज्ञान ही मोक्ष है । अतएव तत्त्वों के स्वरूप की श्रद्धापूर्वक सतत् साधना, अनवरत अभ्यास करने से संशयरहित, विपर्ययरहित तथा मिथ्या रहित समस्त पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाला विशुद्ध, केवल ज्ञान प्राप्त होता है और इस ज्ञान की उद्भूति से पुरुष में कर्त्तृत्व, स्वामित्व-भोक्तृत्व इत्यादि भावनाओं की निवृत्ति हो जाती है । परिणामिनी, कर्त्री, सुख दुःख मोहस्वरूपा प्रकृति से भिन्न मैं अपरिणामी सुख दुःख मोह रहित, असङ्ग चिन्मात्र पुरुष हूँ - ऐसी प्रतीति होती है । मै कर्ता नहीं हूँ ऐसा बोध हो जाता है ।[147]

यह अवबोध ही पुरुष को अविद्याजन्य प्रतिबिम्ब रूप मिथ्या बन्धन से विमुक्त करता है । पुरुष अपनी स्वतन्त्र, असङ्ग, केवली चिन्मात्र दशा को प्राप्त कर लेता है। प्रकृति पुरुष का यही परस्पर वियोग, पृथक् होना ही कैवल्य है ।[148]

पुरुष के भोग एवम् अपवर्ग द्विविध प्रयोजनों को सम्पन्न करने वाली प्रकृति है ।[149] अत: प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के प्रति तभी तक रहती है जब तक विवेक ख्याति की प्राप्ति नही हो जाती । विवेक साक्षात्कार, स्वरूपदर्शन होते ही प्रकृति के व्यापार की उपरति हो जाती है । पुरुष के लिए प्रकृति पुनः विषयोपभोगों को प्रस्तुत नहीं करती और पुरुष भी प्रकृतिगत विषयों को तुच्छ समझकर परित्याग कर देता है तथा आसक्ति रहित उदासीन हो जाता है।[150]

विवेक सम्पन्न पुरुष के प्रति प्रकृति निवृत्ति प्रसवा हो जाती है । धर्म-अधर्म, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य नामक उसके सप्त भावों की समाप्ति हो जाती है । पुरुष सुख दुःख मोह, राग द्वेश इत्यादि सभी भावों से रहित हो जाता है तथा अपने ही केवली चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होकरअसङ्ग उदासीन द्रष्टा की भाँति प्रसवरहित प्रकृति को अपने से पृथक देखता है ।[151]

इस विवेक ख्याति के उत्पन्न होते ही मर्जित बीज सदृश धर्म-अधर्म इत्यादि भाव कारण रुप नहीं रह जाते । इनका फलोत्पादकत्व विनष्ट हो जाता है । क्लेश रूपी सलिल से सिक्त हुई बुद्धि रुपी भूमि में ही कर्म रूपी बीज अङ्कुरित होते हैं तथा निंदाग्घ रूपी भूमि में कर्म बीज अङ्कुरित होने में असमर्थ रहते हैं । अत: अज्ञान से समस्त संचित कर्मों का सर्वथा अभाव हो जाता है और वे कर्म, जाति, आयु एवम् भोग रूपी विपाक को उत्पन्न

करने में असमर्थ हो जाते हैं । इस प्रकार बुद्धि में संचित कर्मों के फल की प्राप्ति नहीं होती तथा "अहं प्रवृत्ति" से रहित होकर कार्य करने से भावी बन्धन के कारण बनने वाले कर्म संस्कारों की भी प्राप्ति नहीं होती। केवल प्रारब्ध कर्मों का ही सम्बन्ध पुरुष के साथ रह जाता है, जिनके फलस्वरूप उसे वर्तमान कालीन जाति-आयु-भोग की प्राप्ति हुई है । इन कर्मों का क्षय तो फल उपभोग द्वारा ही सम्भव है । अत: इन कर्मों के प्रभाव से वह मनुष्य तब तक शरीर को धारण करता है, जब तक उपभोग द्वारा समस्त प्रारब्ध कर्मों का सक्षम नहीं हो जाता । जिस प्रकार कुलाल का चक्र पूर्व उत्पन्न वेग के कारण तब तक गतिशील रहता है, जब तक वेग समाप्त नहीं हो जाता । किन्तु वेग के क्षीण होते ही चक्र की गति स्वत: रुक जाती है । उसी प्रकार प्रारब्ध कर्मों के फल-भोग पर्यन्त पुरुष देह को धारण करता ही है, अनासक्तभाव से वह कर्मों का सम्पादन करती ही है ।[152]

पुरुष की यही जीवन्मुक्त अवस्था है "क्लेशकर्मनिवृत्तौजीवन्नेव विद्वान् विमुक्तौ भवति"- (व्यास भाष्य 4/30) यद्यपि इसमें सुख दु:ख इत्यादि का अभाव है । तथापि उसके साथ शरीर का बन्धन बना हुआ है । अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों का भोग से क्षय होते ही पुरुष का शरीर भी अपना व्यापार स्थगित कर देता है । देह संपात के साथ ही पुरुष समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार पुरुष में त्रिविध दु:खों का ऐकान्तिक एवम् आत्यन्तिक अभाव हो जाता है । दु:खों से विमुक्त पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । यही पुरुष की विदेहमुक्ति कैवल्य अपवर्ग है ।[153]

अत: अज्ञान के कारण प्रकृति के साथ जो पुरुष का तादात्म्य, अभेद प्रतीति है, मानों वही पुरुष का बन्धन है । विवेक ख्याति द्वारा इसी मिथ्या प्रतीति का निराकरण होता है । स्वरूप दर्शन होते ही प्रकृति से भिन्न पुरुष अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त कर लेता है । व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ के विज्ञान से ही नि:शेषदुखनिवृत्ति रूप एवम् स्वरूप प्रतिष्ठा रूप कैवल्य की सिद्धि होती है और इसी का प्रतिपादन सांख्य दर्शन का प्रमुख प्रयोजन है ।[154]

सांख्य के समान योग दर्शन में भी अपवर्ग का यही स्वरूप है । यम-नियम-आसन आदि अष्टाङ्ग योग की सतत साधना से सत्वपुरुषान्यथाख्याति की प्राप्ति होने से पुरुष का सम्बन्ध प्रकृति से समाप्त हो जाता है । पुरुषार्थ सम्पन्न कर लेने से प्रतिकूल परिणाम द्वारा गुण अपने कारण में विलीन हो जाते हैं और पुरुष अपने चिन्मात्र स्वरूप में स्थित हो जाता है । चित्त शक्ति की यह स्वरूप प्रतिष्ठा ही कैवल्य है।[155]

"सत्वपुरुषयोः सुद्धिसाम्ये कैवल्यम्" (योग सूत्र 3/55)

"पुरुषार्थशून्याना गुणआनां प्रतिप्रसवः कैवल्यं ।
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चिति शक्तेरिति ॥
(योग सूत्र 4/33)

फुट नोट

1. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 3
2. महाभारत - शान्तिपर्व - 301 / 109
3. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 250-251
4. हरिशंकर जोशी - सांख्य योगदर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 7-8
5. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 4
6. सांख्य प्रवचन भाष्य पृ. 14
7. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 247
8. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 4
9. महा. / शान्ति. / 294 / 41
10. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 59
11. हरिशंकर जोशी - सांख्य योगदर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 11 -
    पञ्चविंशति - तत्त्वानां विचारः सांख्यम्. तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सांख्यमुच्यते ।
12. हरिशंकर जोशी - सांख्य योगदर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 11
    सम्यक् क्रमपूर्वकख्यानं कथनं यस्याः सा संख्या क्रमपूर्वकं विचारणा तामधिकृत्यकृतो ग्रन्थः सांख्यम् ।
13. संख्या प्रकुरुते चैव प्रकृति च प्रचक्षेत (अ. बु. स. प्राकृत मण्डल)
14. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 6
15. प्रो. कीर्थ - Sankhya System पृ. 55
16. सांख्य दर्शनमेतावत् परिसंख्यान दर्शनम् ।
    सांख्याः प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ॥
    तत्त्वानि च चतुर्विंशत् परिसंख्याय तत्वतः ।
    सांख्याः सह प्रकृत्या तु निस्तत्त्वपञ्चविंशक ॥
17. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 6-7
18. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 8
19. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 247
20. महाभारत शान्ति पर्व, मोक्षधर्म 350 / 63-64 (ब्रह्म सूत्र रामानुज भाष्य सू. 2 / 2/ 42 में उद्धृत)
21. श्री मद् भागवत 1 / 3 / 10
22. (क) "ऋषिं प्रसूतं कपिलयस्तमग्रेज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत" 5 / 2
    (ख) "तत्कारणं सांख्य - योगाधिगम्यं ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः 6 / 2
23. श्री भगवद्गीता 10 / 26
24. "सनक्श्च सनन्दश्च तृतीयश्य सनातनः । कपिलश्चा सुरिश्चैव बोढ पञ्च पञ्चशिखस्तथा ॥ रुपैस्तैते ब्राह्मणः पुत्राः" - महाभारत शान्तिपर्व ।
25. "कपिल परमर्षिञ्चयं प्राहुर्यतयः सदा । अग्नि सकपिलो नाम सांख्य योग प्रवर्तक" । महाभारत शान्तिपर्व ।

26. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्वकौमुदी प्रभा - प्रस्तावना पृ. 10-11
27. ईश्वर कृष्ण - सांख्य कारिका 69-70
28. परमर्षि भगवान् सांसिद्धकैर्धर्मज्ञानवैराग्यैराविष्टपिण्डो विश्वाग्रजः कपिलमुनिः । सां. का. 69 युक्तिदीपिका ।
29. परमर्षिणा कपिलेन - सां. का . 69 तत्त्व कौमुदी ।
30. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व प्रदीप 82
31. महाभारत वन पर्व 221 / 20, 21
32. महाभारत शान्ति पर्व 340 / 72
33. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 45
34. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 46
35. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 9
36. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 5
37. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 47
38. हरिशंकर जोशी - सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 50-51
39. शिष्य परम्परयागतभीश्वरकृष्णेन चैतदार्याभिः ।
सङ्क्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ सां. का. 71
सप्तत्यां किलयेऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य पष्ठितन्त्रस्य ।
आख्यायिकाविरहिताः परवादविवर्जिताश्चापि ॥ सां. का. 72
40. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 72
41. सम्पादक और इंग्लिश अनुवादक, रेवरैण्ड जै. स्टेनीसन का संस्करण
42. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 72
43. तत्त्वं जिज्ञासमानाय विप्रायसुरये मुनिः ।
यदुवाच महत्तन्त्रं दुःखत्रय निवृत्तये ।
44. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 77
45. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 103
46. मैक्समूलर आदि ।
47. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 103
48. रामकृष्ण आचार्य - सांख्य तत्त्व कौमुदी संहिता - सांख्यकारिका पृ. 15
49. महाभारत 218 / 10 - आसुरेः प्रथमं शिष्ययमाहुश्चिरजीविनम् ।
पञ्चस्रोतसि यः सत्रमास्ते वर्ष सहस्रकम् ॥
50. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 114
51. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 115
52. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 115-116
53. स एवं गृहस्थधर्ममपहाय पुत्र दारादिकं च प्रव्रजितो भगवतः
किल कपिलाचार्यस्य योगिनः प्राणाः शिष्यो बभूव । माठर वृत्ति पृ. 2 चौखम्बा प्रकाशन
54. डॉ. हरि शंकर जोशी - सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 52-53

55. आसुरेः प्रथम शिष्ययमाहुश्चिरजीविनम् । पञ्चस्रोतसि निष्णातः पञ्चविशारदः । पञ्चज्ञः पञ्चकृत् पञ्चगुणः पञ्चशिख स्मृतः । महा. शा. / पृ. 218 /
56. डॉ. हरि शंकर जोशी - सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 54-55
57. एतत् पवित्रमग्रयं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम् ॥ सां. का. 70
58. रामकृष्ण आचार्य - सांख्य तत्त्व कौमुदी संहिता - सांख्यकारिका पृ. 18-19
59. जैगीषव्यस्यासितस्य दैवलस्यमया श्रुतम् ।
पराशरस्य विप्रर्षेवार्षगण्यस्यधीमतः ॥ शान्ति पर्व 318 / 59
60. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 160-161
61. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 507
62. गर्गादिभ्योअञ् ॥ अष्टाध्यायी 4 / 1 / 105
63. श्री नाथूराम प्रेमी - जैन साहित्य और इतिहास पृ. 118
64. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 507
65. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 161-162
66. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 167
67. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 167-168
68. डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्यकारिका - प्रस्तावना पृ. 24
69. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 171
70. डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्यकारिका - प्रस्तावना पृ. 24-25
71. डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्यकारिका - प्रस्तावना पृ. 25
72. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 84-85
73. डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्यकारिका - प्रस्तावना पृ. 22-23
74. डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्यकारिका - प्रस्तावना पृ. 23
75. द्रष्टव्य - युक्तिदीपिका पृ. 104 एवम् 132
76. द्रष्टव्य - युक्तिदीपिका पृ. 39
77. द्रष्टव्य - सन्मति तर्क की अभयदेवसूरि कृत व्याख्या पृ. 533
78. सांख्यकारिका - 5
79. द्रष्टव्य - सांख्य सिस्टम पृ. 79
80. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 86
81. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 126
82. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 194
83. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 88
84. न्याय सूचीनिबन्धोऽसावकारि सुधियां मुदे ।
श्री वाचस्पति मिश्रेण वस्वङ्कवसुवत्सरे ॥
85. पूना ओरिएण्टल सीरीज में संख्या 59 पर प्रकाशित -
Gautama's Nyayasutras by Dr. Ganganatha Jha P. 16

86. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 287
87. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 289
88. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 291
89. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 88-89
90. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 94-95
91. डॉ. कीथ - सांख्य सिस्टम पृ. 14
92. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 309
93. ऐ. बी. कीथ रचित "दी हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर" सन् 1928 संस्करण, पृ. 488
94. उदयवीर शास्त्री - सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 84
95. हरिशंकर जोशी - सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 84
96. हरिशंकर जोशी - सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 85
97. हरिशंकर जोशी - सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 85
98. हरिशंकर जोशी - सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार पृ. 86
99. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 102
100. "अतिकारुणिमहामुनिर्जगदुद्दिधीर्षु: कपिलो मोक्षशास्त्रमारभमाण: प्रथमसूत्रचकार" अनिरुद्ध वृत्ति - उपोद्घात ।
101. तत्रश्रुतिभ्य: श्रुतेषु पुरुषार्थ-तद्धेतुज्ञान-तद्विषयात्मस्वरूपादिषु श्रुत्यविरोधिनीरुपपत्ती: षडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेणकपिलमूर्तिर्भगवानुपदिदेश-सांख्य प्रवचन भाष्य उपोद्घात ।
तदिदं सांख्य शास्त्रं कपिलमूर्तिर्भगवान् विष्णुरखिललोकहिताय प्रकाशितवान् - सांख्य प्रवचन भाष्य - उपसंहार
102. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 104
103. सांख्य सूत्र 5/32
104. सांख्य सूत्र 6/68
105. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 110
106. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 113
107. डॉ. अमल धारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 101
108. "उपमितिभवप्रपञ्चकथा" कलकत्ता से ख्रीष्ट 1899 में डॉ. पीटर पीटर्सन द्वारा प्रकाशित पृ. 666-667
109. डॉ. कीथ - हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर पृ. 489
110. पं. उदयवीर शास्त्री - सांख्य दर्शन का इतिहास पृ. 184-185
111. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ. 203-205
112. डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा - भूमिका - पृ. 27
113. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 98
114. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन भाग (2) पृ. 259
115. सांख्य प्रवचन सूत्र 1 : 67

116. सांख्य प्रवचन सूत्र 1 : 110, 136
117. भगवद्गीता 14 : 3
118. नि:सत्तासत्तं नि:सदसन्निरसदव्यक्तमलिङ्गप्रधानम् । (योग भाष्य, 2-19 सांख्य प्रवच भाष्य 1 : 61)
119. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 260
120. सांख्यसूत्र 6 / 72
121. डॉ. श्रीराम शंकर भट्टाचार्य - सांख्य सूत्रम् 1 / 139
122. डॉ. श्रीराम शंकर भट्टाचार्य - सांख्य सूत्रम् 6 / 2
123. मूलप्रकृतिविकृतिर्महदाद्या: प्रकृतिविकृतय: सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति: पुरुष: ।। सां. का. 3
124. डॉ. श्रीराम शंकर भट्टाचार्य: - सांख्य सूत्रम् 1 / 20
125. डॉ. श्रीराम शंकर भट्टाचार्य: - सांख्य सूत्रम् 5 / 13
126. "निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा:" - डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य - सां. सू. 1 / 146
127. "नैकस्यानन्दचिद्रुपत्वे द्वयोर्भेदात्" - भट्टाचार्य - सां. सू. 5 / 66
128. असङ्गोऽयं पुरुष इति" डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य - सां. सू. 1 / 15
129. तस्माच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य ।
कैवल्यम्माध्यस्थं द्रष्ट्टत्वमकर्तृ भावश्च ।। सां. का. 19
130. सांख्यकारिका 10, 11
131. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्वप्रदीप पृ. 174
132. डॉ. राधा कृष्णन् - भारतीय दर्शन भाग (2) पृ. 280
133. सांख्यसूत्र 1 / 105
134. सांख्यसूत्र 1 / 106
135. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।। सां. का. 40
136. पुरुषार्थहेतुकमिदं नमित्तनैमित्तिक प्रसंगेन ।
प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवट् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ।। सां. का. 42
137. चित्रं यथाश्रयमृते स्थाण्वादिभ्यो विनायथाच्छाया ।
तद्वद्विनाऽविशेषैर्न तिष्ठति निराश्रयं लिङ्गम् ।। सां. का. 41
138. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।। सां. का. 64
139. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृत: सर्ग: ।। सां. का. 21
140. श्री सतीश चन्द्र एवम् श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त - भारतीय दर्शन पृ. 171-172
141. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या: प्रकृतिविकृतय: सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृति: पुरुष: ।। सां. का. 3
प्रकृतेर्महास्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशक: ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य: पञ्च भूतानि ।। सां. का. 22

142. तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ सांख्य कारिका 62

143. सांख्य प्रवचन सूत्र 3 : 64

144. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ सां. का. 10-11

145. तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते न नानाश्रया प्रकृतिः ॥ सां. का. 62

146. "पुरुषस्तु सुखायनुषङ्गी चेतनः । सोऽयं बुद्धितत्त्ववर्तिनाज्ञानसुखादिना तत्प्रतिबिम्बिस्तच्छयापत्त्या ज्ञान सुखादिमानिवभवति । "सां. का. 5 तत्त्वकौमुदी।
"तस्मात् प्रतिबिम्बिरूपेण पुरुषे दुःख सम्बन्धो भोगारव्योऽस्ति" । सां. सू. 1/1 प्रवचन भाष्य ।

147. एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि नमे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 220

148. "विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तो कृतकृत्यता नेतरात्" सांख्य सूत्र 3/84

149. "पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य" सां. का. 57
"पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्" सां. का. 58

150. दृष्टामयेत्युपेक्षक एको दृष्टाऽहमित्युपरमत्यन्या ।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ सां. का. 66

151. तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम् ।
प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वच्छ॥ सां. का. 65

152. सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कार वशात् चक्रभ्रमिवद्धृतशरीर ॥ सां. का. 67
"चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः ।" सां. सू. 3 / 82

153. प्राप्ते शरीर भेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ॥ सां. का. 68

154. "द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः" सां. सूत्र 3 / 65
"यद्वा तद्वा तदुच्छित्ति पुरुषार्थः" सां. सूत्र 3 / 55

155. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 224

द्वितीय – परिच्छेद

सांख्य दर्शन की समीक्षा करने वाले प्रमुख जैन आचार्य

आचार्य कुन्दकुन्द –

आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा में सर्वोपरि है । दो हजार वर्षों से आज तक लगातार दिगम्बर साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव अनुभव करते हैं ।[1] दिगम्बर जैन समाज कुन्दकुन्दाचार्य देव के नाम एवम् काम (महिमा) से जितना परिचित हैं । उनके जीवन से उतना ही अपरिचित है । लोकेषणा से दूर रहने वाले जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि महान से महान ऐतिहासिक कार्य करने के बाद भी अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कहीं कुछ उल्लेख नहीं करते । आचार्य कुन्दकुन्द भी इसके अपवाद नहीं है । "द्वादशानुप्रेक्षा" में मात्र नाम का उल्लेख है ।[2] इसी प्रकार "बोधपाहुण" में अपने को द्वादशांग के ज्ञाता तथा चौदहपूर्वों का विपुल प्रसार करने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य लिखा है ।[3]

अतः उनके जीवन के सम्बन्ध में बाह्य साक्ष्यों पर ही निर्भर करना पड़ता है। कुन्दकुन्द विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्य रत्न माने जाते हैं ।[4] आपके माता-पिता कौन थे और उन्होंने जन्म के समय आपका क्या नाम रखा था यह तो ज्ञात नहीं है । यह नन्दिसंघ में दीक्षित होने के कारण दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दि रखा गया था । कौण्डकुन्दपुर के वासी होने के कारण, कौण्डकुन्दपुर के आचार्य के अर्थ में कौण्डकुन्दाचार्य कहा जाने लगा, जो श्रुतिमधुरता की दृष्टि से कालान्तर में कुन्दकुन्दाचार्य हो गया ।[5] जैन परम्परा में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद कुन्दकुन्द का नाम लेना मङ्गलकारक माना जाता है ।[6] उनका पद्मनन्दि प्रथम नाम था और दूसरा कुन्दकुन्दाचार्य था । "आचार्य" शब्द नाम का ही अंश बन गया था, जो कि "आचार्य शब्दोत्तर कौण्ड कुन्दः" पद से अत्यन्त स्पष्ट

है। यह भी स्पष्ट है कि यह नाम उनके आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद ही प्रचलित हुआ, परन्तु यह नाम इतना प्रचलित हुआ कि मूलनाम भी विस्मृत सा हो गया। उक्त नामों के अतिरिक्त एलाचार्य, वक्रगीवाचार्य एवम् गृद्धपृच्छाचार्य भी आपके नाम कहे जाते हैं।[7] उक्त सभी नामों में कुन्दकुन्दाचार्य नाम ही सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम है। जब उनके मूल नाम पद्मनन्दी को भी बहुत कम जानते हैं तो फिर शेष नामों की तो बात ही क्या करें[8]? आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित उपलब्ध साहित्य इस प्रकार हैं -

1.	समयसार	2.	प्रवचनसार
3.	नियमसार (णियमसार)	4.	पंचास्तिकाय संग्रह (पंचत्थिकाय संग्रह)
5.	अष्टपाहुड़ (अट्ठपाहुड)		

इनके अतिरिक्त "द्वादशानुप्रेक्षा" (बारह अणुवेक्खा) एवमं "दशभक्ति" भी आपकी कृतियाँ मानी जाती है। इसी प्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग को "कुरलकाव्य" को भी आपकी कृति मानते हैं।[9] उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षड्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर "परिकर्म" नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं होती है। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि आपने "चौरासी पाहुड़" लिखे थे किन्तु आज उक्त साहित्य के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अष्ट पाहुड में निम्नलिखित आठ पाहुड संग्रहति हैं -

1.	दंसण पाहुड	2.	सुत्तपाहुड
3.	चरित्त पाहुड	4.	बोध पाहुड
5.	भाव पाहुड	6.	मोक्ख पाहुड
7.	लिङ्ग पाहुड	8.	सील पाहुड

उनके नाम से लिखित 43 ग्रन्थों का पता लगाया गया है।[10] आचार्य कुन्दकुन्द ने विभिन्न दृष्टियों का समन्वय किया है। कुन्दकुन्द के शब्दों में जब हम सांख्य दर्शन को जैन दर्शन की तुलना में देखते हैं तो दोनों में अन्य दर्शनों की अपेक्षा अत्यधिक साम्य प्रतीत होता है और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी मौलिक मान्यता में कोई अन्तर नहीं है। उदाहरणार्थ - "सांख्य" शब्द के अर्थ पर ध्यान देना चाहिये। संख्या से सांख्य शब्द की निष्पत्ति हुई है। "स" का अर्थ है सम्यक् और "ख्या" का अर्थ है ख्याति। ख्याति, पहिचान, विवेक ये सब एकार्थ वाचक शब्द हैं। तब संख्या का अर्थ होता है। सम्यक् ख्याति अर्थात् समीचीन विवेक। सांख्य शास्त्रों में भी संख्या का यही अर्थ किया है - "संख्या सम्यक् विवेकेन आत्मकथनम्।" यह समीचीन विवेक और जैनों का भेद विज्ञान दोनों एकार्थक हैं। सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष में विवेक करना ही सांख्य या सम्यक् ख्याति है।

इस विवेक के होते ही पुरुष का निर्वाण हो जाता है । जैनों के अनुसार द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म रूप प्रकृति से (पुरुष) का पृथक् ज्ञान करना भेद विज्ञान है । इस भेद विज्ञान से पुरुष मुक्त या सिद्ध होता है ।[11]

जैन दर्शन में कर्मों का बड़ा वैज्ञानिक और विस्तृत विवेचन मिलता है । इन कर्मों को मूल में आठ प्रकार का लिखा है । पर वस्तुत: यह कर्म नहीं प्रकृतियाँ है । जब कभी इनकी चर्चा होती है तो कहा जाता है कि मूल प्रकृतियाँ आठ है और अन्तर प्रकृतियाँ 148 है । गोम्मटकार कर्मकाण्ड में इन प्रकृतियों के बन्ध, उदय सत्व को लेकर विस्तृत विवेचन किया गया है ।[12]

कर्मबन्ध चार प्रकार का कहा गया है । पर किसी भी बन्ध के साथ कर्म शब्द का उल्लेख नहीं है । बन्ध के लक्षण में यद्यपि आत्मा के साथ कर्म के सम्बन्ध को प्रधानता दी गई है ।[13] लेकिन भेद करते समय प्रकृति शब्द का ही उल्लेख किया गया है कर्म का नहीं ।[14] इस प्रकार जैन दर्शन सांख्य की तरह प्रकृतिवादी दर्शन है और मूल में पुरुष तथा प्रकृति की तरह जीव और अजीव दो ही तत्त्व स्वीकार करता है । इन्हीं के मेल से आगे आस्रव आदि सात तत्त्वों का निर्माण होता है जैसे कि प्रकृति पुरुष के साथ महदादि विकारों को उत्पन्न करती है । जीव का पुरुष शब्द से जैन दर्शन में भी उल्लेख किया है । आचार्य अमृत चन्द्र के ''पुरषार्थ-सिद्धयुपाय'' ग्रन्थ का अर्थ ही यह है जिसमें आत्मा की सिद्धि का उपाय बतलाया गया है । वे लिखते हैं - ''अस्ति पुरुषश्चिदात्मा'' अर्थात् पुरुष चैतन्य स्वरूप है । समयसार की आख्याति टीका में पुद्गल से भिन्न तेज वाले पुरुष को हृदय सरोवर में देखने की प्रेरणा की गई है । जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है । ''पश्य षण्मासमेक, हृदय सरिस पुंसः पुद्गलादिभन्नधाम्नः ...... यों प्रकृति और पुरुष जैन दर्शन के प्राचीनतम सांस्कृतिक शब्द हैं जिन्हें केवल सांख्य दर्शन से ही सम्बन्धित माना जाता है ।[15]

प्रकृति शब्द की पारिभाषिक तुलना भी जैन दर्शन से है । सांख्य दर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मक माना है । वे तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमोगुण हैं । इन्हें क्रमश: प्रीति-अप्रीति और विषाद स्वरूप माना जाता है ।[16] प्रीति का अर्थ सुख, अप्रीति का अर्थ दु:ख और विषाद का अर्थ मोह स्वीकार किया है । जैन दर्शन में राग-द्वेष-मोह को संसार का कारण माना है और इन्हें भाव कर्म संज्ञा दी है । आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचन सार में लिखा है कि मोह और क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है ।[17] राग से सुख, द्वेष से दु:ख और मोह से विषाद होता है । अत: जैनों के राग, द्वेष, मोह और सांख्यों के सत्त्व गुण, रजो गुण और तमो गुण में कोई अन्तर नहीं है । सांख्य दर्शन में इन्हें प्रकृति का धर्म कहा है । तो जैन दर्शन में भी इन्हें प्रकृति कारणक ही स्वीकार किया है। इसका उल्लेख आचार्य

कुन्दकुन्द ने प्रवचन सार में किया है । वे लिखते हैं कि नियति के द्वारा उदय प्राप्त कर्मांशों में जो मोही, रागी, द्वेषी होता है, वह बन्ध का अनुभव करता है ।[18] यहाँ "नियति" शब्द का अर्थ प्रकृति ही है । मम्मट ने काव्य प्रकाश के मंगलाचरण में "नियति" शब्द का प्रयोग प्रकृति अर्थ में ही किया है ।[19]

इस प्रकार जैन दर्शन में भी प्रकृति शब्द की वही परिभाषा है जो सांख्य दर्शन में हैं । केवल संज्ञाओं में साधारण भेद है । अर्थात् यहाँ सत्त्व के स्थान पर राग, रज के स्थान पर द्वेष और तम के स्थान पर मोह हैं । इनके अर्थ दोनों जगह एक हैं ।

जैन दर्शन में प्रकृति और कर्म एकार्थ वाचक मिलते हैं । जबकि शब्दार्थ सर्वथा भिन्न हैं । कर्म की परिभाषा है - "क्रियते तत्कर्म" अर्थात् जो किया जाय वह कर्म हैं । प्रकृति की नहीं जाती वह तो स्वभाव है । जो किया जाए वह स्वभाव ही क्या रहा ? अतः कर्म और प्रकृति में अन्तर होते हुए भी इनके समानार्थक होने में निम्न कारण हैं । हम जो कर्म (Action) करते हैं, वह राग, द्वेष, मोह के अधीन होकर मन, वचन, काय के माध्यम से करते हैं । इन्हें क्रम से मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म कहते हैं । इनसे आत्मा की योग शक्ति प्रभावित होती हैं और उससे आत्म प्रदेश परिस्पंद होता है । इसका फल यह होता है कि प्रति समय अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल वर्गणाएं आत्मा से सम्बन्ध करती है । ये अनन्त हैं फिर भी इनका अपना जो फल जीव को लेकर प्रकट होता है । उसे जातीयता के आधार पर आठ जगह वर्गीकृत किया है। और इन आठों को उनके प्रभेदों में बाँटकर उनके 148 भेद किए हैं । वे मूल आठ भेद मूल प्रकृतियाँ कहलाती हैं और उत्तर भेद उत्तर प्रकृतियाँ कहलाती है । इन मूल आठ प्रकृतियों को आठ कर्म भी कहा जाता है और 148 प्रकृतियों को कर्मों के 148 उत्तर भेद भी कहा जाता है । इन प्रकृतियों को कर्म कहने का कारण यह है कि ये कर्म (Action) के परिणाम हैं । अर्थात् मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म करने से इनका आत्मा (पुरुष) के साथ सम्बन्ध होता है । अतः कारण में कार्य का उपचार कर प्रकृति को भी कर्म की संज्ञा दी गई है ।

यह ठीक है कि प्रकृति स्वभाव होने से किसी का कार्य नहीं हो सकती । जैन दर्शन में प्रकृति का स्वभाव शब्द से ही उल्लेख किया है लेकिन उसका प्रकृतिपन इस अर्थ में है कि उसका किसी खास समय में जीव (पुरुष) के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ । अर्थात् ऐसा नहीं है कि जीव के साथ किसी समय प्रकृति का सम्बन्ध नहीं था बाद में हुआ । वह अनादि काल से है । जो वस्तु अनादि है उसमें कारण की प्रधानता नहीं होती है और जो कारण विहीन है वह प्रकृति या स्वभाव ही कहा जाता है ।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शन में प्रकृति को कर्म शब्द से भी उल्लेख किया गया है । यह कर्म तीन प्रकार के हैं - 1. भाव कर्म, 2. द्रव्य कर्म व 3. नो कर्म। यह तीनों

ही प्रकार के कर्म जैन दर्शन में प्रकृति शब्द के वाच्य हैं । इसकी सांख्य दर्शन की प्रकृति के साथ इस प्रकार तुलना की जा सकती है । सांख्यमत में प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त शब्द से उल्लिखित किया है । जैनों के भाव कर्म और द्रव्य कर्मों में भी यह अन्तर हैं । राग, द्वेष और मोह यह जीव के भावात्मक कर्म है। अत: जीव की तरह ही अव्यक्त है तथा इनसे उत्पन्न जो पौद्धगलिक नौ कर्म है । वे पुद्गल की तरह व्यक्त है । अर्थात् मूर्तिमान हैं । इनमें द्रव्य कर्म इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है फिर भी रूप-रस, गन्ध, स्पर्श वाले तो हैं ही अत: इन्हें भावों की तरह व्यक्त नहीं कहा जाता है ।[20] सांख्यों में एक सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर की मान्यता है जो प्रकृति का ही कार्य है । यह सूक्ष्म शरीर प्रत्येक पुरुष के साथ रहता है । उसकी अबाधगति है । मोक्ष होने पर ही नाश होता है । वह भोग रहित है तथा संसार में परिभ्रमण करता है ।[21] यह सूक्ष्म शरीर जैनों का कर्माण शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । तत्वार्थ सूत्र में प्राय: सभी उक्त विशेषण कर्माण शरीर में मिल जाते हैं ।[22] स्थूल शरीर को मातृपितृज लिखा है जो जैनों में नो कर्म कहा जाता है ।[23]

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक सांख्य सम्मत मान्यताओं का समर्थन किया है तथा खण्डन भी किया है ।

समन्तभद्र –

आचार्य श्री जुगल किशोर मुख्तार[24] ने समन्तभद्र के साहित्य का गम्भीर आलोडन कर उनका समय विक्रम की द्वितीय शती माना है । उनके मत का समर्थन डॉ. ज्योति प्रसाद जैन ने अनेक युक्तियों से किया है । उन्होंने लिखा है - स्वामी समन्तभद्र का समय 120-185 ई. निर्णीत होता है और यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म पूर्व तटवर्ती नागराज्य संघ के अन्तर्गत उरगपुर (वर्तमान - त्रिचनापल्ली) के नाग वंशी चोल नरेश कीर्तिक्वर्मन् के कनिष्ठ पुत्र एवम् उत्तराधिकारी सर्ववर्मन् (शेषनाग) के अनुज राजकुमार शान्ति वर्मन के रूप में सम्भवतया ई. सन् 120 के लगभग हुआ था। सन् 138 ई. शक सं. 60) में उन्होंने मुनि दीक्षा ली और 185 ई. के लगभग स्वर्गस्थ हुये प्रतीत होते हैं । अतएव समन्तभद्र का समय अनेक प्रमाणों के आधार पर ई. सन् की द्वितीय शती अवगत होती है ।[25] समन्तभद्र द्वारा प्रणीत रचनायें निम्नलिखित मानी जाती हैं -

1. वृहत् स्वयम्भूस्तोत्र
2. स्तुति विद्या - जिनशतक
3. देवागम स्तोत्र - आप्तमीमांसा
4. युक्त्यनुशासन
5. रत्नकरण्डश्रावकाचार
6. जीव सिद्धि
7. प्रमाणमदार्थ
8. तत्त्वानुशासन
9. प्राकृत व्याकरण
10. कर्मप्राभृत टीका

11. गन्धहस्तिमहाभाष्य

स्वामी समन्तभद्र स्तुतिकार थे। बाद में कुछ ग्रन्थकारों ने इसी विशेषण के साथ उनका उल्लेख किया है। अपने इष्ट देव की स्तुति के व्याज से उन्होंने एक ओर हेतुवाद के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की, दूसरी ओर विविध एकान्तवादों की समीक्षा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की। उन्होंने जैन परम्परा में सम्भवतया सर्वप्रथम न्याय शब्द का प्रयोग करके एक ओर न्याय को स्थान दिया तो, दूसरी ओर न्याय शासन में स्याद्वाद को गुम्फित किया।[26]

सिद्धसेन –

विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर सन्मति के कर्त्ता सिद्धसेन के समय निर्धारण का प्रयत्न किया है। तदनुसार उनका समय पूज्यपाद (विक्रम की छटी शती) और अंकलक (वि. की 7वीं शती) का मध्यकाल अर्थात् वि. सं. 625 के आसपास माना जाता है।[27] सिद्धसेन नाम के एक से अधिक आचार्य हुये हैं। सन्मति सूत्र और कल्याण मन्दिर जैसे ग्रन्थों के रचियता सिद्धसेन दिगम्बर सम्प्रदाय में हुये हैं। इनके साथ दिवाकर विशेषण नहीं है। दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुये सिद्धसेन के साथ पाया जाता है जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकायें न्यायावतार आदि रचनायें हैं। इनका समय सन्मति सूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन से भिन्न है। प्रो. सुखलाल संघवी ने दोनों को एक मानकर उनका काल विक्रम की पाँचवी शताब्दी माना है।

जैन साहित्य के क्षेत्र में दिग्नाग जैसे प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की आवश्यकता ने ही प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन को उत्पन्न किया है। आचार्य सिद्धसेन का समय विभिन्न दार्शनिकों के वाद-विवाद का समय था उनकी दृष्टि में अनेकान्तवाद की स्थापना का यह श्रेष्ठ अवसर था; अतः उन्होंने सन्मतितर्क की रचना की उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नानावादों को सन्मति तर्क में विभिन्न नयवादों में सन्निविष्ट कर दिया। क्षणिक वादी बौद्धों की दृष्टि को सिद्धसेन ने पर्याय नयान्तर्गत ऋजुसूत्रनयानुसारी बताया। सांख्य दृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया और काणाद दर्शन को उभय नयाश्रित सिद्ध किया।[28] उनका तो यहाँ तक कहना है कि संसार में जितने वचन प्रकार हो सकते है / उतने ही नयवाद हैं। उन सबका समागम ही अनेकान्तवाद है।[29] सांख्य की दृष्टि संग्रहावलम्बी है, अभेदागामी है। अतएव वह वस्तु को नित्य कहे यह स्वाभाविक है। उसकी वही मर्यादा है और बौद्ध पर्यायानुगामी या भेद दृष्टि होने से वस्तु को क्षणिक या अनित्य कहे यह भी स्वभाविक है, उसकी वही मर्यादा है, किन्तु वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन न तो केवल द्रव्य दृष्टि में पर्यवसित है और न पर्याय दृष्टि में, अतएव सांख्य या बौद्ध को परस्पर मिथ्यावादी कहने का स्वातन्त्र्य नहीं।[30]

श्रीमद् भट्टाकलंकदेव या पूज्यपाद भट्टाकलंकदेव –

लघीयस्त्रय और उसकी विवृत्ति के रचयिता श्रीमद् भट्टाकलंकदेव का स्थान जैन वाङ्मय में अनुपमेय है । यद्यपि उनकी सभी कृतियाँ अति गहन और प्रखर दार्शनिकों के लिये भी दुरुह है, उनमें से एक भी कृति ऐसी नहीं है जो स्वामी समन्तभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार और उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र की भांति जनसाधारण में प्रचलित हो, किन्तु जैन समाज में ऐसे विरले ही मनुष्य होंगे जो उनके नाम से परिचित न होंगे और अकलंक नाम को सुनकर जिनके मस्तक श्रद्धा से नत न हो जाते हों । वे सब कुछ थे किन्तु उनकी जीवन गाथा गाने के लिये आज हमारे पास कुछ भी नहीं है । जो कुछ है वह न के बराबर है । उनकी अमर कृतियाँ अपनी गोद में उनका अमर नाम लेने के लिये जीवित हैं । वे अपने कर्त्ता के बारे में जो कुछ बतला सकती हैं । वह उसका नाम, व्यक्तित्व और प्रकाण्ड पाण्डित्य ।[31] अकलंक देव के पश्चात् अकलंक नाम के अनेक व्यक्ति हुये हैं और उनमें से कुछ ने रचनायें भी की है। अब तक ऐसे जितने अकलंकों का पता लग सका है उनकी तालिका इस प्रकार है ।[32]

1.	अकलंक त्रैविद्य –	इनके गुरुदेव कीर्ति थे । समय वि. की 12वीं शताब्दी। उनका उल्लेख श्रवण वेलगोल शिला. 40/64 में मिलता है ।
2.	अकलंक पण्डित –	श्रवण. शि. न. 43 में इनका उल्लेख है । यह शिलालेख ई. 1100 के लगभग का समझा जाता है ।
3.	अकलंक भट्टारक–	यह जाति के पोरवाड़ थे । ये अकलंक संहिता और श्रावक प्रायश्चित्त (ई. 1311 में रचित) के कर्ता थे।
4.	अकलंक –	परमागमसार के रचियता ।
5.	अकलंक –	विवेक मञ्जरी वृत्ति ई. 1192 के रचयिता ।
6.	भट्ट अकलंक –	विद्यानुवाद नामक मंत्र शास्त्र के रचियता ।
7.	अकलंक देव –	ई. 1604 में इन्होंने कर्नाटक शब्दानुशासन की रचना की थी। ये दक्षिण कनाड़ा के हाडुवल्ली मठ के जैनाचार्य के शिष्य थे।
8.	अकलंक कवि –	व्रतफलवर्णन के कर्त्ता ।
9.	अकलंक देव –	चैत्यवन्दनादि सूत्र, साधुश्राद्ध प्रतिक्रमण, पदपर्याय मञ्जरी के रचियता ।
10.	अकलंक –	विद्याविनोद के कर्त्ता, इन्होंने अकलंक भट्टारक, वीर सेन, पूज्यपाद और धर्म कीर्ति महामुनि का उल्लेख किया है ।

11. अकलंक - अकलंक प्रतिष्ठा पाठ के रचियता, यह ग्रन्थ 16वीं, 17वीं शता. का बना है। सम्भव है इनमें से कोई-कोई अकलंक एक ही व्यक्ति हों। प्रसिद्ध अकलंक को कुछ ग्रन्थकारो ने देव शब्द से स्मरण किया है तथा भट्ट सम्भवतः उनकी उपाधि थी जो उस समय प्रकाण्ड विद्वानों के नाम के साथ प्रयुक्त की जाती थी।

अकलंक देव के ग्रन्थों में थोड़े में ही बहुत कह जाने की विशेषता थी। उन्होंने अपने ग्रन्थों के भाष्य भी स्वयं लिखे हैं किन्तु वे इतने दुरूह और जटिल है कि व्याख्यान करने में एक स्वर से असमर्थता प्रकट करनी पड़ी। अकलंक देव की रचनायें दो प्रकार की है। एक पूर्वोचार्यों के ग्रन्थों पर भाष्यरूप और दूसरी स्वतन्त्र। प्रथम प्रकार की रचनाओं में दो ग्रन्थ हैं -

1. तत्त्वार्थ राज वार्तिक।
2. अष्ट शती।

तथा द्वितीय प्रकार की रचनाओं में लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, अकलंक प्रतिष्ठापाठ आदि ग्रन्थ सम्मिलित किये जाते हैं।[33]

विद्यानन्द –

आचार्य विद्यानन्द ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपना समय नहीं दिया। न्याय सूत्र पर लिखे गये वात्स्यायन के[34] न्याय भाष्य और न्याय सूत्र तथा न्याय भाष्य पर रचे गये उद्योतकर के न्याय वार्तिक, इन तीनों को तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक[35] आदि में नामोल्लेखपूर्वक और बिना नामोल्लेख के भी सुविस्तृत समालोचन किया है। प्रमाण परीक्षा में आचार्य विद्यानन्द ई. 770 से 840 के विद्वान माने जाते हैं।[36] आचार्य विद्यानन्द की रचनायें दो तरह की हैं।

टीकात्मक और स्वतन्त्र।[37] टीकात्मक रचनायें निम्न हैं -

1. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक (सभाष्य)
2. अष्टसहस्त्री - देवागमालङ्कार
3. युक्त्यनुशासनालङ्कार

स्वतन्त्र कृतियाँ निम्न हैं –

1. विद्यानन्द महोदय
2. आप्त परीक्षा
3. प्रमाण परीक्षा
4. पत्र परीक्षा
5. सत्यशासन परीक्षा
6. श्री पुरपार्श्वनाथस्तोत्र

विद्यानन्द महोदय सम्प्रति अनुपलब्ध है। तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक की रचना तत्त्वार्थ सूत्र पर भाष्य के रूप में मीमांसा श्लोकवार्तिक के अनुकरण पर की गयी। भट्टाकलंक की अष्टशती के गूढ़ रहस्य को समझने के लिये अष्ट सहस्त्री की रचना की गयी है। इसके गौरव को आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं इन शब्दों में व्यक्त किया है - "हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है ? केवल एक अष्टसहस्त्री को सुन लीजिये। इतने से ही स्वसिद्धान्त और परसिद्धान्त का ज्ञान हो जाएगा।"[38] युक्तयनुशासनलङ्कार आचार्य समन्त भद्र के युक्तयनुशासन की टीका है। आप्त परीक्षा प्रमाण परीक्षा और सत्य शासन परीक्षान्त ग्रन्थ हैं। जो दिङ्नाग की आलंबन परीक्षा और त्रिकाल परीक्षा, धर्म कीर्ति की सम्बन्ध-परीक्षा, धर्मोत्तर की प्रमाण परीक्षा व लघु प्रमाण परीक्षा तथा कल्याणरक्षित की श्रुति परीक्षा जैसे परीक्षान्त ग्रन्थों की याद दिलाते हैं।[39] विद्यानन्द को परीक्षान्त नाम रखने में इनसे प्रेरणा मिली हो इसमें आश्चर्य नहीं। पहले शास्त्रार्थों में जो पत्र दिये जाते थे, उनमें क्रिया पद गूढ़ रहते थे, जिनका आश्य समझना कठिन होता था। उसी के विवेचन के लिये विद्यानन्द के पत्र परीक्षा नामक एक छोटे से प्रकरण की रचना की थी। जैन परम्परा में इस विषय की सम्भवतया यह प्रथम और अंतिम रचना है।[40] श्री पुरपार्श्वनाथ स्त्रोत की रचना अतिशय क्षेत्र श्री पुर के पार्श्वनाथ के प्रतिबिम्ब को लक्ष्य में रखकर की गई है।

आचार्य विद्यानन्द के ग्रन्थों में अन्य दर्शनों के साथ-साथ सांख्य दर्शन के विभिन्न अङ्गों की समीक्षा की गयी है जिनमें से कपिल के मोक्ष मार्गोपदेशकत्व प्रधान के मुक्तामुक्त्व की कल्पना और उसमें दोष तथा प्रधान के भी मोक्ष मार्गोपदेशकत्व आदि की समीक्षा, प्रमाण लक्षण परीक्षा तथा सांख्यों द्वारा मान्य मोक्ष तथा संसार का खण्डन आदि की समीक्षा की है।

आचार्य माणिक्यनन्दी –

आचार्य माणिक्यनन्दी जैन न्याय के आद्यसुत्रकार हैं। ये नंदि संघ के प्रमुख आचार्य थे। माणिक्य नन्दी ने अकलंक के ग्रन्थरुपी समुद्र का मंथन तो किया ही था और इसी का फल न्यायविद्या रूपी अमृत (परीक्षामुख) है।[41] साथ ही परीक्षामुख सूत्रों में लौकायतिक (चार्वाक), बौद्ध, सांख्य योग, प्रभाकर, जैमनीय और मीमांसको के नामोल्लेखपूर्वक उनके सिद्धान्तों के प्रतिपादन से इनके दर्शनो के विशिष्ट ज्ञान का भी पता चलता है।[42] न्यायदीपिका में इनका भगवान के रूप में उल्लेख किया गया है।[43] प्रभाचन्द्र ने इनको गुरु के रूप में उल्लेख किया है तथा इनके पदपङ्कज के प्रसाद से ही प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड की रचना करने का संकेत दिया है। इससे उनके असाधारण व्यक्तित्व का आभास मिलता है। वास्तव में माणिक्यनंदी जैन न्याय के भण्डार में अपने परीक्षामुख रूपी माणिक्य को जमा करके सदा

के लिये अमर हो गये। इनकी एक मात्र कृति परीक्षामुख है किन्तु यह एक असाधारण और अपूर्व कृति है । इसमें इन्होंने अन्य विषयों के साथ-साथ सांख्याभिमत प्रधान तथा प्रमाण का भी विवेचन किया है ।

प्रभाचन्द्र –

ये जैन साहित्य में तर्क ग्रन्थकार प्रभाचन्द्र के नाम से प्रसिद्ध हैं । ये धारा (मालवा) में रहते थे और राजा भोज देव तथा जय सिंह के समकालीन हैं । अत: 1010 से 1080 अनुमानित हैं । शिलालेख आदि में इनके पद्मनन्दि सैद्धान्त चतुर्मुख देव और माणिक्य नन्दि ये तीन गुरु कहे गये हैं ।[44] ये एक बहुश्रुत विद्वान थे । सभी दर्शनों के प्राय: सभी मौलिक ग्रन्थों का इन्होंने अभ्यास किया था । इन्होंने प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थ-वृत्ति पद विवरण, शाकटायनन्यास, शब्दाम्भोज भास्कर, प्रवचन सार-सरोजभास्कर, महाकवि पुष्पदन्तकृत महापुराण का टिप्पण और समाधितन्त्र टीका आदि ग्रन्थों की रचना की है । इतर दर्शनों के ग्रन्थों के उद्धरणों के साथ इन्होंने सांख्यों के 'इन्द्रिय वृत्ति प्रमाण हैं', ऐसा मानने वाले मत का निराकरण तथा अचेतन ज्ञानवाद का भी खण्डन किया है । अचेतन ज्ञानवाद के खण्डन का सारांश इस प्रकार है -

सांख्य ज्ञान को अचेतन मानते हैं । उनका कहना है कि प्रधान (प्रकृति) महान् बुद्धि को उत्पन्न करता है । अत: वह अचेतन है । हाँ उस महान रूप बुद्धि का संसर्ग पुरुष के साथ होता है । इसलिये हमें यह आत्मा रूप जान पड़ती है । जैसे लोहे का गोला अग्नि से भिन्न होकर भी अभिन्न दिखाई पड़ता है । दूसरा एक कारण और भी है कि बुद्धि आकारवती है । अत: वह अचेतन है । चेतन में आकार नहीं है । सो इस मत का खण्डन आचार्य ने इस प्रकार से किया है कि - "ज्ञान चेतन का धर्म है जैसा कि देखना दृष्टत्व धर्म चेतन का है । कर्तृत्व आदि धर्म भी चेतन के ही है, आपने जो ऐसा कहा कि बुद्धि आत्मा के साथ संसर्गित होने से चेतन रूप मालूम पड़ती है । सो चेतन के बारे में भी ऐसा ही कह सकते हैं । अर्थात् चेतन के संसर्ग से आत्मा चेतन दिखाई देता है किन्तु वास्तविक चेतन प्रधान का धर्म है। ऐसी विपरीत मान्यता भी माननी पड़ेगी । तुम कहो कि आत्मा में ज्ञान स्वत: मानें तो आत्मा अनित्य हो जायेगा । इसलिये ज्ञान से भिन्न आत्मा को माना है । सो भी ठीक नहीं है क्योंकि यही दोष प्रधान में भी आता है । अर्थात् प्रधान में बुद्धि मानी जाये तो वह भी अनित्य हो जायेगी, इस पर सांख्य ने युक्ति दी है कि बुद्धि रूप विवर्त अव्यक्त प्रधान से पृथक् है तो फिर ऐसे ही आत्मा में मानो, कोई विशेषता नहीं, आत्मा भी अपने ज्ञान रूप स्वपर संवेदन से कथचित् भिन्न है, अत: यह तो नित्य है और बुद्धि अर्थात् ज्ञान अनित्य है । बुद्धि यदि अचेतन है तो वह प्रतिनियत वस्तु को जान नहीं सकती, जैसे दर्पण।

बुद्धि और चैतन्य में कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता है, व्यर्थ ही उसमें भिन्नता मानते हो। अग्नि और लोहे का दृष्टान्त ठीक नहीं; क्योंकि जब लोहा अग्नि के साथ सम्बन्ध करता है तो वह स्वयं भी अपने कठोरता, कृष्णता आदि गुणों को छोड़कर उष्णादि रूप हो जाता है । इसलिये इनमें सर्वथा भेद नहीं है । बुद्धि में विषय का आकार मानना भी गलत है, क्योंकि बुद्धि तो अमूर्त है उसमें मूर्त्त आकार कैसे आ सकता है ? बुद्धि के जो लक्षण किये गये है वे भी सदोष हैं । प्रथम लक्षण यह कि अन्त:करण रूप जो हो वह बुद्धि है सो यह लक्षण अन्य मत में चला जाता है । अत: अतिव्याप्त है तथा पुरुष के उपभोग की निकटता का जो कारण है, वह बुद्धि है । सो यह लक्षण भी इन्द्रियों के साथ अतिव्याप्त हो जाता है । इसलिये सदोष लक्षण अपने लक्ष्य को सिद्ध नही कर सकता, अन्त में सार यही है कि बुद्धि, आत्मा-पुरुष का धर्म है । उसी के ज्ञान, अध्यवसाय, प्रतिभास, प्रतीति आदि नाम है ।[45]

वादिराज –

ये प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र के रचियता प्रभाचन्द्र के समकालीन और अकलंकदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता हैं । चालुक्यनरेश जयसिंह की राज्य सभा में इनका बड़ा सम्मान था । 1010 से 1065 ई. समय माना जाता है ।[46] ये कवि और तार्किक दोनो थे। इनके द्वारा निम्नलिखित ग्रन्थ प्रणीत हुये -

1. पार्श्वनाथ रचित
2. यशोधर चरित
3. एकीभाव स्तोत्र
4. न्यायविनिश्चय विवरण
5. प्रमाण निर्णय

इनमें से अन्तिम दो दार्शनिक कृत्तियाँ है । न्यायविनिश्चय विवरण अकलंक देव के न्याय-विनिश्चय ग्रन्थ का बीस हजार श्लोक प्रमाण भाष्य है । बौद्ध मत समीक्षा में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक और प्रभाकर के वार्तिकालंकार की इतनी गहरी और विस्तृत आलोचना अन्यत्र देखने में नही आयी । वृर्त्तिकालंकार का आधा भाग इसमें आलोचित है । प्रमाण निर्णय एक लघुकाय ग्रन्थ है । इसके चार प्रकरण है -

1. प्रमाण निर्णय
2. प्रत्यक्ष निर्णय
3. परोक्ष निर्णय
4. आगम निर्णय

वादिदेव सूरि –

ये जैन तार्किकों में प्रमुख तार्किक गिने जाते हैं । विक्रम सं. 1143 (ई. सं. 1086) में इनका जन्म और विक्रम सं. 1226 (ई. सं. 1169) में स्वर्गवास कहा जाता है ।[47] इन्होंने

अकलङ्क वचनाम्भोधि से उद्धृत परीक्षा मुखसूत्र के आधार पर प्रमाण नयतत्त्वालोकालङ्कार की रचना की तथा उसकी स्याद्वाद रत्नाकर टीका भी स्वयं लिखी ।[48] परीक्षा मुख-सूत्र के विषय के साथ इसमें नय परिच्छेद और वाद परिच्छेद नए जोडे गये हैं । शास्त्रान्तरों के नामोल्लेखपूर्वक उद्धरण इस ग्रन्थ की अपनी एक विशेषता है और उस पर से भारतीय दर्शन शास्त्र के विविध ग्रन्थकारों की एक विस्तृत सूची निर्मित की जा सकती है ।[49]

हेमचन्द्र –

ये व्याकरण साहित्य, सिद्धान्त, योग और न्याय के प्रखर विद्वान् थे । इन्होंने इन सभी विषयों पर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं । ये विक्रम सं. 1145-1228 के बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य थे । इनका सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ प्रमाण मीमांसा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । हेमचन्द्र के सामने सुप्रसिद्ध दार्शनिक समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, माणिक्यनन्दि, प्रभाचन्द्र, सिद्धर्षि, अभयदेव इत्यादि पूर्वाचार्यों की समृद्ध न्याय परम्परा थी । उनकी प्रमाणमीमांसा इन सबके दार्शनिक आधार पर खड़ी हुई है ।[50]

यशोविजय –

विक्रम की 18वीं शता. के विद्वान् यशोविजय का नाम नव्यन्याय की शैली में लिखने वाले जैन नैयायिकों में अग्रगण्य हैं । उन्होंने अनेकान्त व्यवस्था नामक ग्रन्थ नव्यन्याय की शैली में लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की । प्रमाण शास्त्र पर जैन तर्क भाषा और ज्ञान बिन्दु लिखकर जैन परम्परा का गौरव बढ़ाया । नय पर भी नय प्रदीप, नयरहस्य और नयोपदेश आदि ग्रन्थ लिखे । नयोपदेश पर इन्होंने नयामृततरंगिणी नामक स्वोपज्ञ टीका भी लिखी । इसके अतिरिक्त अष्टसहस्री पर अपना विवरण लिखा। हरिभद्र कृत शास्त्र वार्त्ता समुच्चय पर स्याद्वाद कल्पलता नामक टीका भी लिखी । भाषा-रहस्य, प्रमाण रहस्य, वाद रहस्य आदि अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त जैन न्यायखण्ड खाद्य और न्यायालोक लिखकर नवीन शैली में ही नैयायिकादि दार्शनिकों की मान्यताओं का खण्डन किया । दर्शन के अतिरिक्त इन्होंने योग, आचार शास्त्र आदि सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे । गुजराती में भी इनके द्वारा साहित्य लिखा गया ।[51]

यशोविजय विरचित ग्रन्थों की सूची –

लभ्यग्रन्थ - 1. अध्यात्ममत परीक्षा (स्वोपज्ञ टीका), 2. अध्यात्मसार, 3. अध्यात्मोपनिषद्, 4. अनेकांतव्यवस्था, 5. आध्यात्मिक मतदलनम् (स्वोपज्ञ टीका), 6. आराधक विराधक चतुर्भंगी (स्वोपज्ञ टीका), 7. अष्टसहस्रीविवरणम्, 8. उपदेशरहस्यम् (स्वोपज्ञ टीका), 9. ऐंद्रस्तुतिचतुर्विंशतिका (स्वोपज्ञ टीका), 10. कर्म प्रकृति टीका, 11. गुरुतत्त्वविनिश्चयः, 12. ज्ञानबिन्दु, 13. ज्ञानसारः, 14. जैन तर्क भाषा, 15. देवधर्म परीक्षा, 16. द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका (स्वोपज्ञ टीका), 17. धर्म परीक्षा (स्वोपज्ञ टीका), 18. धर्म संग्रह टिप्पणम्, 19. नयप्रदीप

(स्वोपज्ञ टीका), 20. नयोपदेश (स्वोपज्ञ नयामृततरंगिणी टीका),21. नयरहस्यम्, 22. निशाभक्तप्रकरणम्, 23. न्याय खंड खाद्यम-वीरस्तवः (स्वोपज्ञ टीका), 24. न्यायालोक, 25. परमात्म पंचविशंतिका, 26. परमज्योति पंच विंशतिका, 27. पातंजलयोग दर्शन विवरणम्, 28. प्रतिमाशतकम्, 29. भाषा रहस्यम् (स्वोपज्ञ टीका), 30. मार्ग परिशुद्धि, 31. यतिलक्षणसमुच्चयः, 32. योगविंशिका टीका, 33.वैराग्यकल्पलता, 34.योग दीपिका (षोडशकवृत्तिः), 35. सामाचारीप्रकरणम् (स्वोपज्ञ टीका), 36. स्यादवादकल्पलता (शास्त्रवार्ता समुच्चयटीका), 38. संखेश्वर पार्श्वनाथ स्तोत्रम्, 39. समीकापार्श्वनाथ स्तोत्रम्, 40. आदिजिनस्तवनम् विजयप्रभसूरिस्वाध्यायः गोडी पाश्वनाथस्तोत्रादिः, द्रवपर्याय युक्तिः इत्यादि ।

अपूर्ण लभ्य ग्रन्थ – 1. अस्पशद्गतिवादः 2. उत्पादव्यय ध्रौव्यसिद्धि टीका, 3. कर्मप्रकृति लघु वृत्ति, 4. कूपदृष्टान्तविशदीकरणम्, 5. ज्ञानार्णवःसटीकः, 6. तिङन्तान्वयोक्तिः, 7. तत्त्वार्थ टीका ।

अलभ्य ग्रन्थ – अध्यात्मोपदेश, 2. अलंकारचूडामणिटीका, 3. अनेकांत प्रवेश, 4. आत्मख्याति, 5. आकरग्रन्थ (?), 6. काव्यप्रकाश टीका, 7. ज्ञानसारावचूर्णिः, 8.छंद चूडामणिः, 9.तत्त्वालोकस्वोपज्ञविवरणम्, 10.त्रिसूत्र्यालोकः, 11.द्रव्यालोकस्वोपज्ञविवरणम्, 12. न्यायबिन्दुः, 13. प्रमाण रहस्यम्, 14. मंगलवादः, 15. लताद्वयम्, 16. वादमाला, 17. वादार्णवः, 18. वादरहस्यम्, 19. विधिवादः, 20. वेदान्त निर्णयः, 21. शठ प्रकरणम्, 22.सिद्धांततर्कपरिष्कार, 23.सिद्धान्तमंजरी टीका, 24.स्याद्वादरहस्य तथा 25.स्याद्वादमञ्जूषा (स्याद्वादमंजरी टीका) ।[52]

अभिनवधर्म भूषण –

ये विक्रम की 15वीं शताब्दी (वि. सं. 1415 से विक्रम सं. 1475 सन् 1358 से 1418) के प्रौढ़ विद्वान हैं । इनकी न्याय विषयक उच्चकोटि की संक्षिप्त एवम् विशद रचना न्याय दीपिका सुप्रसिद्ध है । इसमें धर्म भूषण ने अनेक जगह तत्वार्थश्लोक वार्तिक, प्रमाण परीक्षा, पत्र परीक्षा आदि ग्रन्थों के नामोल्लेख पूर्वक उद्धरण दिए हैं ।

फुट नोट

1. आचार्य कुन्दकुन्द और नियमसार - प्रस्तावना पृ. 9
2. द्वादशानुप्रेक्षा - गाथा 90
3. बोधपाहुड, गाथा 61-62
4. कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ. 121
5. आचार्य कुन्दकुन्द और नियमसार - प्रस्तावना पृ. 11
6. मंगल भगवान् वीरो, मंगलं गौतमोगणी । मंगलंकुन्दकुन्दाद्यो, जैन धर्मोऽतुमंगलम् ।

7. आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवोमहामुनिः । एलाचार्यो गृद्धपृच्छइति तन्नामपञ्चधा ।
8. आचार्य कुन्दकुन्द और नियमसार - प्रस्तावना पृ. 12
9. रयणसार प्रस्तावना
10. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और समयसार पृ. 122
11. भेद विज्ञानतः सिद्धासिद्धा ये किल केचन तस्यैवाभाहावतो बद्धा बद्धा ये किलकेचन ॥ आत्मख्यांति ॥
12. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार - डॉ. लाल बहादुर शास्त्री पृ. 198
13. आत्म कर्मणोरन्योन्य प्रेवशानु प्रवेशात्मकोबंधः ॥ स. सि. अ. 8
सकषयत्वाज्जीवः कर्मणोयोग्यान् पुद्गलानादत्तेसबन्धः ॥ त.सू. 8
14. प्रकृतिस्थत्यनुभाग प्रदेशास्तद्विधयः । पयडीसीलसहावो जीवं गणं अणा इ संबंधो .... । कर्म का. 12
15. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और समयसार पृ. 199
16. प्रीत्यप्रीति विषादात्मकाः प्रकाश प्रवृत्ति नियममार्थाः ।
अन्योन्याभिभवाश्रय जनन मिथुन वृत्तयश्च गुणाः ॥ सा. 12
17. मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ 7 प्र. सा.
18. उदयगदाकम्मंसा जिणवरवसहेहिणियदिणा भणिया ।
तेसुहि मुहिदो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुहवदि ॥ 43 प्र. सा.
19. "नियति कृतनियमरहितम् । ....।
20. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और समयसार पृ. 199-200
21. पूर्वोत्पन्नमसक्तं, नियतं महदादि सूक्ष्म पर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधि वासितं लिंगम् ॥ 40 सां. का.
पूर्वोत्पन्नं प्रकृतितत्त्वेन प्रतिपुरुष मेकैकं सूक्ष्म शरीर मुत्पादितम्, असक्तम्-शिलादावपि प्रवेष्टुशक्तम्, नियतं-तत्व ज्ञानेन कैवल्य लक्षणेऽपवर्गे सत्येव तस्यविनाशोनान्यथा, निरुपभोगं सुखदुःखादि भागासमर्थम् इत्यादि ।
22. "सर्वस्य" "अप्रतिधाते" निरुपभोगमन्त्यम् ॥ त. सू. अ. 2
23. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ. 200-210
24. रत्नकरण्डश्रावकाचार (मणिकचन्द्र ग्रन्थ माला) स्वामी समन्तभद्र शीर्षक प्रबन्ध तथा अनेकान्त वर्ष 14, किरण 11-12 पृ. 3-8
25. अनेकान्त वर्ष 14, किरण 11-12 पृ. 324
तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृ. 184 भाग (2)
26. पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय पृ. 8
27. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री - तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 2) पृ. 211
28. पं. दलसुखलाल माल वणिया - आगम युग का जैन दर्शन पृ. 273
29. जावइया वयणवघ तावइया चैव होति णयवाया । जावइयाणयवाया तावइया चैवहोंतिपरसमया। जं काविलं दरिसणम् एयं दव्वट्ठियस्य त्तव्वं । सुद्धोअणतणअस्सउपरिसुद्धो पज्जवविअण्यो ॥ दोहिं विणेयहिंणीयं सत्यमुलूएणं तहविमिच्छत्तं । जं सविसअप्पहाणत्तणेण अष्णोण्णणिखेक्खा ॥ सन्मतितर्क 3 / 47-59

30. सन्मति तर्क 1 / 10-12
31. प्रभाचन्द्र - न्याय कुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) प्रस्तावना पृ. 25
32. पं. जुगल किशोर मुख्तार द्वारा प्रेषित-'नवीन सूचीपत्रों का सूत्री पत्र' के आधार पर।
33. प्रभाचन्द्र - न्याय कुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) प्रस्तावना पृ. 43
34. इनका समय प्रायः ईसा की तीसरी, चौथी शताब्दी माना जाता है ।
35. पृ. 205, 206
36. प्रमाण परीक्षा (प्रस्तावना) पृ. 111
37. दरबारी लाल कोठिया - आप्त परीक्षा - प्रस्तावना पृ. 40
38. श्रोतव्याष्ट सहस्त्री श्रुतेः किमन्यैः सहस्त्र संख्यानेः ।
विज्ञायेतययैव स्वसमयपंरसमयसद्भावः ॥ अष्ट सहस्त्री पृ. 157
39. प्रमाण-परीक्षा - दरबारी लाल कोठिया द्वारा लिखित प्रस्तामोना पृ. 1
40. जैन न्याय पृ. 37
41. अकलंक वचनाम्भोमोघे रुद्दधेयेन धीमता, न्यायविद्यामूलं तस्मैनमो माणिक्यनन्दिने। प्रमेयरत्नमाला - प्रस्तावना पृ. 38
42. प्रमेयरत्नमाला - प्रस्तावना पृ. 38
43. तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दि भट्टारकः । न्याय दीपिका ।
44. दरबारी लाल कोठिया - आप्त परीक्षा - प्रस्तावना पृ. 35
45. श्री प्रभाचन्द्राचार्य प्रणीत - प्रमेय कमलमार्त्तण्ड - अनुवादिका पू. विदुषो 105 श्री आर्यिकाजिनमती जी पृ. 272-273
46. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 3) पृ. 91-92
47. दरबारी लाल कोठिया - आप्त परीक्षा - प्रस्तावना पृ. 38
48. सिद्धिविनिश्चय टीका (भाग 1) पृ. 42
49. जैन न्याय पृ. 43
50. जैन न्याय पृ. 9
51. डॉ. मोहनलाल मेहता - जैन दर्शन पृ. 1/5
52. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल - जैन तर्क भाषा (प्रस्तावना) पृ. 304 अनुवादक - यशोविजयगणि लिखित
53. दरबारी लाल कोठिया - आप्त परीक्षा - प्रस्तावना पृ. 39-40

तृतीय – परिच्छेद

सांख्य की तत्त्व प्रक्रिया

सांख्य की भूमि में तीन प्रकार के तत्त्व हैं - "व्यक्त", "अव्यक्त" तथा "ज्ञ" चेतन है । "अव्यक्त" को मूला प्रकृति या प्रधान कहते हैं । यह जड़ है । "व्यक्त" के तेईस भेद हैं और ये कार्य कारण की परम्परा में मूला प्रकृति के परिणाम हैं ।

सांख्य के जगत् में ये ही पच्चीस प्रमेय या तत्त्व हैं ।

इन तत्त्वों को समझने के लिए हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि इन तत्त्वों में एक तत्त्व "चेतन" है, जिसे "ज्ञ" या "पुरुष" भी कहते हैं, और अवशिष्ट दोनों "व्यक्त" और "अव्यक्त" जड़ है । "पुरुष" निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त है, अन्य दोनों तत्त्व त्रिगुण अविवेकी आदि धर्मों से युक्त हैं । यह ही तीनों तत्त्व सूक्ष्म जगत् के पदार्थ हैं ।

ये उपर्युक्त तीनों शब्द एक प्रकार से सांख्य दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं । इनका विश्लेषण करते हुए गौड़पाद ने अपने भाष्य में कहा है –

"तत्र व्यक्त महदादि बुद्धिः, अहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि (शब्दतन्मात्रम्, स्पर्शतन्मात्रम्, रुपतन्मात्रम्, रसतन्मात्रम्, गन्धतन्मात्रम्) एकादश इन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि । अव्यक्तं प्रधानम्। ज्ञः पुरुषः । एवमेतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि व्यक्ताव्यक्तज्ञाः कथ्यन्ते । एतद्विज्ञानाच्छ्रेयः इति।"

व्यक्त शब्द से महत् आदि तेईस तत्त्व समझे जाते हैं – बुद्धि, अहङ्कार, शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा तथा गन्ध तन्मात्रा, आँख, कान, नासिका, जिह्वा तथा त्वक् ये पाँच ज्ञान देने वाली इन्द्रियाँ, मुख, हाथ, पैर, वायु और उपस्थ ये पाँच कर्म करने वाली इन्द्रियाँ तथा ग्यारहवाँ मन और आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथिवी ये पाँच महाभूत मिलकर तेईस "व्यक्त" हैं । एक मात्र प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति "अव्यक्त" है एवम् चेतन पुरुष "ज्ञ" है ।[1] इस प्रकार सांख्य भूमि में प्रवेश करने से जिज्ञासु के सामने ये ही पच्चीस तत्त्व सांख्य क्षेत्र के अन्तर्गत दिखाई पड़ते हैं[2]-

मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति विकृतयः सप्त ।
षोडकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।

प्रकृति से लेकर पाँच भूतों तक की श्रृङ्खला सांख्य में चौबीस है और पुरुष को सांख्य दर्शन का पच्चीसवाँ तत्त्व कहा गया है ।

(1) पुरुष

(2) प्रकृति (अव्यक्त) = व्यक्त

(3)	बुद्धि	(10)	मन
(4)	अहंकार अथवा अहंभाव	(11-15)	पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ
(5-9)	शब्द, स्पर्श, गन्ध, रूप, रस की पाँच तन्मात्राएँ	(16-20)	पाँच कर्मेन्द्रियाँ
		(21-25)	पाँचमूर्त तत्त्व अर्थात् ईथर, वायु, तेज, जल और पृथिवी

प्रकृति से उद्‌भूत तेईस तत्त्व कार्य हैं, क्योंकि वे प्रकृति और पुरुष से भिन्न हैं, परिमित परिणाम के है और उनमें प्रधान के गुण रहते हैं जैसे कि बुद्धि तथा आत्मसात् कर लेने की शक्ति और ये तेईस तत्त्व पुरुष के साधन रूप बनते हैं ।[3]

इन तत्त्वों का इनके स्वरूप के अनुसार ईश्वर कृष्ण ने सांख्य कारिका में इस प्रकार वर्णन किया है - "मूलप्रकृतिरविकृति" ..... ॥

कारिका में 25 तत्त्वों का वर्णन इस प्रकार किया गया है - मूल प्रकृति विकृति नहीं है; महत्तत्त्व आदि प्रकृति विकृति है; 16 विकृतियाँ ही है; पुरुष न प्रकृति है न विकृति ।[4]

कारिका में 25 तत्त्वों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है -

1. मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, विकृति नहीं । अन्य वस्तुएँ इससे बनती है, यह आप किसी कारण का कार्य नहीं है ।
2. महत् अहंकार और पाँच तन्मात्रा़ें प्रकृति और विकृति दोनों हैं । यह मूल प्रकृति से बनते हैं और आप अन्य तत्त्वों के कारण भी है ।
3. दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच महाभूत यह केवल विकृति ही है; यह केवल कार्य ही है अन्य किसी तत्त्व के कारण नहीं ।
4. पुरुष न किसी तत्त्व से बनता है और न कुछ इससे बनता है ।

पुरुष के अतिरिक्त, 24 तत्त्वों में हम मूल प्रकृति और इसके विकारों को देखते हैं।

इस तरह, सांख्य के अध्ययन में तीन प्रमुख विषय हैं -

1. व्यक्त या दृष्ट जगत्   2. अव्यक्त या मूल प्रकृति   3. ज्ञ या पुरुष

व्यक्त –

"महत् तत्त्व" से लेकर पंचभूत पर्यर्न्त सभी "व्यक्त" है। ये सभी अपने-अपने कारण से उत्पन्न होते हैं और ये अनित्य, अव्यापक, सक्रिय, अनेक, आश्रित, सावयव और परतन्त्र है।[5] इनमें प्रत्येक में तीन गुण हैं। वे ही गुण संस्थान भेद से नाना रूपों को अभिव्यक्त करते हैं। इन गुणों में आपस में, "आश्रिततत्त्व" है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्त अपने-अपने कारण में आश्रित है। ये "लिंग" हैं अर्थात् लय के समय में प्रत्येक "व्यक्त" अपने-अपने कारण में "लय" को प्राप्त होता है।

जगत् तो अनेक पदार्थों का समूह है ही; प्रत्येक पदार्थ भी मिश्रित (अवयवी) है। प्रत्येक वस्तु अन्य वस्तुओं से सीमित है; यदि यहाँ है, तो वहाँ नहीं, वहाँ है तो यहाँ नहीं। यह सब कुछ तो स्पष्ट है ही; सांख्य इसके साथ यह भी कहता है कि द्रष्ट जगत् की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है। यह कार्य है, परतन्त्र है, अपने कारण (अव्यक्त) पर आश्रित है और उसका चिह्न है। कार्य होने से यह अनित्य भी है।

पश्चिम में भी व्यक्त जगत् का स्वरूप दार्शनिक विवेचन का एक प्रमुख विषय रहा है। डेकार्ट ने (जिसे आधुनिक दर्शन का पिता कहा जाता है) जगत् में पुरुष और प्रकृति के भेद पर बल दिया और "विस्तार" को प्रकृति का मौलिक गुण बताया। लाइबनित्ज ने भी कहा - कि क्रिया सारी सत्ता का तत्त्व है। हर्बर्ट स्पेन्सर ने भी व्यक्त जगत् को अनित्य, आश्रित और परतन्त्र देखा।[6]

अव्यक्त –

सत्त्व, रजस् तथा समस् इन तीनों गुणों की साम्यावस्था सूक्ष्म होने के कारण परोक्ष है।[7] बुद्धि द्वारा इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। यह अनुमान से सिद्ध होता है। "महत् तत्त्व" आदि इसके कार्य हैं। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। अतएव महत् आदि का जो कारण है, वही "प्रधान", "अव्यक्त" या प्रकृति है।[8]

"मूला-प्रकृति" अव्यक्त है, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता। अतएव इसके अस्तित्व के सम्बन्ध में साधारण लोगों को सन्देह उत्पन्न होता है कि प्रकृति है या नहीं ? इसलिए युक्तियों के द्वारा "प्रकृति" (अव्यक्त) के अस्तित्व को सिद्ध करते है -

1. भेदाना परिमाणात् – यह कारण है। महत् आदि तेईस तत्त्व सीमित परिणाम के है। सीमित परिणाम वाले कार्यों को उत्पन्न करने के लिए एक व्यापक कारण का होना आवश्यक है। यही "प्रकृति" या "अव्यक्त" रूप व्यापक कारण है।

2. भेदानां समन्वयात् – "महत्" आदि तत्त्व भिन्न-भिन्न है, फिर भी इन सब में एक साधारण धर्म है, जो सबको एक सूत्र में बाँधता है जो "समन्वय" करने वाला अर्थात् एक भाव को सर्वत्र रखने वाला है वही "अव्यक्त" है ।

3. (भेदानां) शक्तितः प्रवत्तेश्च – महत् आदि तत्त्वों में सरूप तथा विरूप परिणाम के लिए प्रवृत्ति है । यह प्रवृत्ति व्यक्तों में किसी विशेष "शक्ति" के कारण होती है । यह शक्ति प्रत्येक व्यक्त में भिन्न-भिन्न है, ऐसा स्वीकार करने में गौरव है। अतएव एक शक्ति का आश्रय मानना आवश्यक है । जो सभी व्यक्तों में सरूप-विरूप परिणाम की योग्यता को उत्पन्न करे । यह आश्रय "अव्यक्त" है । वस्तुतः "मूला-प्रकृति" या "अव्यक्त" में ही तीनों गुण है । गुणों में ही परिणाम की शक्ति है । यह शक्ति प्रत्येक व्यक्त में मूला प्रकृति से ही आती है और इसीलिए इन व्यक्तों में परिणाम होता है ।[9]

4. कारण–कार्य–विभागात् – कारण और कार्य के रूप में तत्त्वों का विभाग किया जाता है, जैसे "महत्" और "अहंकार" उसका कार्य । इसी प्रकार महत् भी तो कार्य है, उसका कारण होना चाहिए । वही कारण रूपा शक्ति "अव्यक्त" है ।

5. अविभागाद् वैश्वरूप्यस्य – सांख्य शास्त्र में कारण और कार्य में तादात्म्य मानते हैं । "सरूप या सदृश परिणाम" के समय "कार्य" अपने कारण में लीन होकर एक हो जाता है । अतएव जिसमें "महत्" आदि कार्य सभी लीन होकर एक प्रतीत होते हैं वही "अव्यक्त" हैं ।

इन युक्तियों से सभी कार्यों का कारण रूप, "एक", "अनाश्रित", "निरवयव", "स्वतन्त्र", "नित्य" आदि धर्मों से युक्त एक "अव्यक्त" या "मूला प्रकृति" है यह प्रमाणित होता है ।[10]

ज्ञ अथवा पुरुष –

समस्त इन्द्रियधारी प्राणियों में आत्म निर्णय का एक तत्त्व विद्यमान है, जिसे सामान्यतः आत्मा नाम दिया जाता है । वस्तुतः प्रत्येक प्राणी के अन्दर, जिसमें जीवन है, आत्मा विद्यमान है । "मै" और "मेरा" ये सभी व्यक्तियों के सहज स्वभाविक अनुभव है। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अपना अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि अस्वीकार करने के लिए भी चेता "आत्मा" की आवश्यकता है । इसलिए सांख्य का कहना है कि आत्मा (पुरुष) का अस्तित्व स्वयंसिद्ध (स्वतः प्रकाश) है और इसकी सत्ता का किसी प्रकार खण्डन नहीं किया जा सकता ।

पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए सांख्य अनेक युक्तियाँ देता है[11] –

1. वस्तुओं का पुञ्ज किसी दूसरे के लिए होता है । गौडपाद कहता है कि जैसे- एक शय्या, जो हिस्सों से मिलकर बनती है; उस पुरुष के लिए है जो उस पर सोता है, इसी प्रकार यह संसार जो पाँच तत्त्वों का संग्रह है, अन्य के उपभोग के लिए है, एक आत्मा है, जिसके सुखोपभोग के लिए यह उपभोग्य शरीर है, बुद्धि इत्यादि सहित उत्पन्न किया गया है ।

2. समस्त जानने योग्य पदार्थों में तीन गुण होते हैं और इनमें उनके एक दृष्टा आत्मा की, जो स्वयं गुणों से रहित है, पूर्व कल्पना होती है ।

3. एक ऐसी अधिष्ठात्ता शक्ति का, एक विशुद्ध चेतनता का होना आवश्यक है, जो समस्त अनुभवों का समन्वय करने वाली हो ।

4. क्योंकि प्रकृति बुद्धि शून्य है, इसलिए प्रकृति से उत्पन्न पदार्थों का अनुभव करने वाला कोई अवश्य होना चाहिए ।

5. जीवन की अवस्थाओं से छुटकारा पाने की उत्कृष्ट अभिलाषा का यही तात्पर्य है कि ऐसा कोई यथार्थ सत्तावान् अवश्य है जो छुटकारा अवश्य दिला सकता है ।[12] हमारे अनुभवों का एक इकाई में सुसंघटित होना आत्मा की उपस्थिति के कारण है, जो भिन्न-भिन्न चेतन अवस्थाओं को एकत्र रखती है । विशुद्ध आत्मा ही आत्मा है, जो शरीर अथवा प्रकृति से भिन्न है ।[13]

पुरुष तथा प्रकृति के लक्षण स्वभाव से परस्पर प्रतिकूल है । प्रकृति अचेतन है, जबकि पुरुष सचेतन है । प्रकृति क्रियाशील और सदा संक्रमणशील है, जबकि पुरुष अकर्ता है । पुरुष बिना किसी परिवर्तन के निरन्तर रहने वाला है जबकि प्रकृति परिवर्तन सहित निरन्तर रहने वाली है । प्रकृति त्रिगुणात्मक है, जबकि पुरुष निर्गुण है । पुरुष प्रकृति से सम्बद्ध नहीं है, यह अकेला, उदासीन और निष्क्रिय दर्शक है ।[14]

इस प्रकार प्रमाणतः प्रसिद्ध सत्तावाली प्रकृति इस क्रम से तत्त्व की सृष्टि में प्रवृत्त होती है -

प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ।सां. का. 22

प्रथम प्रकृति से महान् उत्पन्न होता है जो कि एक व्यापक है विषयाध्यवसाय रूप है और सृष्टि से लेकर प्रलय तक स्थायी है । वह हम लोगों के अनुभव का विषय नहीं है उसमें प्रतिप्राणी विभिन्न जो बुद्धि वृत्तियाँ निःसरित होती हैं उनका अनुभव होता है उसमें "मैं मोटा हूँ", मैं रूपवान् हूँ, ऐसा प्रतिप्राणी विभिन्न अहंकार का विस्तार होता है । जैसे जल निधि में विभिन्न प्रकार की तरंगें पैदा होती है । वह अहंकार दो प्रकार का होता है-

1. वैकारिक 2. भूतादि[15]

सत्त्व प्रधान वैकारिक ग्यारह प्रकार का होता है - पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, घ्राण) पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, वाक्, पायु और उपस्थ) तथा सङ्कल्प रूप मन (मुझे स्वर्ण की अथवा धन की प्राप्ति होगी इस प्रकार की संकल्प वृत्ति मन है) भूतादि की पञ्चतन्मात्रायें ये नित्य स्वभाव वाली है । पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं ।

इस प्रकार सांख्य-भूमि में प्रवेश करने से जिज्ञासु के सामने ये ही पचीस तत्त्व सांख्य क्षेत्र के अन्तर्गत दिखाई पड़ते हैं । इन्हीं का विशेष ज्ञान प्राप्त करने पर दु:ख की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति होती है । कहा भी है - जटाधारी होकर, या शिर के बालों का मुण्डन कर, या शिर पर शिखा रखकर किसी आश्रम में रहता हुआ जो कोई इन पचीस तत्त्वों को जानता है, वह निस्सन्देह (दु:ख से) मुक्त होता है । इसलिए इन पचीस तत्त्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।[16]

जगत् के प्रपञ्च का कारण प्रधान –

सांख्य दर्शन के अनुसार एक ही नित्य प्रकृति से समस्त संसार की अभिव्यक्ति होती है । यह अचेतन जगत् एक ही अचेतन प्रकृति का परिणाम है । अत: सभी कार्यों का मूल उपादान प्रकृति ही है ।[17] पुरुष तत्त्व व्यापक, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य और ज्ञानादि परिणाम से शून्य केवल चेतनं है । यह पुरुष तत्त्व अनन्त है, सबकी अपनी अलग-अलग सत्ता है। प्रकृति जिसे प्रधान भी कहते हैं, परिणामी नित्य है। इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है ।[18] यह एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है, और महान् आदि विकारों को उत्पन्न करती है। कारण रूप प्रधान अव्यक्त कहा जाता है और कार्य रूप व्यक्त है ।

त्रिगुणम–विवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।। सांख्य का.।।

सांख्य लोग संसार के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति प्रकृति से मानते हैं और उसे अचेतन या जडात्मक कहते हैं । इस प्रकृति का ही दूसरा नाम प्रधान है । यह प्रकृति संसार को उत्पन्न करती है किन्तु वह स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती । वह व्यापक है, एक है, अवयव रहित और अनाश्रित है अर्थात् वह स्वतन्त्र है, अपने कार्य रूप व्यापार के लिए किसी पर आश्रित नहीं है । सृष्टि के आरम्भ काल में प्रकृति अपने भीतर से ही सारे संसार को उत्पन्न करती है और प्रलय काल में सारे तत्त्वों को अपने भीतर लय कर लेती है । वह स्वयं किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होती, अत: अजन्मा है, अर्थात् महान् अहंकारादि अन्य तत्त्वों की जननी होकर भी स्वयं किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होती । इसका मूल स्वरूप दृष्टिगोचर

नहीं होता अतः इसे अव्यक्त कहते हैं और इसके कार्य दृष्टिगोचर होते हैं अतः इसे व्यक्त कहते हैं । पुरुष को छोड़कर समस्त तत्त्वों के उत्पन्न करने का प्रधान कारण होने से इसे प्रधान भी कहते हैं ।[19]

जगत् का मूल कारण यही त्रिगुणात्मिका, सुख दुःख मोहस्वरूपा प्रकृति है। जो सर्वव्यापक, अपरिच्छिन्न, अपरिमित एवम् परम् अव्यक्त है ।[20] यह प्रकृति स्वरूपतः अचेतन है किन्तु चेतन पुरुष का सहयोग प्राप्त कर वह अपने में से ही अखिल जगत् का आविर्भाव करने में समर्थ होती है । उसी का सत्-परिणाम यह सुख-दुःख मोहात्मक अचेतन जगत् है । यह प्रकृति सत्त्व, रजस्, तमस् त्रिविध गुणों की साम्यावस्था है। महत्तत्त्व, अहंकार, इन्द्रिय, तन्मात्रा, स्थूल महाभूत रूप से सम्पूर्ण जगत् की अभिव्यक्ति इसी एक प्रधान या प्रकृति से ही होती है।[21]

इसलिए जगत् का जो मूल कारण है उसी की "प्रकृति" संज्ञा है । सभी कार्यों का मूल यह प्रकृति ही है । इसका मूल कोई अन्य कारण नहीं है । इसलिए यह मूल प्रकृति है।

"मूले मूलाभावादमूलं मूलम्" । सां. सू. 1/67

किसी कारण का कार्य अथवा विकार न होने से यह अविकृति भी है ।[22] कारण परम्परा की सूक्ष्मतम अवस्था, परम पराकाष्ठा की उपलब्धि इसी प्रकृति में है । अतः इसकी संज्ञा परम अव्यक्त है । इसी कारण यह प्रकृति अहेतुमती एवम् अलिङ्ग है । समस्त सृष्टि का इसी में तिरोभाव, विलय होता है । अतः इस प्रकृति की संज्ञा "प्रधान" भी है ।[23]

इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविधि गुण धर्म नहीं, अपितु स्वरूप हैं, तादात्म्यरूप है -

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वम्" – सां.सू. 6/39

इन्हीं गुणों की संज्ञा प्रधान है -

"एते गुणाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति" योगभाष्य 2/18

गुणों के कारण ही यह प्रकृति सतत परिणामिनी है । इस परिणाम से वह कभी भी विरत नहीं होती । यहाँ तक कि प्रलयकालीन दशा में भी उसमें परिणाम होता ही रहता है। क्योंकि गुणों का परिणाम तो स्वभाव ही है । बिना परिणाम प्राप्त किये वे एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकते ।[24] परिणाम के कारण ही प्रकृति नित्य प्रसव धर्म वाली है । अहेतुमती होने पर भी वह सभी प्रकार के कार्यों को उत्पन्न करने वाली है । इसीलिए वह विभु एवम् सर्व व्यापक है ।[25]

सतत परिणामिनी होने पर भी प्रकृति निष्क्रिय है । क्योंकि परिस्पन्दन रूप क्रिया का उसमें सर्वथा अभाव है । महत्तत्त्व, अहंकार इत्यादि उपात्त देह का परित्याग तथा देहान्तर

का ग्रहण करते रहते है। विभु होने के कारण प्रकृति में इस प्रवेश एवम् निःसरण रूप क्रिया का अभाव है। विभु होने से ही प्रकृति एक है, अनेक नहीं। यह अनाश्रित तथा स्वतन्त्र है। कार्योत्पादन में स्वयं समर्थ है। महतत्त्व, अहंकार इत्यादि कार्यों की उत्पत्ति में वह परतन्त्र नहीं है। किसी तत्त्वान्तर में विलय न प्राप्त करने के कारण वह प्रकृति "अलिङ्ग" है -

"प्रलयकाले ह्याकाशादयः पञ्च यथाक्रम शब्दादितन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो महति, महान् प्रधाने इति। विपरीतमव्यक्तम्। न कुत्रचिदिंद लीयते, अहेतुत्वात्"। सां. का. 10 जयमङ्गला।

यह प्रकृति निरवयव है। इसमें परस्पर संश्लेष एवम् मिश्रण का अभाव है। महत्तत्त्व, अहंकार इत्यादि कार्य तो प्रकृति के तद्‌रूप, तादात्म्य रूप है तथा त्रिविध गुणों में अप्राप्तिपूर्विकाप्राप्ति रूप संयोग का भी अभाव है। क्योंकि गुण तो प्रकृति का स्वरूप ही है। साथ ही यह प्रकृति अविवेकी, विषय, सामान्य एवम् अचेतन है।[26] इस प्रकार सांख्य सिद्धान्त के अनुसार समस्त सृष्टि की अभिव्यक्ति एक ही नित्य त्रिगुणात्मिका अचेतन प्रकृति से होती है।[27]

डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में - प्रकृति इतनी सत् नहीं है जितनी कि शक्ति है। तीनों गुणों की साम्यावस्था होने के कारण यह समस्त भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनों का आधार है। यह विशुद्ध क्षमता है। हम प्रकृति तथा गुणों के यथार्थ रूप को नहीं जानते; क्योंकि हमारा ज्ञान दृश्यमान जगत् तक सीमित है। यह शब्द तथा स्पर्श से रहित है, जो क्रियात्मक रूप में एक सीमा है जिससे परे हम नहीं जान सकते। यह अनुभाविक रूप में एक अमूर्तभाव है, केवल नाम मात्र है किन्तु इसकी सत्ता को समस्त सृष्टि की पूर्वभूमिका के रूप में स्वीकार करना ही होगा।[28]

वृत्तिकार ने सांख्य की उक्त मान्यताओं में से कुछ का प्रत्यक्ष रूप से खण्डन किया है और कुछ का अप्रत्यक्ष रूप से खण्डन किया है। पहली बात तो यह है कि उक्त प्रकार के प्रधान की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती। दूसरी बात यह है कि अमूर्त आकाश और मूर्त पृथिवी आदि की उत्पत्ति एक कारण से कैसे हो सकती है ? यदि किसी कारण से विजातीय कारण की उत्पत्ति मानी जाए तो अचेतन भूतों से चेतन की उत्पत्ति भी मानना चाहिए।[29] जब एक ही प्रधान का अस्तित्व संसार में है तो उस एक तत्त्व से महान् अहंकार रूप (चेतन) और रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि (अचेतन) इस तरह परस्पर दो विरोधी कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? एक कारण परस्पर अत्यन्त विरोधी दो कार्यों को उत्पन्न नहीं कर सकता।[30]

शक्ति करण और कार्य के भेद से प्रधान के तीन भेद –

प्रकृति रूप एकान्त में अर्थ क्रिया सिद्ध है - क्योंकि वह विचार सह है। सांख्य लोग निस्तरङ्ग समुद्र के समान प्रधान को संसार की रचना का कारण मानते हैं। "प्रधीयतेऽस्मिन्

विकारा:'' अथवा ''प्रतिधीयन्तेऽस्मिन् विकारा:'' इति प्रधानम्'' यह प्रधान शब्द की व्युत्पत्ति है । प्रधान शक्ति, करण और कार्य के भेद से संक्षेपत: तीन प्रकार का है -

शक्तिः करणं कार्यम् इति त्रेधा जगत्स्थितम्
कार्य भूतानि करणंखानि शक्ति गुणत्रयम् ।[31]

तन्मात्र और महाभूतात्मक दशविध कार्य –

अहङ्कार से शब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा तथा गन्ध तन्मात्रा ये पाँच तन्मात्राएँ, क्रमश: अभिव्यक्त होती है । ''तदेवइति तन्मात्रम्'' अर्थात् केवल ''वही'', अन्य कुछ नहीं। अर्थात् केवल शब्द, केवल स्पर्श, केवल रूप, केवल रस तथा केवल गन्ध । इसीलिए इसे अविशेष[32], या सूक्ष्मभूत भी ज्ञानी लोग कहते हैं । अहङ्कार के तामस अंश से ये पाँच तन्मात्राएँ अभिव्यक्त होती हैं ।[33]

अहङ्कार और स्थूल भूतों के मध्य में सृष्टि के विकास की एक विशेष अवस्था तन्मात्राओं की अभिव्यक्ति की है । परिणाम क्रमिक होता है । सृष्टि का विकास भी क्रमिक ही होगा। प्रत्येक अभिव्यक्ति के स्वरूप का निरूपण करना आवश्यक है । ऐसा करने से ही सृष्टि तथा ज्ञान के विकास में क्रम एवम् तारतम्य दिखाये जा सकते हैं । इसलिए तन्मात्राओं की अवस्था में सूक्ष्म रूप में भोग की सभी अनुभूतियाँ हैं, किन्तु वे इस स्वरूप में व्यक्तोन्मुख हैं, व्यक्त नहीं हो सकते । इनमें प्रत्येक में सत्त्व, रजस् और तमस् तारतम्य के भेद के अनुसार विद्यमान है ।[34]

इन पाँच तन्मात्राओं से क्रमश: पाँच भूतों की अभिव्यक्ति होती है - ''पञ्चभ्य: पञ्चभूतानि'' ।[35]

किं. च पञ्चभ्य: पञ्चभूतानि । तस्मात् षोडशकाद्गणात् पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्य: सकाशात् पञ्चवेमहाभूतानि उत्पद्यन्ते । यदुक्तम् शब्दतन्मात्राद् आकाशम्, स्पर्शतन्मात्राद्र वायु:, रूपतन्मात्रात् तेज:, रस तन्मात्राद्र आप:, गन्धतन्मात्रात् पृथिवी । एवं पञ्चभ्य: पञ्चमहाभूतानि उत्पद्यन्ते ।[36]

पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूतों की अभिव्यक्ति होती है । तन्मात्राएँ अविशेष अर्थात् सूक्ष्म है, किसी धर्म से व्यक्त रूप में सम्पन्न नहीं है । इन पाँचों से (क्रमश:) पाँच भूत अभिव्यक्त होते हैं । ये पाँच भूत ''विशेष अर्थात् स्थूल'' हैं ।

इस प्रकार पाँच तन्मात्राएँ और महाभूत यह दसों अहङ्कार के कार्य हैं । इनमें कुछ उत्पन्न नहीं होता अत: यह किसी के कारण नहीं है, केवल कार्य ही हैं ।

तेरह प्रकार का करण –

तेरह करण है। उनमें पाँच बुद्धीन्द्रियाँ प्रकाश रूप व्यापार करती हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ आहरण रूप व्यापार करती हैं, तथा बुद्धि, अहङ्कार और मनस् ये तीन अन्तःकरण धारण रूप व्यापार करती हैं।[37] ईश्वर कृष्ण ने इनका वर्णन निम्न प्रकार किया है[38] –

करणं त्रयोदशविधं तदाहरणधारणप्रकाशकरम्।
कार्यं च तस्य दशधाहार्यं धार्यं प्रकाश्यं च॥
अन्तः करणं त्रिविधं दशधा ब्राह्यंत्रयस्यविषयाख्यम्।
साम्प्रतकालं बाह्यं त्रिकालमाभ्यन्तरं करणम्॥

करण तेरह प्रकार के हैं। वे आदान, धारण तथा प्रकाश करने वाले हैं। इनका आहार्य, धार्य और प्रकाश्य-प्रत्येक कार्य दश प्रकार का है।[39] ग्यारह इन्द्रियाँ, बुद्धि तथा अहङ्कार ये तेरह प्रकार के करण है। करण (व्याकरण प्रसिद्ध) कारकों में अन्यतम (साधकतम रूप) हैं।[40] व्यापार (क्रिया) सम्बन्ध के बिना कारक नहीं होता। इसलिए उसकी कार्यवत्ता बताते हैं - "ये यथा-योग्य आहरण, धारण तथा प्रकाशन रूप क्रिया करते हैं।" इनमें वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का आहरण (ग्रहण) करती हैं, अर्थात् अपने-अपने व्यापार से उन्हें व्याप्त करती हैं। बुद्धि, अहङ्कार और मनः अपने प्राणादि रूप व्यापार द्वारा (देह का) धारण करते हैं, कर्ण आदि ज्ञानेन्द्रियाँ शब्द, स्पर्श आदि को प्रकाशित करती है।[41]

आहरण और धारण आदि क्रियाओं के सकर्मक होने से इनका कर्म या विषय क्या है? और वह कितने प्रकार का है? यह "कार्यं च तस्य" (उसका कार्य) आदि के रूप में बताते हुए कहते हैं किउन तेरह प्रकार के करणों का आहार्य, धार्य और प्रकाश्य रूप कार्य का कर्म (विषय) दस प्रकार है। आहार्य अर्थात् व्याप्त। कर्मेन्द्रियों के वचन, आदान, विहरण, उत्सर्ग या त्याग एवम् आनन्द यथायोग्य रूप में व्याप्य हैं और ये यथा योग्य रूप से दिव्य या देवभोग्य एवम् अदिव्य या देव भिन्न मनुष्य आदि के द्वारा भोग्य होने के कारण दस हैं। इस प्रकार आहार्य दस प्रकार के हैं।[42]

इसी प्रकार त्रिविध अन्तःकरण का प्राण इत्यादि अपने पाँचों व्यापारों के द्वारा धारण करने योग्य कर्म शरीर है और यह पृथ्वी इत्यादि पाँच भूतों से बना है। इन भूतों में पृथिवी, शब्द, स्पर्श आदि पाँचों तन्मात्राओं का समूह होता है। ये पाँच दिव्य और अदिव्य रूप से द्विविध होने के कारण दस होते हैं। इस प्रकार "धार्य" भी दस प्रकार का होता है यह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच प्रकाश्य विषय ज्ञानेन्द्रियों से यथा-योग्य व्याप्त होते हैं और वे भी दिव्य तथा अदिव्य रूप से दस होते हैं। इसलिए प्रकाश्य भी दस प्रकार के हैं।[43]

"अन्तःकरण त्रिविधं" अर्थात् अन्तःकरण तीन है और बाह्यकरण दस है । ये दस बाह्यकरण तीनों अन्तःकरणों के भी विषय होते हैं । अन्तःकरणों के भी विषय होते हैं । अन्तःकरण बुद्धि, अहङ्कार तथा मन के भेद से तीन प्रकार हैं । ये शरीर के अन्तर्गत होने से अन्तःकरण कहलाते हैं । बाह्यकरण दस प्रकार के हैं । ये बाह्यकरण तीनों अन्तःकरणों के विषयों को प्रस्तुत करते हैं अर्थात् विषयों के सम्बन्ध में होने वाले सङ्कल्प, अभिमान और निश्चय के द्वार या साधन बनते हैं । इनमें ज्ञानेन्द्रियाँ आलोचन (विषय-प्रकाशन) द्वारा और कर्मेन्द्रियाँ अपने यथायोग्य व्यापारों के द्वारा सहायक होती है ।[44] इस प्रकार अन्तःकरण के दो व्यापार है - धारण तथा सभी विषयों का अवगाहन अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना । बाह्यकरण के व्यापार के लिए विषयों की विद्यमानता आवश्यक है, किन्तु अन्तःकरणों के लिए, अतीत, अनागत तथा वर्तमान तीनों काल में रहने वाले विषयवस्तु होते हैं । तीनों अन्त-करण द्वारि हैं और बाह्य करण द्वार है । साक्षात् या परम्परया दस बाह्यकरणों के द्वारा ही अन्तःकरण विषयों का अवगाहन करते हैं ।[45]

प्रकृति रूपा शक्ति एक ही है –

सांख्य प्रकृति की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है कि यह तत्त्वों का एक अत्यधिक सम्मिश्रण है जो सदा परिवर्तित होता रहता है । प्रकृति का प्रत्यक्ष नहीं होता। वह बहुत सूक्ष्म है । कार्य कारण भाव के सिद्धान्त के आधार पर अनुमान द्वारा यह परिणाम निकलता है कि इस आनुभाविक विश्व का परम (अन्तिम) आधार प्रकृति है ।[46] सांख्यकारिका में प्रकृति रूप शक्ति एक ही है इसे सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं -

भेदनां परिमाणात् समन्वयातौ शक्तिततः प्रवृत्तेश्च
कारणकार्यविभागादविभागाद्वेश्वरूप्यस्य ॥15॥

कारणमस्त्यव्यक्तम् प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च
परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ॥16॥

1. भेदानां परिमाणात् –

अर्थात् महत् आदि तेईस भेद व्यक्त परिमित है अर्थात् इनका परिणाम सीमित है । यह देखा जाता है कि संसार में जितने कार्य हैं वे सब सीमित हैं, और सीमित कार्यों को उत्पन्न करने के लिए एक कोई असीमित कारण होना चाहिए, जिससे इन सभी भेदों का संसर्ग हो । यदि प्रकृति इनका कारण न होती तो सभी व्यक्त निष्परिणाम होते । अतएव इन सीमित व्यक्तों का एक असीमित कारण प्रकृति या अव्यक्त है।[47]

2. भेदानां समन्वयात्[48] –

महत् आदि तत्त्व भिन्न-भिन्न हैं, तथापि इन सबमें एक प्रकार का साधारण धर्म है जो सबको एक सूत्र में बाँधता है । जो समन्वय करने वाला अर्थात् एक भाव को सर्वत्र रखने वाला है वही अव्यक्त है ।

3. (भेदानां) शक्तितः प्रवृत्ते –

शक्तितश्चेति[49] – कारण की शक्ति से ही कार्य का उद्‌भव होने से सभी कार्यों का मूल कारण परम् अव्यक्त सिद्ध होता है और वह प्रकृति ही है । सत्कार्यवाद के अनुसार कारण की शक्ति से ही कार्य की उत्पत्ति होती है । समर्थ शक्ति समन्वित कारण ही कार्य को उत्पन्न करता है । इसके विपरीत असमर्थ शक्ति रहित कारण कभी भी कार्य को उद्‌भूत नहीं कर सकता और इस सिद्धान्त के अनुसार कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान कार्य ही उस कारण की शक्ति है तथा कारण व्यापार द्वारा कारण की यही निहित शक्ति कार्य के रूप में अभिव्यक्त होती है । इस प्रकार कारण तिल की शक्ति उसमें अनभिव्यक्त रूप से स्थित कार्यरूप से स्थित कार्य तेल ही है । इसीलिए तिल के पेडन से तैल की उद्‌भूति होती है । अतः तैल रूप शक्ति से युक्त समर्थ कारण तिल से ही कार्य तैल की अभिव्यक्ति होने से सभी कार्यों के मूल कारण अव्यक्त की सिद्धि होती है । सिकता में तैल उत्पादन की शक्ति नहीं है अतः सिकता से तैल की प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः जैसे - घट, पट, मुकुट तैल इत्यादि सभी कार्य अपनी विशिष्ट शक्तियों से युक्त कारण मृत्तिका, पिण्ड, तन्तु, हेमपिण्ड तिल इत्यादि से ही उत्पन्न होते हैं । वैसे ही महत्तत्त्व इत्यादि कार्य भी किसी समर्थ कारण की शक्ति की अभिव्यक्ति है । यही वह मूल तत्त्व प्रकृति है । इस प्रकार कारण की शक्ति से कार्य का आविर्भाव होने से सभी कार्यों का मूल कारण अव्यक्त रूप प्रकृति की सिद्धि होती है ।[50]

4. (भेदानां) कारण–कार्य–विभागात् –

कारण से ही सभी प्रकार के कार्यों का आविर्भाव होने से समस्त कार्यों का मूल कारण अव्यक्त, प्रकृति की सिद्धि होती है । कारण और कार्य के रूप में तत्त्वों का विभाग किया जाता है, जैसे महत् कारण है और अहंकार उसका कार्य है । इसी प्रकार महत् भी तो कार्य है, उसका भी कोई कारण अवश्य होगा । अन्य सभी कार्य रूप तत्त्व में इसी प्रकार कार्य और कारण के रूप में विभाग देखा जाता है । कार्य कारण रूप में विभाग होने से के कारण उनके परिणाम रूप प्रवृत्ति में भी भेद है। अतएव महत् का भी कोई कारण है वही कारण अव्यक्त प्रकृति है ।[51]

5. अविभागाद् वैश्वरुप्यस्य –

कारण से कार्य का अविभाग होने से अर्थात् अपने कारण में ही कार्य का विलय होने से समस्त कार्यों का मूल कारण अव्यक्त प्रकृति सिद्ध होती है। सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी है। अतएव वस्तुत: कारण और कार्य में भेद नहीं है। कारण का स्वरूप यही है कि सरूप या विरूप परिणाम के समय में कार्य अपने-अपने कारण में अव्यक्त रूप में लीन दिखाई पड़ता है। कार्य रूप में विद्यमान पाँच भूतलयावस्था में क्रमश: अपने-अपने कारण पाँच तन्मात्राओं में अव्यक्त रूप में लीन होकर उनके साथ तादात्म्यस्वरूप धारण करते हैं। इसी प्रकार तन्मात्राएँ अहङ्कार में अव्यक्त हो जाती है और ''अहङ्कार'' महत् में लीन होकर अव्यक्त हो जाता है। इस प्रकार ''महत्'' रूप कार्य भी अपने कारण में लीन होकर जब अव्यक्त होगा तभी समस्त विश्व में तादात्म्य या अविभाग सिद्ध होगा और वास्तव में तभी सत्कार्यवाद की सिद्धि हो सकती है। अतएव जिसमें क्रमश: ''महत्'' आदि सभी व्यक्त अन्ततोगत्वा साक्षात् या परम्परा रूप में लीन होकर अव्यक्त होते हैं और सत्कार्यवाद को सिद्ध करते हैं वही अव्यक्त प्रकृति है।[52]

इस प्रकार सभी कार्यों की अपने ही कारण से अभिव्यक्ति तथा पुन: अपने ही कारण में विलय होने से कारण की शक्ति से कार्य का आविर्भाव होने से, सभी कार्यों के परिमित होने से तथा कार्यों का कारण के साथ समन्वय होने से यह सिद्ध होता है कि समस्त कार्यों का एक ही मूल कारण है और वह परम् अव्यक्त प्रकृति रूपा शक्ति ही है।[53]

प्रकृति वह है जो कभी नहीं है और न ही अभावात्मक है, जिसका अस्तित्व है भी और नहीं भी है, जिसके अन्दर कोई अभाव नहीं है, जो अव्यक्त है, विशेष लक्षण से रहित है और सबकी मुख्य पृष्ठ भूमि है।[54] प्रकृति इतनी सत् नहीं है जितनी की शक्ति है तीनों गुणों की साम्यावस्था होने के कारण यह समस्त भौतिक तथा मानसिक परिवर्तनों का आधार है। यह विशुद्ध क्षमता है।[55]

समस्त जगत् का कारण एक प्रधान है। एक प्रधान अर्थात् प्रकृति से यह समस्त जगत् उत्पन्न होता है।[56] प्रकृति में ऐसी शक्ति है, जिससे वह महान् आदि ''व्यक्त'' उत्पन्न करता है। जिस तरह घटादि कार्यों को देखकर उनके मिट्टी आदि कारणों का अनुमान होता है उसी तरह महान् आदि कार्यों से उनके उत्पादक प्रधान (प्रकृति) का अनुमान होता है। प्रलयकाल में समस्त कार्यों का लय इसी प्रकृति में हो जाता है। पाँच महाभूत पाँच तन्मात्राओं में, तन्मात्रायें 16 गण अहंकार में, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है। उस समय व्यक्त और अव्यक्त का विवेक नहीं रहता।[57] इस तरह एक सामान्य प्रधान तत्त्व से इस समस्त जगत् का विपरिणाम होता है और प्रलयकाल में उसी में उनका लय हो जाता है।

बँधती भी प्रकृति है और छूटती भी प्रकृति ही है । प्रकृति एक वेश्या के समान है जब वह जान लेती है कि इस पुरुष को "मैं प्रकृति का नहीं हूँ प्रकृति मेरी नहीं है " इस प्रकार का तत्त्व ज्ञान हो गया है, तब वह स्वयं हताश होकर पुरुष का संसर्ग छोड़ देती है तात्पर्य यह है कि-यह सारा खेल प्रकृति का ही है ।[58]

प्रधान की सत्ता –

सांख्य मूल में दो तत्त्व मानते हैं एक "प्रकृति" अथवा "प्रधान" और दूसरा पुरुष पुरुष तत्त्व व्यापक, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य और ज्ञानादि परिणामों में शून्य केवल चेतन है यह पुरुष तत्व अनन्त है, सबकी अपनी अलग-अलग सत्ता है । "प्रकृति" जिसे "प्रधान" भी कहते हैं, परिणामी नित्य है । इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है ।[59] यह एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है और महान् आदि विकारों को उत्पन्न करती है । कारण रूप प्रधान अव्यक्त कहा जाता है और कार्य रूप व्यक्त ।[60] यह व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही प्रकार का प्रधान त्रिगुणात्मक है अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों वाला है, क्योंकि इन तीन गुणों की समान अवस्था को ही प्रकृति कहते हैं ।[61] उक्त त्रिगुणत्व आदि विशेषताओं से युक्त प्रधान रूप कारण स्वरूपतः अव्यक्त है और वह विविध रूपों में परिणत होता है । ईश्वर कृष्ण ने सांख्य कारिका में लिखा है -

> **भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।**
> **कारणकार्यविभागादविभागादवैश्वरूपस्य ।।15**
>
> **कारणमस्त्यव्यक्तं प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदायाच्च**
> **परिणामतः सलिलवत् प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् ।।16**

इस जगत् में जितने भी भेद या कार्य अर्थात् कार्य रूप पदार्थ हैं, वे सब परिमित या सीमाओं में आबद्ध दृष्टिगोचर होते हैं और परिमित या सीमाओं में आबद्ध होना ही व्यक्त होना है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो परिमित या सीमित अथवा व्यक्त होगा वह कार्य ही होगा, भले ही वह अन्य कार्यों का कारण हो, किन्तु वह ऐसा मूल कारण नहीं हो सकता कि किसी का कार्य न हो । इस प्रकार किसी को भी मूल कारण माना जाए, उसे अपरिमित या असीमित ही मानना होगा और यही अव्यक्त का स्वरूप है । कार्य रूप पदार्थ किसी न किसी आकार को रखते हैं उनमें उनके ऐसे कारण का जो कि कार्य के आकार से विहीन है, समन्वय दृष्टिगोचर होता है । जिस प्रकार मिट्टी के घट में घट के आकार से विहीन मिट्टी का समन्वय दृष्टिगोचर होता है । इस प्रकार जो आकारवान् होगा वह अपने आकार से विहीन अपने कारण से समन्वित होगा, और आकारवान् होना ही व्यक्त होना है । इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो आकारनवान् होगा, वह कार्य होगा

हुए अपने कारण से समन्वित ही होगा। इस प्रकार जो मूल कारण माना जायगा उसे आकारविहीन अव्यक्त ही मानना होगा । कार्य अव्यक्त रूप से अपने कारण में रहता है और कारण में कार्य का अव्यक्त रूप से रहना ही कारण ही कार्य को उत्पन्न करने की शक्ति है । इस प्रकार जो व्यक्त होगा, वह अवश्य ही अपने व्यक्त होने से पूर्व अपने कारण के रूप में अव्यक्त होगा और इस प्रकार वह (व्यक्त) मूल कारण नहीं हो सकता । मूल कारण अव्यक्त ही मानना होगा । मूल कारण वही माना जा सकता है जो कहीं से विभक्त या व्यक्त नहीं हुआ अर्थात् स्वरूपत: अव्यक्त है ।

इस प्रकार त्रिगुणात्मक मूल कारण स्वरूपत: अव्यक्त सिद्ध किया गया है । स्वरूपत: अव्यक्त होने के कारण "अव्यक्त" शब्द भी सांख्याभिमत मूल कारण का एक रूढ अभिधान हो गया है । यह त्रिगुणात्मक अव्यक्त सदा परिणत होता रहता है, बिना परिणाम के यह क्षण भर नहीं रहता । यह प्रलयावस्था में "त्रिगुणत:" परिणत होता है अर्थात् इसके तीनों गुणों का इस प्रकार से सदृश परिणाम होता है कि सत्त्व गुण का सत्वगुण के रूप में, रजोगुण रजो में तथा तमोगुण का तमोगुण में । सृष्टि की अवस्था में इस अव्यक्त का किसी एक गुण या किन्हीं गुणों के समुदाय अर्थात् आधिक्य या अधिक आश्रयों को पाकर विविध रूप में विभिन्न फल आदि पदार्थों के मधुर एवम् अम्ल आदि विभिन्न रसों के रस में परिणत होता है, अव्यक्त से इस प्रकार प्रथमत: जो तत्त्व या पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनसे फिर आगे और पदार्थ उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार विविध रूप वाले समग्र जगत् की सृष्टि हो जाती है । अत: यह स्पष्ट होता है कि सांख्य जड़ जगत् का मूल कारण त्रिगुणात्मक अव्यक्त को मानता है और सत्कार्यवाद और परिणामवाद को मानते हुए जगत् को उसकी उत्पत्ति से पूर्व उसके मूल कारण त्रिगुणात्मक अव्यक्त या प्रधान के रूप में सत् मानता है और इस कारण अव्यक्त का ही जगत् के रूप में परिणाम मानता है ।[62]

प्रकृति से महत्तत्त्व की उत्पत्ति –

प्रकृति में पुरुष के बिम्ब पड़ने से जब "क्षोभ" उत्पन्न होता है, तब उसके सात्विक अंश से जो परिणाम होता है, उसे ही "बुद्धि" कहते हैं । इसे "महत् तत्त्व" भी कहते हैं । महत् जो सकल विश्व का कारण है, प्रकृति के विकास में सबसे प्रथम उत्पन्न पदार्थ है । यह व्यक्ति की बुद्धि का आधार है । बुद्धि के द्वारा ही ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों का भेद विदित होता है । बुद्धि के विशेष कार्य हैं निश्चय और अवधारण। बुद्धि के द्वारा ही हम किसी विषय के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं । सत्त्वगुण के आधिक्य से बुद्धि का उदय होता है बुद्धि का स्वभाविक धर्म है स्वत: अपने को तथा दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करना । इसके स्वरूप के विषय में कहा गया है-

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् । (सां.का. 23)

कारिका में "बुद्धि" शब्द का यह प्रथम प्रयोग है । व्याख्याकारों के अनुसार बुद्धि = महत्-तत्त्व है अध्यवसाय बुद्धि है । धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य इसके सात्विक रूप है । इन चारों के विपरीत तामस रूप है । प्रत्येक व्यवहारकारी जीव पहले विषयों का आलोचन करता है इसके बाद मन से मनन कर फिर "मैं इसमें अधिकृत हूँ" ऐसा अभिमान करके "यह मुझे करना चाहिए"- ऐसा निश्चिय करता है । इस प्रकार का जो बुद्धि का निश्चय है यही अध्यवसाय है । यह बुद्धि का असाधारण व्यापार है ।[63]

बुद्धि पुरुष या आत्मा से भिन्न है क्योंकि पुरुष या आत्मा समस्त भौतिक द्रव्यों और गुणों से परे है । परन्तु भिन्न-भिन्न जीवात्माओं में जो ज्ञानादिक व्यापार होते हैं उनका आधार यही बुद्धि है । इसमें सत्त्व अधिक होने के कारण आत्मा के चैतन्य को प्रतिबिम्बत कर उससे स्वयं प्रकाश युक्त हो जाती है । इन्द्रियों और मन का व्यापार बुद्धि के निमित्त होता है, बुद्धि का व्यापार आत्मा के लिए होता है । बुद्धि की सहायता से पुरुष अपना प्रकृति से भेद समझकर अपने यथार्थ स्वरूप की विवेचना कर सकता है ।[64]

प्रकृति के अन्य उत्पन्न पदार्थों के समान बुद्धि में भी तीन गुण हैं । अपने सात्विक रूप में यह कर्तव्यपालन, ज्ञान सम्पादन, इच्छा की अधीनता स्वातन्त्रय् तथा दैवीय शक्तियों से पहचानी जाती है; अपने राजस रूप में यह इच्छाओं को उत्पन्न करती है; और अपने तामस रूप में यह उपेक्षा तथा अज्ञान आदि को उत्पन्न करती है । विज्ञानभिक्षु का कहना है कि सब आत्माएँ देवीय है, यद्यपि उनके अन्तः स्थित ऐश्वर्य को रजस् तथा तमस् गुण द्वारा रुकावट मिलती है । तत्त्वों द्वारा निर्मित सृष्टि से प्रत्यय सर्ग अथवा बौद्धिक सृष्टि भिन्न है, जो चार प्रकार की है, अर्थात् अज्ञान (विपर्यय) अशक्ति, तुष्टि (सन्तोष) और पूर्णता (सिद्धि) इनके पचास उपविभाग है । अज्ञान के पाँच प्रकार माने गये हैं, अर्थात् अविद्या, अस्मिता (अथवा अहंकार), इनमें से प्रत्येक आठ प्रकार का है; राग (इच्छा) जो दस प्रकार का है; द्वेष अभिनिवेश (अथवा भय) जो अट्ठारह प्रकार के हैं । अशक्ति के अट्ठाइस प्रकार हैं, सृष्टि के नौ प्रकार और सिद्धि के आठ प्रकार हैं ।[65]

बुद्धि दोनों ही है, नित्य भी और अनित्य भी । यह प्रकृति की कारणावस्था में बीज शक्ति के रूप में अंकुर बनकर विद्यमान रहती है और तब इसके व्यापार प्रकट नहीं होते। जब यह कार्यावस्था में परिवर्तित हो जाती है तो यह बुद्धि कहलाती है। विज्ञान भिक्षु इसे कभी सफल न होने वाली तथा सब संस्कारों को धारण करने वाली मानता है ।[66] स्मृतियाँ बुद्धि में संगृहीत रहती है, मन अथवा अहंकार में नहीं रहती। सत्यज्ञान द्वारा अहंकार तथा मन के विलय हो जाने पर भी स्मृति शेष रहती है ।

जीवात्मा के भोग का प्रधान साधन बुद्धि है और यही "बुद्धि" पुनः प्रकृति और पुरुष के सूक्ष्म भेद को भी अभिव्यक्त करती है, अर्थात् बुद्धि के ही द्वारा भोग तथा मुक्ति भी होती है ।[67] सामने दीखने वाली वस्तु में यह गौ है घोड़ा नहीं "अथवा ठूँठ में यह ठूँठ ही है पुरुष नहीं ।" इस प्रकार का निश्चिय करने वाली बुद्धि ही महान् कही जाती है । महान् यह बुद्धि का ही पर्यायवाची शब्द है ।[68]

महत्तत्व से अहंकार की उत्पत्ति –

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चैव ॥[69]

अहंकार प्रकृति का दूसरा विकार है । यह महत्तत्व का परिणाम है । बुद्धि का "मैं" और "मेरा" यह अभिमान का भाव ही अहंकार है । "अभिमानोऽहङ्कारः"।[70] इसी अहंकार के कारण पुरुष मिथ्या भ्रम में पड़कर अपने को सत्ता (काम करने वाला) कामी (इच्छा करने वाला) और स्वामी (वस्तुओं का अधिकारी) समझने लगता है । पहले हमें इन्द्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष होता है । तब मन उन पर विचार करता है और उनका स्वरूप निर्धारित करता है । (अर्थात् यह विषय अमुक प्रकार का है) । फिर हम उन विषयों को आत्मसात् करते हैं (अर्थात् यह समझने लगते हैं कि यह विषय "मेरो या मेरे लिए है) और विषय का अपने से सम्बन्ध जुड़ जाता है । यही अपने सम्बन्ध में "मैं" (अहम्) और विषयों के सम्बन्ध में "मेरा" (मन) का भाव ही अहंकार है।[71] इस तरह जब अहंकार के कारण सांसारिक विषयों में अपनी प्रवृत्ति हो जाती है तब हम नाना प्रकार के व्यवहारों में संलग्न हो जाते हैं । बर्तन गढ़ने से पूर्व कुम्हार के मन में यह संकल्प उठता है – "अच्छा "मैं" बर्तन बनाऊँ" तब वह उस कार्य में लग जाता है । यही अहंकार का भाव हमारे सभी सांसारिक व्यवहारों की जड़ है ।[72]

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, अहंकार का कार्य अभिमान अथवा आत्म प्रेम है । कर्त्तृव्य का सम्बन्ध इसके साथ है, आत्मा अथवा पुरुष के साथ नहीं ।[73] महत् की अहंकार के प्रति वही स्थिति है जो चैतन्य की आत्म + चैतन्य के प्रति है । पहला पिछले की तर्क-सम्बन्धी पूर्व कल्पना है । हम अहंकार के अस्तित्त्व का अनुमान उसके कार्यों में करते हैं ।[74]

अहंकार तीन प्रकार का माना जाता है - 1. सात्त्विक - जिसमें सत्त्व गुण की प्रधानता होती है, 2. राजस-जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है, 3. तामस- जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है । जब अहंकार पर सत्त्व की प्रधानता होती है तो हम अच्छे कार्य करते हैं, जब रजस् की प्रधानता होती है तो हम बुरे कार्य करते हैं, और जब तमोगुण की प्रधानता होती है तब

ऐसे कर्म करते हैं जिन्हें न अच्छा कहते हैं और न बुरा। प्रगाढ़ निद्रा में (सुषुप्ति में) अहंकार का कार्य अनुपस्थित रह सकता है, किन्तु इच्छायें तथा प्रवृत्तियाँ सब रहती हैं।[75]

इस विकारशील अहं के दो परिणाम होते हैं - एक इन्द्रिय रूप तथा दूसरा तन्मात्र रूप। मूलभूत बाह्य विषय की प्रथम अभिव्यक्ति होने पर उससे जिस प्रकार बुद्धि का परिवर्तन होकर अहंकार का प्रकटीकरण होता है उसी प्रकार अहंकार भी विषय सम्पर्क से दस इन्द्रियों तथा एक मन में परिणत हो जाता है। ये 11 पदार्थ सात्त्विक अहंकार रूप धर्मी के परिणाम हैं। बाह्य विषय में प्रकाश्य धर्म है (धर्म से धर्मी भी गाह्य है) अतः उनके ग्रहणार्थ ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकट होती है; तथैव बाह्य विषय में कार्य धर्म है, उनका व्यवहार करने के लिए कर्मेन्द्रियाँ प्रकटित होती हैं। ज्ञानेन्द्रिय का व्यापार बाह्य विषय प्रकाशन है; कर्मेन्द्रिय का व्यापार बाह्य विषय का स्वेच्छया चालन है।

ज्ञानोन्द्रिय की अपेक्षा कर्मेन्द्रिय में रजः अधिक है; यही कारण है कि ज्ञानेन्द्रियों के विषय प्रकाशन रूप स्व-व्यापार में स्वेच्छापूर्वक प्रयत्न अल्यल्प ही करना पड़ता है। कर्मेन्द्रियों के व्यापार तो इच्छापूर्वक प्रयत्न करनेपर ही निष्पन्न होते हैं। प्राणियों की शरीर प्रकृति के अनुसार इन इन्द्रियों के प्रातिस्विक व्यापारों में नाना प्रकार के स्वगत भेद होते हैं।

"एकादशगण" का उल्लेख करके कारिका कार ने मन और इन्द्रियों को एकजातीय ही माना है। ज्ञानेन्द्रियाँ जिस प्रकार बाह्य विषय का प्रकाशन करती हैं, कर्मेन्द्रियाँ जिस प्रकार बाह्य विषयों का चालन करती हैं, मन भी उसी प्रकार इन्द्रियों के बाह्य-विषय-व्यवहार में प्रधान परिचालक है।[76] इस प्रकार अहंकार से इसके सात्त्विक रूप में मन पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँचों कर्मेन्द्रियाँ विकसित होती है, और इसी से इसके तामस (भूतादि) रूप में पाँच सूक्ष्म तत्त्व उत्पन्न होते हैं। राजस (तैजस) रूप दोनों में अपनी भूमिका अदा करता है और परिणामों में उपस्थित रहता है।[77] विज्ञान भिक्षु का मत है कि सात्त्विक अहंकार मन को उत्पन्न करता है, राजस दस इन्द्रियों को और तामस पाँच तन्मात्राओं को उत्पन्न करता है।[78]

अहंकार से सोलह गणों का उत्पत्ति –

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसःतैजसादुभयम् ।।सां.का. 25

"वैकृत" नामक अहंकार से ग्यारह इन्द्रियों का सात्त्विक गुण उत्पन्न होता है। भूतादिसंज्ञक तामस अहंकार से तामस तन्मात्र (=तन्मात्र सम्बन्धी) गण उत्पन्न होता है। तैजस नामक राजस अहंकार इन दोनों गणों की उत्पत्ति में सहायक है।[79]

प्रकाशकारिणी तथा लघु (क्षिप्र) होने के कारण ग्यारह इन्द्रियों का समूह सात्त्विक है, अतः यह "वैकृत" अर्थात् सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होता है भूतादि अर्थात् तामस

अहंकार से पञ्च तन्मात्राओं का गण उत्पन्न होता है । यह क्यों ? क्योंकि यह गण तामस है । कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि अहंकार एक ही है, तथापि गुण-विशेष के आविर्भाव और तिरोभाव से भिन्न-भिन्न कार्य करता है । तैजस अर्थात् राजस अहंकार से दोनों ही कार्य गण उत्पन्न होते हैं । यद्यपि रजो गुण का अपना पृथक् कोई कार्य नहीं है, तथापि सत्त्व और तमस् स्वत: प्रवृत्तिशील होने के कारण समर्थ होने पर भी अपना-अपना कार्य नहीं कर पाते। परन्तु प्रवृत्तिशील होने के कारण रजस् जब उन्हें प्रवर्तित करता है तब वे अपना कार्य करते हैं ।[80]

तत्रापि विशेषमाह –

वैकारिकास्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ।
अहन्तत्वाद्विकुर्वाणान्मनो वैकारिकादभूतः ।
वैकारिकाश्च ये देवा अर्थाभिव्यञ्जनं यतः ॥
तैजसानीन्द्रियाण्येव ज्ञानकर्ममयानि च ।
तामसो भूतसूक्ष्मादिर्यतः खं लिङ्गमात्मनः ॥[81]

एकादशेन्द्रियाणि दर्शयतिं –

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ।19[82]

सांख्य कारिका में ईश्वर कृष्ण ने इनका वर्णन इस प्रकार किया है -

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुः श्रोत्र घ्राणरसनत्वगाख्यानि ।
वाक् पाणि पादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः ।सां. का. 26

चक्षु, कर्ण, घ्राण, रसन तथा त्वक् नामक पाँच बुद्धीन्द्रियाँ (बुद्धि = ज्ञान की साधक इन्द्रियाँ) और वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ नामक पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही गई है । ये दोनों ही प्रकार की इन्द्रियाँ ''इन्द्र'' अर्थात् आत्मा के चिह्न (अनुमापक) होने के कारण ''इन्द्रिय'' कहलाती है ।

एकादशमिन्द्रियमाह –

उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात् ।
गुणपरिणामविशेषान्नानात्वं बाह्यभेदाश्च ।।27 सां. का.

उभयात्मक मनः । 26 साङ्ख्यसूत्रम् ।

इनमें मन दोनों प्रकार की इन्द्रिय है । यह संकल्प करने वाला है और इन्द्रियों के सजातीय होने से ''इन्द्रिय'' कहलाता है । गुणों के विशिष्ट परिणाम (अर्थात् धर्माधर्मात्मक

अदृष्ट) के कारण जैसे (एकविध तामस अहंकार से) विविध बाह्य पदार्थ (तन्मात्र) उत्पन्न होते हैं, वैसे ही (एकविध सात्त्विक अहंकार से) विविध इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं ।

ग्यारह इन्द्रियों में मन दोनों ही प्रकार का है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय भी और कर्मेन्द्रिय भी, क्योंकि मन से ही संयुक्त होकर चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् आदि कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने विषय में प्रवृत्ति होती है, अन्यथा नहीं ।[83] मन वह इन्द्रिय है जिसका महत्त्वपूर्ण कार्य इन्द्रियों से प्राप्त सामग्री का संश्लेषण करके उन्हें विचार (प्रत्यय) के रूप में परिणत करना, कार्यों के वैकल्पिक मार्गों का सुझाव देना तथा इच्छा द्वारा दिए गए आदेशों का कर्मेन्द्रियों द्वारा पालन कराना है । मन के विषय में इन्द्रिय तथा उसके कर्म में कोई भेद नहीं किया गया है । इन्द्रियों को द्वार माना गया है और मन को द्वार रक्षक कहा गया है ।[84] प्रत्यक्ष ज्ञान तथा क्रिया दोनों में ही मन का सहयोग आवश्यक है ।[85] भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के सम्बन्ध में यह नाना आकृतियाँ धारण करता है ।[86] मन सर्वव्यापक नहीं है, क्योंकि यह एक यन्त्र है जिसमें गति तथा क्रिया रहती है ।[87] यह हिस्सों से मिलकर बना है क्योंकि इसका सम्बन्ध इन्द्रियों से है । बुद्धि तथा इन्द्रियाँ नित्य नहीं है इस अर्थ में कि एक नित्य विषयी, अर्थात् ईश्वर विद्यमान हैं जिसके अधिकार में यह सब है ।[88]

अहंकार के तामस अंश से शब्द तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूप, रस और गन्ध तनमात्रा ये पाँच तन्मात्रायें अभिव्यक्त होती है । ये सभी तामसिक स्वरूप हैं ।

''तन्मात्र'' शब्द का अर्थ है - ''तदेव इति तन्मात्रम्'' अर्थात् 'वही' । शब्द के आगे ''मात्र'' शब्द लगाने का अभिप्राय है - उस शब्द के अर्थ को सीमित करना। अर्थात् ''शब्द तन्मात्र'' का अर्थ है - ''शब्द ही'', और कुछ भी नहीं । कहने का अभिप्राय है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों धर्म अपने शुद्ध रूप में पृथक-पृथक अहंकार से अभिव्यक्त होते हैं । इनमें परस्पर कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अहंकार से यह पाँच स्थूल तत्त्व उत्पन्न होते हैं । परन्तु ये फिर भी स्वयं अविशेष अर्थात् सूक्ष्म हैं । ये अहंकार से उत्पन्न होते हैं इसलिए स्वयं विकृति हैं, किन्तु पश्चात् आकाश आदि स्थूल तत्त्वों की उत्पन्न करने के कारण प्रकृति भी हैं । इसलिए ये पाँच ''प्रकृति-विकृति'' हैं -

उपरोक्त इन सोलह गणों का दो श्लोकों में वर्णन करते हैं -

स्पर्शनं रसनं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं न पञ्चमम् ।
पञ्चबुद्धीन्द्रियाण्यत्र तथा कर्मेन्द्रियाणि च ।।
पायूपस्थवचः पाणिपादाख्यानि मनस्तथा ।
अन्यानि पञ्च रूपादितन्मात्रणीति षोडश ।[89]

सोलह गणों में स्पर्शन-त्वचा सारा शरीर, रसन-जीभ, घ्राण-नाक, चक्षु-नेत्र, श्रोत्र-कान यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं । इनके द्वारा अपने-अपने स्पर्श आदि का बोध होता है। अत: इन्हें बद्धीन्द्रियाँ या ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं । जैसे - स्पर्शनेन्द्रिय से स्पर्श का, रसेनन्द्रिय से रस का, नाक से गन्ध का, नेत्र से रूप का तथा कान से शब्द का परिज्ञान होता है तथा शब्द "पंच" पद के आकर्षण के लिए है । ज्ञानेन्द्रियों की तरह कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं । पायु-गुदा, उपस्थ-स्त्री और पुरुष के चिह्न, वचन अर्थात् जिनके द्वारा वचनों का उच्चारण होता है ऐसे हृदय, कण्ठ आदि आठ स्थान, पाणि-हाथ और पाद-पैर ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । "तथा" शब्द समुच्चयार्थक है । ग्यारहवाँ मन है । यह मन कर्मेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रिय रूप और बुद्धिन्द्रियों के साथ बुद्धि रूप हो जाता है । यह मन वास्तविक स्थिति के बिना भी मात्र संकल्प मात्र होता है । जैसे - किसी बटुक-ब्राह्मण के शिष्य से सुना कि - "आज दूसरे गाँव में भोजन के लिए निमन्त्रण आया है" वह विचारता है - कि उस गाँव में जायेंगे तो गुड़ और दही दोनों मिलेंगे, या केवल दही अथवा गुड और दही दोनों ही न मिलेंगे । ऐसा संकल्प भी मन कहलाता है ।[90]

अहंकार से रूपादि 5 सूक्ष्म संज्ञक तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं । सफेद काला आदि रूप विशेष को रूप तन्मात्रा कहते हैं । तीता-मीठा आदि रस को रस तन्मात्रा, सुगन्ध तथा दुर्गन्ध को गन्ध तन्मात्रा, मधुर आदि शब्दों को शब्द तन्मात्रा तथा कोमल, कठोर आदि स्पर्शों को स्पर्श तन्मात्रा कहते हैं ।

इस तरह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पाँच तन्मात्राएँ ये 16 गण कहलाते हैं ।

पंच भूतों की उत्पत्ति –

शब्द - स्पर्श रूप, रस और गन्ध इन तन्मात्राओं से क्रमशः पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है ।

पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि । सां. का. (22)
तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः
एते स्मृता विशेषाः शान्ता धोराश्च मूढ़ाश्च ।। सां. का. 38

पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूतों की अभिव्यक्ति होती है ।[91] तन्मात्राएँ अविशेष अर्थात् सूक्ष्म है; किसी धर्म से व्यक्तरूप में सम्पन्न नहीं है । इन पाँचों से (क्रम से) पाँच भूत उत्पन्न होते हैं । ये पाँच भूत "विशेष" अर्थात् स्थूल हैं, इसीलिए इनमें सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों गुणों की स्थूल रूप में अभिव्यक्ति होती है । अतएव ये शान्त या सुख देने वाले, घोर या दु:ख देने वाले तथा मूढ़ या मोह देने वाले हैं ।

अहंकार से अभिव्यक्त होने वाले सोलह तत्त्वों में से पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं; जैसे कहा है - शब्द तन्मात्रा से आकाश, स्पर्श तन्मात्रों से वायु, रूप, तन्मात्रा से तेज, रस तन्मात्रा से जल एवम् गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से पाँच भूतों की उत्पत्ति होती है ।

गन्धतन्मात्रात् पृथिवी, रसतन्मात्रादापः, रूपतन्मात्रात् तेजः, स्पर्शतन्मात्राद्वायुः, शब्दतन्मात्रादाकाशम् इत्येवमुत्पन्नानि महाभूतान्येते विशेषाः ।[92]

रूप से अग्नि, रस से जल, गन्ध से पृथिवी, शब्द से आकाश तथा स्पर्श से वायु इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से पाँच सूक्ष्म भूतों की उत्पत्ति होती है -

रूपोत्तेजो रसादापो गन्धाद्भूमिः स्वरान्नभः ।
स्पर्शाद्वायु स्थैवं च पञ्चभ्यो भूत पञ्चकम् ।।[93]

सूक्ष्म संज्ञक रूप तन्मात्रा से अग्नि उत्पन्न होती है । रस तन्मात्रा से जल का आविर्भाव होता है । गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी की समुत्पत्ति होती है । स्वर शब्द तन्मात्रा से आकाश का प्रार्दुर्भाव होता है । स्पर्श तन्मात्रा से वायु का जन्म होता है । इस प्रकार पाँच संज्ञक तन्मात्राओं से पाँच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है ।[94]

ये पाँचों भूत "विशेष" अर्थात् स्थूल कहे जाते हैं, क्योंकि ये सुखात्मक, दुःखात्मक और मोहात्मक होते हैं । अर्थात् वे शान्त, घोर और मूढ़ होते हैं । एक च करण के अर्थ में है और दूसरा तीनों का समुच्चय करने अर्थात् यह बताने के लिए है कि सभी वस्तुओं में ये तीनों विशेषतायें होती हैं । (कहने का भाव यह है कि) चूंकि आकाश, वायु इत्यादि स्थूल विषयों में कुछ-सत्त्व-प्रधान होने के कारण शान्त, सुखात्मक, प्रकाश रूप और लघु, कुछ रजः प्रधान होने के कारण घोर, दुःखात्मक और चंचल तथा कुछ तमः प्रधान होने के कारण मोहात्मक, विषाद रूप और गुरु (भारी) होते हैं, इसलिए ये परस्पर पृथक्-पृथक् रूप से अनुभव किए जाने के कारण "विशेष" और "स्थूल" कहे जाते हैं ।[95]

इस प्रकार यह पाँचों भूत क्रमशः पृथक्-पृथक् रूप में पाँच तन्मात्राओं से अभिव्यक्त हुए हैं ।[96]

आकाश = आकाश तत्त्व + शब्दतन्मात्रा अर्थात् शब्द
वायु = वायु तत्त्व + स्पर्श तन्मात्रा अर्थात् स्पर्श
तेजस् = तेजस् तत्त्व + रूप तन्मात्रा अर्थात् - रूप
जल = जल तत्त्व + रसतन्मात्रा अर्थात् रस
पृथिवी = पृथिवी तत्त्व + गन्धतन्मात्रा अर्थात् गन्ध

सत्कार्यवाद

कार्य-कारण के विषय में सांख्यों का एक विशिष्ट मत है जो सत्कार्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है । यह प्रकल्पना कि कार्य वस्तुत: अपने कारण में पहले से विद्यमान रहता है सांख्य दर्शन के मुख्य लक्षणों में से है । इस दर्शन में कार्य और कारण में अभेद है । इसके मत में "कार्य" वस्तुत: कारण में वर्तमान है, अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व कार्य कारण में, अव्यक्तरूप में, रहता है । कार्य की उत्पत्ति और नाश का अर्थ उस विषय की सत्ता का होना तथा न होना नहीं है । कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है "अव्यक्त से व्यक्त होना" तथा कार्य के नाश का अर्थ है "व्यक्त से अव्यक्त होना" ।[97] अर्थात् कारण व्यापार के पूर्व भी "कार्य" अव्यक्त रूप में अपने कारण में रहता है । व्यापार के द्वारा "कार्य" अभिव्यक्त होता है और लय की अवस्था में कारण में पुन: "कार्य" अव्यक्त रस में लय हो जाता है । सांख्य मत में उसकी उत्पत्ति का अर्थ है आविर्भाव और नाश का अर्थ है तिरोभाव । इसी को "सत्-कार्यवाद" कहते हैं । सत् वस्तु का न तो नाश होता है, और न असत् वस्तु की उत्पत्ति ही होती है ।[98]

जैसा कहा गया है -

नासतो विद्यते भावो नाऽभावोविद्यते सतः ।[99]

सत्कार्यवाद की सिद्धि - ईश्वर कृष्ण ने "सत्कार्यवाद" को सिद्ध करने के लिए पाँच युक्तियाँ दी है -

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्यकार्यम् ॥[100]

असदकरणात् – इह लोके असत् करणं नास्ति, यथा शशविषाणादीनाम् यदेव सत् घटादि द्रव्यं तदेव मृत्पिण्डादिना कारण विशेषेण क्रियते नासत् ।[101]

असत: अकरणात् – अर्थात् जो नहीं है (असत् है) उसमें उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं (अकरण) है, अर्थात् उसमें कारण व्यापार नहीं हो सकता । जैसे - खरहे का सींग (जो असत् है) कभी कुछ उत्पन्न नहीं कर सकती । अतएव यदि कारण में कार्य असत् होता तो, यह कारण कभी भी कार्य को उत्पन्न नहीं कर सकता ।[102]

उपादान ग्रहणात् – इह यदर्थं यदुपादीयते तस्य तदुपादानं कारणम्, यथा तैलस्य तिला:; दघ्न: क्षीरम् । अत्र तैलं दधि च यदि न स्यात् कथं तस्योपादानस्य ग्रहणं तदर्थिभि: क्रियते । तस्मादुपादान संग्रहादेव सदेव कार्यम् । अन्यथा सिकतासलिलयोरपिग्रहणस्यात् ।[103]

किसी वस्तु को उत्पन्न करने के लिए एक विशेष कारण (उपादान) की ही खोज की जाती है ।[104] इससे स्पष्ट है कि वह विशेष-कारण ही उस वस्तु को उत्पन्न करने में समर्थ हो सकता है, दूसरा नहीं । यथा - तिलों से ही तेल की उत्पत्ति की जा सकती है अन्य से नहीं । क्योंकि तिलों में तेल पहले से ही विद्यमान है। यदि कार्य उस विशेष कारण से सम्बद्ध न होता तो कारण उसे कभी उत्पन्न नहीं कर सकता। अत: उपादान कारण में कार्य किसी एक रूप में अवश्य वर्तमान रहता है ।

सर्व सम्भवाभावात् - यद्यसत्कार्यं भवेत् तदा सर्वस्य सर्वदा सर्वत्र सम्भव: स्यात्। न चैवम् । तस्माद् सदैव कार्यम् ।[105]

यदि उपादान कारण के साथ कार्य का सम्बद्ध होना आवश्यक न होता, तो उस कारण को उपादान मानना तथा उस "कार्य" के लिए उस उपादान की शरण लेना दोनों ही व्यर्थ होते । फिर तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति हो सकती है ।[106] परन्तु यह अनुभव विरुद्ध है । सभी वस्तुएँ सभी कारणों से उत्पन्न नहीं होती । अतएव "कार्य" "कारण" में सत् अर्थात् कारण-व्यापार के पूर्व भी, विद्यमान हैं ।[107]

शक्तस्य शक्यकरणात् - शक्तं कारणं नाशक्तमित्येवमप्यवगन्तव्यम् । अन्यथोपहतशक्तेः बीजाद् अङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्ग: । शक्तश्च को भवितुमर्हति ? य: शक्तिमान् । तस्य शक्तिमत: शक्यस्य करणात् शकनीयस्य कार्यस्योत्पादनादित्यर्थ: ।

शक्ति सम्पन्न कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होते देख यही कहा जा सकता है[108] कि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से विद्यमान है मृत्तिका से घट की उत्पत्ति देखकर यह अनुमित होता है कि घटानुकूलशक्ति मिट्टी में ही है तन्तु आदि में नहीं ।[109]

कारण भावाच्च - कारणस्य सत्त्वादित्यर्थ: यद्यसत्कार्यमुत्पद्यते किमिति कारणभावेन कार्यस्य भावो भवति । भवति च । तस्मात् शक्ति रूपेणवस्थितमितिगम्यते । अथवा "कारण भावादिति" कारणस्वभावात् । यत्स्वभावं कारणं तत् स्वभावं कार्यम् । यथा स्निग्धस्वभावेभ्य: तिलेभ्य: स्निग्धमेव तैलम्, मृदो मृत्स्वभावो घट: । यद्यसत् कार्यं स्यात् असत्स्वभावेभ्यो ह्युत्पद्येतेत्येवं सांख्यानां सदेवोत्पद्यत इति सिद्धान्त: ।[110]

सांख्य में "कारण" और "कार्य में अभेद या तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता है। ऐसी स्थिति में यदि कारण है, तो कार्य भी है, ऐसा मानना पड़ेगा । सत्-रूप कारण के साथ असत् रूप कार्य में अभेद सम्बन्ध नहीं हो सकता । अभावात्मक किसी भी क्रिया का विषय नहीं हो सकता, आकाश कुसुम उत्पन्न नहीं किया जा सकता । असत् को कभी भी सत् नहीं बनाया जा सकता जैसे - नीले को हजारों कलाकार भी पीले में परिवर्तित नहीं कर सकते ।[111]

कोई भी उत्पन्न पदार्थ उस सामग्री से भिन्न नहीं है जिससे कि वह बना है। उत्पन्न होने से पूर्व वह सामग्री के रूप में विद्यमान था । यदि इसे स्वीकार न किया जाय तो हर किसी वस्तु से हर किसी वस्तु की उत्पत्ति हो सकेगी । कार्यकारण भाव सम्बन्धी योग्यता इसी से सम्बद्ध रहती है जिसके अन्दर आवश्यक क्षमता रहती है। कार्य का स्वरूप वही होता है जो कारण का होता है । अपने तात्त्विक रूप में कपड़ा धागों से भिन्न नहीं है । ऐसे पदार्थों में जो एक दूसरे से तात्त्विक रूप में भिन्न है कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं हो सकता ।[112]

जो कुछ छिपा हुआ है उसका प्रकाश में आ जाने का नाम ही विकास है, अथवा अरस्तू के शब्दों में, 'यह सम्भाव्य सत्ता के रूप में संक्रमण है,' अथवा हेगल के शब्दों में, 'यह गुप्तावस्था से प्रकट रूप में आना है ।' इस मत को धर्मशास्त्र का भी समर्थन प्राप्त है ।[113] सत्कार्यवाद के उक्त सिद्धान्त के अनुसार कारण तथा कार्य उसी एक पदार्थ की अविकसित तथा विकसित अवस्थायें हैं । समस्त उत्पादन, उद्भावना अर्थात् विकास और समस्त विनाश कारण के अन्दर लय हो जाता है।[114] अत्यन्त अभाव नाम की कोई वस्तु नहीं है । भूतकाल तथा भविष्यत की अवस्थाओं का नाश नहीं होता है, क्योंकि उनका प्रत्यक्ष ज्ञान योगियों को होता है ।[115] सांख्य विकास (आविर्भाव) तथा अन्तर्लय (तिरोभाव) की परिकल्पना को स्वीकार करता है ।[116] इन सब बातों से सांख्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व भी कारण में विद्यमान रहता है । इसी सिद्धान्त को "सत्कार्यवाद" कहते हैं।

सत्कार्यवाद के रूप - सत्कार्यवाद के दो रूप होते हैं -

1. परिणामवाद
2. विवर्तवाद

परिणामवाद –

परिणामवाद के अनुसार कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है कारण का सचमुच रूपान्तर होना । जैसे दूध से दही की उत्पत्ति, अथवा मिट्टी का परिणाम घड़ा । यहाँ दूध और मिट्टी के वास्तविक रूपान्तर या विकार होने से ही दही या घड़े का प्रादुर्भाव होता है । जिस प्रकार कछुए के अंग उसके शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर तिरोहित हो जाते हैं और बाहर निःसृत होने पर प्रकट हो जाते हैं, न कि कूर्म के अंग कछुए से उत्पन्न (अर्थात् पहले वे नहीं थे और बाद में उत्पन्न हुए) और उसमें विनिष्ट (ध्वंस प्राप्त) होते हैं । उसी प्रकार मिट्टी या सोने से घट, मुकुट आदि कार्य निःसृत (प्रकाशित) होने पर ये "उत्पन्न हुए" ऐसा कहा जाता है, एवम् उसी मिट्टी या सोने में मिल जाने पर ये "विनिष्ट हुए" ऐसा कहा जाता है; न कि असत् की उत्पत्ति होती है। जैसा कि भगवान् कृष्ण ने गीता में कहा है - "न तो असत् का सत्त्व कभी होता है, और न सत् का कभी अभाव होता है ।[117] अतः कार्यों

को वास्तव, सच्चे रूप से बतलाने वाला सिद्धान्त परिणाम कहलाता है और सांख्यों का यही मत है ।

विवर्तवाद –

विवर्तवाद अद्वैत वेदान्त का मत है उनका कहना है कि कारण में जो विकार या रूपान्तर परिलक्षित होता है वह वास्तविक नहीं, एक आभास मात्र है । कार्य की केवल प्रतीति होती है, उसकी वस्तुस्थिति नहीं रहती । जब अंधेरे में रस्सी देखने से साँप का आभास होता है तो रस्सी यथार्थत: साँप में परिणत नहीं हो जाती । रस्सी में केवल सर्प की प्रतीति मात्र होती है, सर्प की सत्ता उसमें नहीं आ सकती । इसी प्रकार जो नाना विकार हमें परिलक्षित होते हैं, वे भ्रम या आभासमात्र है । यथार्थत: ब्रह्म का रूपान्तर नहीं होता । वह शाश्वत रूप से एक सा बना रहता है फिर भी हमें वह नामरूपात्मक जगत् के रूप में बदलता हुआ सा मालूम पड़ता है । इस मत के अनुसार कार्य कारण का वास्तविक रूपान्तर नहीं, बल्कि विवर्त मात्र है ।[118]

व्यक्त तथा अव्यक्त रूप दो प्रकार का प्रधान –

सांख्य लोग संसार के समस्त पदार्थों की उत्पत्ति प्रकृति से मानते हैं और उसे अचेतन या जड़ात्मक कहते हैं । इस प्रकृति का ही दूसरा नाम प्रधान है –

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।।सां. का. 32।।

प्रकृत कारिका के प्रारम्भिक तीन चरणों में इसी प्रकृति या प्रधान का स्वरूप कहा गया है । यह प्रकृति संसार को उत्पन्न करती है, परन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती । वह व्यापक है, एक है, अवयव रहित और अनाश्रित है अर्थात् वह स्वतन्त्र है अपने कार्य रूप व्यापार के लिए किसी पर आश्राति नहीं है । सृष्टि के आरम्भ काल में प्रकृति अपने भीतर से ही सारे संसार को उत्पन्न करती है और प्रलयकाल में सारे तत्त्वों को अपने भीतर लय कर लेती है । वह स्वयं किसी अन्य से उत्पन्न नहीं होती, अत: अजन्मा है, अर्थात् महान् अहंकारादि अन्य तत्त्वों की जननी होकर भी स्वयं किसी अन्य कारण से उत्पन्न नहीं होती । इसका मूल स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता । अत: इसे "अव्यक्त" कहते हैं । और इसके कार्य दृष्टिगोचर होते हैं, अत: इसे "व्यक्त" कहते हैं । पुरुष को छोड़कर शेष समस्त तत्त्वों के उत्पन्न करने का प्रधान कारण होने से इसको "प्रधान" भी कहते हैं ।[119]

प्रकृति जिसे "प्रधान" भी कहते हैं, परिणामी, नित्य हैं । इसमें एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है । यह एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य

है और महान् आदि कार्यों को उत्पन्न करती है। कारण रूप प्रधान "अव्यक्त" कहा जाता है और कार्य रूप (महत्, अहंकार आदि कार्य रूप) प्रधान "व्यक्त" कहा जाता है।[120]

सांख्यीय तत्त्व प्रक्रिया की समीक्षा –

प्रकृति के सद्भाव के आवेदक "भेदानां परिमाणात्" इत्यादि में दोष

समन्वयात् हेतु में अनैकान्तिक दोष –

जो कहा गया है कि प्रकृति के सद्भाव का आवेदक भेदानां परिमाणात् इत्यादि हेतु पञ्चक है, वह आश्रयासिद्ध दोष से दूषित होने के कारण अयुक्त है। प्रकृति असंवेद्य स्वभाव वाली होने से स्वरूप से असिद्ध है। परिमितत्वादिक साधन भेदों में हैं, अस्तित्व रूप साध्य प्रकृति में है। यदि कहो कि महदादि भेदों की ही एककारणपूर्वकता यहाँ प्रसाधित की जा रही है। अतः उक्त दोनों दोषों का यहाँ अभाव है तो तुम्हारा यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रधान और पुरुषों की अपेक्षा अनेकान्त है। एकत्व अनेकत्व संख्या के कारण तथा महापरिणाम से परिमितपना होने पर भी एक कारण पूर्वकपना असंभव है। दूसरी बात यह है कि परिमित हो तथा एक कारणपूर्वक न हो, इसमें क्या विरोध है ? एक कारण पूर्वकत्व होने पर ईश्वर अथवा कालादि एक कारण होगा, इस प्रकार विरुद्धपना रूप दोष आता है यहाँ दृष्टान्त की साध्यविकलता भी है क्योंकि घटादि का एक कारणपूर्वकपना असम्भव है। एक कोई जनक प्रतीति में नहीं आता है क्योंकि उत्पत्ति सहकारी और दूसरे कारणों से होती है। मिट्टी का पिण्ड भी अनेक अवयवों का समुदाय है, अतः उसमें सर्वथा एकपना नहीं है। मिट्टी भी प्रतिपर्याय भिन्न है। अतः अपरिमितपना एककारणपूर्वकपने से ही व्याप्त होने के कारण विरुद्ध है।[121]

"समन्वयात्" इसमें भी अनैकान्तिक दोष हैं। प्रकृति और पुरुषों में एक कारण पूर्वकपने का अभाव होने पर भी नित्य, व्यापित्वादि धर्मों से समन्वय सम्भव है, पुरुषों में भोक्तृत्वादि धर्मों की अपेक्षा समन्वय सम्भव है। भिन्न जाति वाले जल और अग्नि आदि का एक ही उपादान से उत्पन्न होना नहीं बनता है। दोनों पदार्थों की जाति भिन्न है, अतः एक कारण मानने पर विरोध आता है। इसमें असिद्ध दोष भी है। समग्र भूतों का समूह सुख दुःख तथा मोहमय है अतः प्रधान से अन्वित होने की सिद्धि नहीं होती है। सुखादि का प्रतिभास अन्तःसविद्रूप होता है अतः बाह्यार्थ सुखादि रूप नहीं ठहरते हैं।

बाह्य माला, चन्दनादि को कोई सुख के रूप में नहीं जानता, ये सुख के जनक है, यह बात बच्चों तक में प्रसिद्ध है। कार्य कारण का एकत्व अनौपचारिक है इस बात का प्रमाणिक पुरुष आदर नहीं करते हैं। प्रधान सत्व आज भी अप्रसिद्ध है, उसी की ही शक्तितः प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार क्या किससे सङ्गत होगा।[122] यदि ऐसा माना तो आकाश कुसुम

है; क्योंकि उसी की ही शक्तित: प्रवृत्ति होती है, यह भी मानना पड़ेगा । शक्ति का व्यतिरेक अथवा अव्यतिरेक न बनने पर उससे किसी की प्रवृत्ति कैसे होगी ? उसकी सत्ता की सिद्धि कारण-कार्य विभाग से होती है ऐसा मानने पर खरविषाण की सत्त्वसिद्धि का भी आकर्षण करती है । गधे के सींग के समान प्रधान की सत्ता कहीं से भी प्रसिद्ध नहीं है । प्रलय काल अप्रसिद्ध ही है। अत: उपरोक्त हेतुओं से प्रकृति की सिद्धि नहीं होती है ।[123]

प्रकृति तत्त्व और भूत की सृष्टि में स्वभावतः प्रवृत्ति होती है या किसी निमित्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होती है –

सांख्यीय तत्त्व व्यवस्था को मानने पर प्रश्न उठता है कि प्रकृति तत्त्व सृष्टि तथाभूत सृष्टि में स्वभावत: प्रवृत्ति होती है अथवा कुछ निमित्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होती है ? स्वभावत: प्रवृत्ति मानने पर वह निमित्त कहना चाहिए कि जिसकी अपेक्षा लेकर वह महत् आदि कार्यों के उत्पादन के लिए प्रवर्त्तित होता है ? इसके उत्तर में सांख्यों का कहना है कि पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष का प्रयोजन ही उक्त प्रवृत्ति में कारण है । अत: पुरुषार्थ रूप हेतु से प्रधान अपने कार्य में प्रवृत्त होता है ।[124] इस प्रकार अनुसंधान विकल वाले के वह असम्भव है । निमित्त पुरुष की प्रेरणा अथवा पुरुषार्थ कर्त्तव्यता होगा । पुरुष की प्रेरणा निमित्त नहीं हो सकती । निरभिलाष - उदासीनतया इष्ट के यह इससे होता है इस प्रकार के अनुसंधान के अभाव से प्रतिनियत प्रसव क्रिया में वह प्रेरणा असम्भव है । पुरुषार्थ कर्त्तव्यता भी निमित्त नहीं है ।[125] पुरुषार्थ दो प्रकार का होता है - एक तो शब्द रूप आदि विषयों को ग्रहण करना और दूसरा गुण प्रकृति और पुरुषान्तर के विवेक को देखना अर्थात् प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक भेद का दर्शन करना, ऐसा हमारे आगम का वचन है । इस पर आचार्य कहते हैं कि आपका कहना सत्य है, किन्तु यह बतलाइए कि इस प्रकार से अर्थात् दोनों प्रकार के पुरुषार्थों की अपेक्षा करके प्रवृत्ति करता हुआ भी वह बहुधानक (प्रधान) पुरुषकृत किसी उपकार को लेकर के प्रवृत्ति करता है, कि पुरुषकृत किसी उपकार को नहीं लेकर प्रवृत्ति करता है प्रथम पक्ष के मानने पर वह उपकार प्रधान से भिन्न है या अभिन्न? यदि भिन्न है, तो यह उपकार प्रधान का है ऐसा व्यपदेश (कथन) नहीं हो सकेगा। यदि कहा जाए कि प्रधान का उपकार से सम्बन्ध है, सो सांख्यों ने समवाय, संयोग आदि सम्बन्ध को माना नहीं है; अत: सम्बन्ध के अभाव होने से उपकार का अभाव रहेगा । यदि कहें कि प्रधान और उपकार में तादात्म्य सम्बन्ध है सो वह भेद का विरोधी है, अत: प्रथम पक्ष ठीक नहीं है और यदि प्रधान से उपकार अभिन्न है यह दूसरा पक्ष आश्रय करते हैं, तब उसके द्वारा (पुरुष के द्वारा) प्रधान ही किया गया ठहरता है, और ऐसी दशा में उसके नित्यपने की हानि होती है । यदि कहें कि पुरुष कृत उपकार की अपेक्षा के बिना ही प्रधान महत् आदि कार्यों के निष्पादन के लिए प्रवृत्ति करता है, तो फिर उस प्रधान को मुक्त आत्मा के प्रति भी प्रवृत्ति

करना चाहिए, क्योंकि वहाँ पर भी उपकार निरपेक्षता समान ही है । इससे अर्थात् पुरुषकृत उपकार की अपेक्षा के बिना ही प्रधान प्रवृत्ति करता है इस पक्ष के निराकरण से निरपेक्ष प्रवृत्ति रूप दूसरा पक्ष भी निराकृत कर दिया गया समझना चाहिए; क्योंकि उससे इसमें कोई विशेषता ही नहीं है ।[126]

महदादि प्रकृति से भिन्न है या अभिन्न –

महदादि प्रपञ्च प्रकृति से भिन्न है या अभिन्न ? महान् आदि व्यक्त होकर भी अव्यक्त हो जाते हैं इस तरह अपने स्वरूप से च्युत होने के कारण ये अनित्य हैं। प्रकृति तो कभी भी विकार-कार्य रूप नहीं होती, प्रकृति तो सदा प्रकृति अर्थात् कारण ही बनी रहती है । अतः यह नित्य है । वह कभी भी अपने प्रकृति रूप से च्युत नहीं होती । महदादिक व्यक्त तथा प्रकृति का स्वरूप सांख्यों ने इस प्रकार कहा है[127]- ''व्यक्त कार्य हेतुमत्, सकारण, अनित्य, अव्यापि, सक्रिय, अनेक आश्रित - कारणाश्रित लिङ्ग कारणों में होने वाला, सावयव तथा परतन्त्र होता है । अव्यक्त कारण इससे विपरीत होते हैं ।''

महदादि व्यक्त सकारण हैं, कारणों से उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के कारण ही अनित्य है; अव्यापि-प्रतिनियत देशवर्ती हैं, सर्वगत नहीं है, सक्रिय अध्यवसाय आदि क्रियाओं को करने के कारण सव्यापार हैं, संचरण आदि क्रियाएँ करते हैं । तेईस भेद रूप होने से अनेक हैं, आश्रित भाग में निमित्त होने के कारण आत्मा के उपकारक होने से प्रधान रूप कारण के अधीन है । लिङ्ग जो जिससे उत्पन्न होता है वह प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाता है अतः ये लयं गच्छति-कारण में लीन होने के कारण लिङ्ग रूप है । लय का क्रम इस प्रकार है - महाभूत अपने कारण रूप तन्मात्राओं में लीन होते हैं । तन्मात्रायें, दस इन्द्रियाँ और मन ये सोलहगण अपने कारण अहंकार में लीन हो जाते हैं । अहंकार महान्-बुद्धि में तथा बुद्धि अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती है । प्रकृति स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं हुई अतः उसका कहीं भी लय नहीं होता । व्यक्त सावयव-शब्द, रूप, रस, गन्धादि अवयवों से युक्त होता है, परतन्त्र कारणों के अधीन रहता है । महदादि व्यक्त पूर्वोक्त हेतुमत्व आदि धर्मों वाला है । अव्यक्त प्रकृति ठीक इसके विपरीत है ।[128]

असदकारणात् इत्यादि हेतु में दोषों का प्रदर्शन –

प्रकृति में महदादि प्रपञ्च का सत्त्व साधन करने में असदकारणात् इत्यादि साधन कहाँ है वहाँ पर धर्मी क्या है ? और साध्य क्या है ? यदि कार्य धर्मी है, उत्पत्ति के पहले सत्होना साध्य है तो हेतु व्यधि-करणसिद्ध है । सत्त्व साध्य महदादि कार्य में विद्यमान है, असदकारणात् साधन तो आकाश कुसुम आदि अकार्य में है । यदि असद् के कारण का पर्यवसान सत्कारण में होता है तो साध्य सामान्य है । उत्पत्ति के पहले कार्य है क्योंकि वह क्रियमाण है, यहाँ

क्रियमाण हेतु है ''असद्कारणात्'' यह व्यतिरेक कथन है - जो असत् होता है, वह किया नहीं जाता जैसे आकाश का फूल ।

यह कहना भी अविचारित रमणीय है; क्योंकि जो सत् है उसका करण से विरोध है । जो निष्पन्न है, स्वात्मसत्ता के प्रति अन्य निरपेक्ष, वह सत् कहा जाता है; उसका कारण कैसे हो सकता है । प्रयोग - जो सर्वात्मना सत् है वह किसी के द्वारा करना शक्य नहीं है, जैसे प्रकृति अथवा पुरुष । सत् परमत में सर्वात्मना कार्य है । अत: अनिष्पन्न का ही करण युक्ति युक्त है । निष्पन्न और अनिष्पन्न रूप विरूद्ध धर्मों का एक धर्मी में समावेश एकान्तवादी के असम्भव होने के कारण यह हेतु विरुद्ध है। क्रियमाण के असत् होने पर उससे सत् सम्भव है ।[129]

कार्यत्व असत् का प्रादुर्भाव है या अङ्गाङ्गि भाव का आगमन है -

असद् कार्यवाद न मानने पर हेतुमत्वादि धर्म कैसे कारण में रहते हुए कार्य में होने के योग्य है ? निश्चित् रूप से वे व्यक्त के समान अव्यक्त में नहीं है । सत्यकार्यवाद में कालात्ययापदिष्ट दोष भी है; क्योंकि पक्ष में प्रत्यक्ष से बाधा आती है । उत्पत्ति से पूर्व कार्य स्वतन्त्र अथवा कारणात्मक प्रतीत नहीं होता है । ऐसा होता तो दुग्धादि के होने पर विशिष्टाकार संस्थान रसादि से युक्त दधि आदि का प्रत्यक्ष अवश्य होना चाहिए तथा दही को चाहने वाले की दुग्धादि से प्रवृत्ति होनी चाहिए।

यदि कहो कि दही वहाँ साक्षात् - व्यक्त नहीं है, दूध में दही आदि की व्यवस्था साध्य है । शक्ति रूप से वहाँ व्यवस्थित दध्यादि व्यक्त होता है तो इस पर हमारा कहना है कि यह शक्तयात्मकता क्या है ? दधि आदि का सूक्ष्म रूप से अवस्थान अथवा दुग्ध आदि की दही को उत्पन्न करने की सामर्थ्य ? आदि का पक्ष अयुक्त है । पदार्थ के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप नहीं होते हैं । पदार्थ की स्वरूप प्राप्ति ही निष्पन्नता है । यदि वह निष्पन्नता है तो स्थूल और सूक्ष्म के भेद से क्या प्रयोजन है? द्वितीय पक्ष मानने पर सत्कार्यवाद समर्थितन ही होता है । सामर्थ्य को ही कार्य कहना युक्त नहीं है ।

यह कार्य क्या है ? असत् का प्रादुर्भाव, अङ्गाङ्गि भावगमन अथवा धर्मी का पूर्व त्याग कर दूसरे धर्म को स्वीकार करना ? प्रथम पक्ष में स्वमत विरोध आता है। दूसरे पक्ष में अङ्गाङ्गि भाव का क्या अर्थ है ? यदि गुण प्रधान भाव कहो तो - जहाँ सत्त्व अङ्गी होता है, रजस् और तमस् अङ्ग होते हैं वहाँ स्रक् चन्दनादि सुख होते हैं, जहाँ रजस् अङ्गी होता है, सत्त्व तथा तम अङ्ग होते हैं वहाँ पर रजस् सर्प, कष्टक आदि दु:ख होते हैं, जहाँ तम अङ्गी होता है सत्त्व तथा रजस् अङ्ग होते हैं वहाँ तामस अन्धकारादि होते हैं । यह कहना भी असत्य है ।[130]

अथवा धर्मी का पूर्वधर्म का त्याग कर धर्मान्तर स्वीकार करना है–

सत्त्वादि की अङ्गाङ्गिता पूर्वरूप वैलक्षण्य अथवा अवैलक्षण्य में होगी । अवैलक्षण्य मानने पर अङ्गिता होगी अथवा अङ्गता ! वैलक्षण्य मानने पर धर्मी के पूर्व धर्म त्याग से दूसरा धर्म स्वीकार ही हो जाएगा, क्योंकि सत्त्वादि ने सूक्ष्म रूप का त्याग कर दिया है, स्थूल रूप ग्रहण कर लिया । पूर्वधर्म का त्याग होने पर नाश अथवा तिरोभाव होगा, नाश मानने पर अपने मत की क्षति हो जाएगी । तिरोभाव अतिरोभाव के विनाश के बिना नहीं होता है । दूसरे धर्म का स्वीकार करना ही वह उत्पाद है अथवा अभिव्यक्ति उत्पाद है । धर्मान्तर का स्वीकार करना उत्पाद नहीं है, नहीं तो सत्यकार्यवाद की क्षति का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। अभिव्यक्ति भी ज्ञान का धर्म होगी या पदार्थ का? यदि ज्ञान का धर्म है तो वह ज्ञान भी तत्कालोत्पन्न है या पूर्वकाल स्थित है ? पूर्वकाल स्थित पना मानने पर पूर्व भी उपलब्ध होगा तत्कालोत्पत्ति मानने पर सत्कार्यव्राद की क्षति ही होगी । अर्थ का धर्म मानने पर भी अर्थ के सदा सत् रहने से अभिव्यक्ति के भी सदा सत् होने का प्रसंग आयगा । ऐसा मानने पर अर्थ सदा अभिव्यक्त होगा। अर्थ के सदा असत् होने पर असत्कार्यवाद का प्रसङ्ग आने पर दूसरे के मत में प्रवेश करने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा ! अभिव्यक्ति के पूर्व जैसे दूसरी दाहादि क्रिया में वस्तु असमर्थ है वैसे ही अभिव्यक्ति की स्थिति में भी असमर्थ, अत: कैसे वस्तु की उत्पत्ति सम्भव है ? अप्रत्यक्ष स्वभाव वाले प्रधान का प्रत्यक्ष स्वभाव वाला भाव प्रपञ्च कैसे होगा ? नीरूप स्वभाव वाले का प्रपञ्च रूपान कैसे होगा ! नीरूप भी उससे रूप वाला भाव प्रपञ्च मानने पर चेतन आत्मा के अचेतन जड़ प्रपञ्च क्यों नहीं होगा, जिससे कि ब्रह्माद्वैत की सिद्धि न हो ?[131]

सत्यकार्यवाद में कारण की सफलता नहीं –

सत्कार्यवाद में कारकों की सफलता भी नहीं है । जो पहले से ही असत् है वह कुछ भी नहीं करता है । अत: उसके कारक व्यपदेश भी असम्भव है । जिसका साध्य अविद्यमान है, वह कारक नहीं है; जैसे चैतन्य । परमत में कारक के रूप में अभिमत पदार्थ अविद्यमान साध्यवाला है । अभिव्यक्ति में भी कारकों का व्यापार नहीं है । अभिव्यक्ति में सत्त्व और असत्त्व पक्ष का करना असम्भव है । अभिव्यक्ति विद्यमान होते हुए भी नहीं कर सकती, क्योंकि करने का कभी विराम ही नहीं आयगा । करण में अविद्यमान रहने पर सत्कार्यवाद की हानि हो जायगी । कारक उपादान और सहकारी के भेद से भिन्न-भिन्न होते हैं । वहाँ सूक्ष्म रूप में अनभिव्यक्ति घटादि कार्य का अवस्थान कैसे हो सकता है यदि मिट्टी के पिण्डादि में उपादान मानो तो दण्डादि में कारकता नहीं बनती है ।

उपर्युक्त कथन से ''उपादान ग्रहणात्'' का भी खण्डन कर दिया । व्याधिकरण तथा असिद्धत्वादि दोष यहाँ भी समान हैं । दूसरी बात यह है कि कार्य कारण भाव अन्यव-व्यतिरेक

समधिगम्य है । जो जिससे अन्वय-व्यतिरेक से उपजायमान देखा गया है उसको चाहने वालों के द्वारा उसे ग्रहण किया जाता है, सब नहीं ग्रहण किया जाता है । इस प्रकार पहले से ही कार्य के सद्‌भाव का स्वीकार करना व्यर्थ है । सत्कार्यवाद स्वीकार करने पर मूलतः ही उपादान के ग्रहण के अभाव का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। विद्यमान वस्तु की सिद्धि के निमित्त कोई उपादान का ग्रहण नहीं करता है नहीं तो प्रधान और पुरुष की सिद्धि के लिए भी उपादान ग्रहण करने का प्रसङ्ग आ जाएगा।

इसी तरह उपर्युक्त कथन से ''सर्वसम्भवाभावोऽपि'' का भी चिन्तन हो जाता है। नियत का नियत से जन्म सर्वसम्भवाऽभाव कहा जाता है । जो जिससे उपजाय होता हुआ प्रमाण से जाना जाता है वह दूसरे से भी उपजायमान कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा ।[132]

यदि कार्य कारण में पहले से विद्यमान है तो कार्य और कारण के भेद की कल्पना व्यर्थ है –

कार्य-कारण के विषय में सांख्यों की एक विशिष्ट मान्यता है जो सत्कार्यवाद के नाम से प्रसिद्ध है । उनका कहना है कि प्रत्येक कार्य अपने कारण में सदा विद्यमान रहता है । इसके लिए उनकी युक्ति यह है कि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती है यदि तिलों में तेल न रहता होता, तो उन्हें कोल्हू में पैरने पर भी वह नहीं प्राप्त होता । जैसे कि बालू में तेल का अभाव है, तो बालू के पैरने पर भी तेल प्राप्त नहीं होता ।

अतः यही मानना चाहिए कि कारण में कार्य सत् रूप से रहता है इस प्रकार से उनके कथन का नाम ही सत्कार्यवाद है । इसके निषेध में जैनों का यह कहना है कि यदि कारण में कार्य सत् अर्थात् विद्यमान होता तो, घड़ा बनाने के लिए कुम्भकार को, उसके चाक, और दंडा आदि किसी की भी कोई आवश्यकता नहीं रहती । यदि मिट्टी के पिण्ड में सचमुच घड़ा विद्यमान है, तो फिर वह घड़े के कार्य जल-आहरण, जल-धारण आदि को क्यों नहीं करता ? दूसरे यदि कार्य-कारण में पहले से ही विद्यमान है तो कार्य और कारण के भेदों की कल्पना करना भी व्यर्थ है । तब तो मिट्टी और घड़ा दोनों के लिए एक ही नाम का प्रयोग क्यों नहीं किया जाता ? यदि कहा जाए कि कार्य और कारण में आकार गत भेद है अर्थात् दोनों का आकार भिन्न-भिन्न है तब तो यही मानना पड़ेगा कि कुम्भकारादि सहकारी कारणों की सहायता से कारण रूप मिट्टी के लौंदे में ऐसी कोई विशेषता उत्पन्न हो गई है, जो कि मृत्पिण्ड रूप मूल कारण में नहीं थी । यदि कहा जाए कि कारण के भीतर कार्य था तो पहले से ही विद्यमान, किन्तु वह आविर्भाव रूप से व्यक्त नहीं था, अपितु वह उसमें तिरोभाव रूप से अव्यक्त था । आचार्य का इस पर कहना है कि आविर्भाव और तिरोभाव की कल्पना इन्द्रिजालियें के इन्द्रजाल के समान सर्वथा मिथ्या है, क्योंकि मृत्पिण्ड रूप कारण

ही कुम्भकार आदि के सहयोग से घट के आकार से परिणत हो जाता है । ऐसा नहीं है कि मृत्पिण्ड रूप कारण में कहीं घट रूप कार्य छिपा हुआ बैठा था । किन्तु कुम्भकार के प्रयत्न से वाचक दण्ड आदि के सहयोग से वही मृत्पिण्ड अपनी उस पर्याय को छोड़कर घटरूप पर्याय से परिणत होता है और मृत्तिकारूप द्रव्य दोनों ही अवस्थाओं में ज्यों का त्यों बना रहता है अत: वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही माना चाहिए ।[133]

समीक्षा –

सांख्य के द्वारा 25 तत्त्वों का स्वरूप वर्णन असत् को विषय करने से उपेक्षा के योग्य है, क्योंकि अमूर्त्त आकाश और मूर्त्त पृथ्वी का एक कारण से उत्पन्न होना असम्भव है ।

अमूर्त्त आकाश और मूर्त्त पृथिव्यादि की एक कारण से उत्पत्ति मानने पर अचेतन पंचभूत से चेतन की उत्पत्ति माननी पड़ेगी ।

फुट नोट

1. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन पृ. 19-20
2. सांख्य कारिका - 3
3. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 271
4. सांख्य कारिका - 311
5. डॉ. उमेश मिश्र - भारतीय दर्शन पृ. 293 - गौड़पाद ने "अनेकम्" - बुद्धिरहंकारः पञ्चतन्मात्राण्येकादशेन्द्रियाणि पञ्चमहाभूतानि चेति" - इन्हें गिना दिया है, जिससे यह स्पष्ट है कि "व्यक्त" अनेक हैं । परन्तु गौड़पाद का अर्थ ठीक नहीं है। यहाँ यह कहना कि प्रत्येक व्यक्त अनेक हैं, अर्थात् महत् अनेक है, अहंकार अनेक है, इत्यादि न कि व्यक्तों की ही संख्या अनेक है जैसा गौड़ पाद ने कहा है ।
6. डॉ. दीवान चन्द्र - दर्शन संग्रह पृ. 36
7. सांख्य कारिका - 8
8. उमेश मिश्र - भारतीय दर्शन पृ. 295 सांख्य कारिका - 8, 14
9. सांख्य कारिका - 10-11
10. सांख्य कारिका - 14-16
11. सांख्य कारिका 17; सांख्य प्रवचन सूत्र, 1 : 66
12. राधा कृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 278
13. सांख्य प्रवचन सूत्र 6 : 1-2
14. सांख्य कारिका - 19 - हरिभद्रकृत - षड्दर्शन समुच्चय पृ. 41
    अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः ।
    अकर्ता निर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कापिल दर्शने ॥

15. प्रभाचन्द्रः कृत - न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 351
16. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग-दर्शन पृ. 20
17. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 151-152
18. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन पृ. 418
19. प्रमेय रत्नमाला - हिन्दी व्याख्याकार तथा सम्पादक पं. हीरालाल जैन पृ. 244
20. ततः प्रकृतेः - सांख्य सूत्र 1/65
21. सत्वरजस्तमसा साम्यावस्था प्रकृतिः । प्रकृतेमर्हान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि । सां. सू. 1/61
22. "मूल प्रकृतिरविकृतिः "सां. का. 3
23. "प्रकर्षेण धीयते अन्तर्लीयते सर्व जगत् यस्मिन् तत्प्रधानम् ।" डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 154
24. "परिणामस्वभावा हि गुणा नाऽपरिणम्य क्षणमप्यवतिष्ठन्ते" सां. का. 16 तत्त्व कौमुदी।
25. "सर्वत्र कार्यदशनाद्विभुत्वम् ।" सां. सू. 6/36
26. सांख्य कारिका - 10-11
27. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 156
28. प्र = पहले, कृति = सृष्टि रचना; अथवा प्र = आगे, कृति = बनाना राधाकृष्णन्-भारतीय दर्शन (2) पृ. 260
29. हिन्दी व्याख्याकार तथा सम्पादक - पं. हीरालाल जैन पृ. 18
30. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन न्याय पृ. 420
31. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 350
32. तन्मात्राण्यविशेषाः - सांख्यकारिका 38
33. सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात् । भूतादेस्तन्मात्रः स तामसः तैजसादुभयम् । सां. का. 25
34. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन पृ. 50
35. सांख्य कारिका 22
36. गौड़ पाद भाष्य - सांख्य कारिका 22-38
37. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन पृ. 48
38. सांख्य कारिका - 32-33
39. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा पृ. 157
40. साधकतमकरणम् इतिहिपाणिनितसूत्रम् ।
41. रामशंकर भट्टाचार्य - सांख्य तत्त्व कौमुदी पृ. 219
42. डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्य कारिका (सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा सहित) पृ. 142
43. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा पृ, 158-159

44. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभा पृ. 159
45. चन्द्रिका - सांख्य कारिका 35
46. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 258
47. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन पृ. 58
48. समन्वयात् - सां. सू. 1/131
49. सां. सू. 1/132
50. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 159-160
51. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन पृ. 59
52. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 160-161
53. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन पृ. 60 सां. का. 11
54. निःसत्तासत्रं निःसदन्निरसदव्यक्तमलिङ्गं प्रधानम् (योग भाष्य, 2 : 19 सांख्य प्रवचन भाष्य, 1 : 61)
55. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन पृ. 260
56. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन पृ. 419
57. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन पृ. 420
58. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन पृ. 421
59. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन पृ. 418
60. त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
    व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ सां. का. 11
61. हीरालाल जैन - प्रमेयरत्नमाला पृ. 243-244
62. डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्य कारिका पृ. 95-96-97
63. रामशंकर भट्टाचार्य - सांख्य तत्त्व कौमुदी पृ. 167
64. संख्य सूत्र - 36-37
65. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 265-266
66. सांख्य प्रवचन भाष्य, 2 : 41-42
67. उमेश मिश्र - भारतीय दर्शन - 287
68. हरिभद्र सूरि - षड्दर्शन समुच्चय - 146
69. सांख्य कारिका - 24
70. श्री रामशंकर भट्टाचार्य - सांख्य सूत्रम् - पृ. 121 / 2 / 16
71. सोपर वस्तु विषैं ''मैं करु हूँ'' ऐसा मानने का नाम अहंकार है । पं. टोडरमल जी - मोक्ष मार्ग प्रकाशक पृ. 182
72. श्री सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवम् धीरेन्द्र मोहन दत्त - भारतीय दर्शन पृ. 172-173
73. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 266

74. सांख्य प्रवचन सूत्र 1 : 63
75. सांख्य प्रवचन सूत्र 1 : 63
76. डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य - सांख्य तत्त्व कौमुदी पृ. 180-181
77. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 268
78. सांख्य प्रवचन भाष्य; 2 : 18
79. डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य - सांख्य तत्व कौमुदी पृ. 181
80. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व कौमुदी-प्रभा - 140-141
81. डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य - साङ्ख्य सूत्रम् - 122 - (भागवतम् 3/5/30-31)
82. डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य - साङ्ख्य सूत्रम् - 123
83. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व कौमुदी-प्रभा पृ. - 146
84. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 268
85. सांख्य प्रवचन सूत्र 2 : 26
86. सांख्य प्रवचन सूत्र 2 : 27
87. सांख्य प्रवचन सूत्र 5 : 69-70
88. सांख्य प्रवचन सूत्र 5 : 127
89. श्री हरिभद्रसूरि विरचित - षड्दर्शन समुच्चय पृ. 146
90. श्री हरिभद्रसूरि विरचित - षड्दर्शन समुच्चय पृ. 146-147
91. प्रभाचन्द्रःकृत - न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग 352
92. गौडपाद भाष्य, सांख्यकारिका 38
93. श्री हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन समुच्चय पृ. 147
94. श्री हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन समुच्चय पृ. 148
95. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व कौमुदी-प्रभा - 170
96. उमेश मिश्र - भारतीय दर्शन पृ. 292
97. उमेश मिश्र - भारतीय दर्शन पृ. 294
98. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन पृ. 82-83
99. भगवद्गीता - 2/16
100. सांख्यकारिका 9, सांख्य तत्त्व कौमुदी 9
101. जयमङ्गला टीका, सांख्यकारिका 9
102. डॉ. महेन्द्रकुमार - जैन दर्शन - 419
103. जयमङ्गला टीका, सांख्यकारिका 9
104. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन - 420
105. जयमङ्गला टीका, सांख्यकारिका 9
106. उमेश मिश्र - भारतीय दर्शन - 295
107. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन - 420

108. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन - 420
109. रामशंकर भट्टाचार्य - सांख्य तत्त्व कौमुदी
110. जयमङ्गला टीका, सांख्यकारिका - 9
111. नहि नीलं शिल्पिसहस्त्रेणापि पीतं कतुं शक्यते (तत्त्वकौमुदी, पृ. 9)
112. तत्त्वकौमुदी, पृ. 9
113. भगवद्गीता, 2/16
114. सांख्य प्रवचन सूत्र, 1 : 120-121
115. सांख्य प्रवचन भाष्य, 1 : 121
116. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 256
117. सांख्य तत्त्व कौमुदी, रामशंकर भट्टाचार्य - पृ. 81-82
118. श्री सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवम् श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त - भारतीय दर्शन - 165
119. हीरालाल जैन - प्रमेयरत्नमाला - पृ. 244
120. डॉ. महेन्द्र कुमार एम. ए. न्यायाचार्य - जैन दर्शन - पृ. 418
121. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र - प्रथम भाग - पृ. 354
122. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र - प्रथम भाग - पृ. 354
123. अनन्तवीर्य - न्यायकुमुदचन्द्र - पृ. 354
124. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 354
125. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र पृ. 354
126. हीरालाल जैन - प्रमेयरत्नमाला - पृ. 246
127. हेतुभदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ सां. का. 20
128. श्री हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन समुच्चय - पृ. 149
129. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) - पृ. 356
130. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) - पृ. 356-357
131. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) - पृ. 357
132. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र (प्रथम भाग) - पृ. 358-359
133. प्रमेय रत्न माला - हीरालाल जैन - पृ. 251-252

चतुर्थ – परिच्छेद

चित् शक्ति विचार

सांख्य दर्शन में चित्त का स्वरूप –

सांख्य दो मूल तत्त्व वाला मानता है "प्रकृति" और "पुरुष"। प्रकृति अचेतन है और पुरुष चेतन है। प्रकृति गुणों की समष्टिरूपा है। प्रकृति से विकसित समस्त पदार्थों में बुद्धि सबसे अधिक महत्त्व की है। इन्द्रियाँ अपने ज्ञेय विषयों को बुद्धि के आगे प्रस्तुत करती है, जो उन्हें पुरुष के प्रति प्रदर्शित करती है। यह बुद्धि ही है जो प्रकृति तथा पुरुष के भेद को बताती है और पुरुष के लिए समस्त अनुभव योग्य सामग्री का उपभोग सम्पन्न करती है।[1] बुद्धि उस पुरुष के प्रतिबिम्ब से, जो उसके निकट है, वस्तुतः उसी के रूप की बन जाती है और सब पदार्थों के अनुभव को सिद्ध करती है। बुद्धि यद्यपि प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ है और इसलिए स्वरूप से अचेतन है, तो भी ऐसी प्रतीत होती है मानो ज्ञान सम्पन्न हो।[2] पुरुष अपनी चेतना का संक्रमण बुद्धि में नहीं करता। "अपनी सात्त्विक अवस्था में प्रकृति के पारदर्शी होने के कारम उसके अन्दर प्रतिबिम्बित पुरुष प्रकृति के अहं भाव तथा कर्तृत्व, (अभिमान) को भूल से अपना समझ लेता है। यह भ्रान्तिपूर्ण भाव आत्मा के अन्दर भी है, किन्तु वह प्रकृति के अन्दर प्रतिबिम्बित होने के कारण ही है। वह वस्तुतः आत्मा का निजी भाव नहीं है; जिस प्रकार न हिलता हुआ भी चन्द्रमा जल के अन्दर प्रतिबिम्बित होने के कारण जल की गति के साथ हिलता है।"[3] वाचस्पति का मत है कि पुरुष तथा बुद्धि की अवस्था में कोई संयोग नहीं हो सकता क्योंकि वे दोनों यथार्थता की दो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए यह कहा जा सकता है कि बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब है, जो बुद्धि को चेतनामय बनाता है। अहं भाव बुद्धि तथा पुरुष का प्रतीत होने वाला एकत्व है। जब पुरुष देखता है तो उसके साथ ही बुद्धि में भी परिवर्तन हो जाता है। जब बुद्धि में परिवर्तन होता है तो उसे पुरुष की झलक मिलती है। इस प्रकार पुरुष तथा प्रकृति का संयोग प्रतिबिम्बित पुरुष तथा बुद्धि के विशिष्ट परिवर्तन के एकत्व के साथ-

साथ होता है । पुरुष तथा उससे संलग्न प्रकृति का सम्पर्क इस प्रकार का है कि जो भी मानसिक घटनाएँ मन के अन्दर घटित होती है वे सब पुरुष के अनुभव समझी जाती है; यहाँ तक कि अभेद का सम्बन्ध भी बुद्धि के साथ है, और बन्धन में वह पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है ।[4]

पुरुष का उस बुद्धि के साथ जो इससे संलग्न है, तात्कालिक सम्बन्ध बताया गया है और अन्यों के साथ अप्रत्यक्ष सम्बन्ध बतलाया गया है इस प्रकार विज्ञान भिक्षु का कहना है कि जहाँ एक ओर पुरुष बुद्धि का साक्षी है अर्थात् बिना किसी मध्यस्थ के बुद्धि की अवस्थाओं का साक्ष्य रखता है, वहाँ वह अन्य सबका बुद्धि की सहायता से दृष्टा है । पुरुष अपने आप में स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष होते हुए भी जब बुद्धि के सम्पर्क में आता है तो साक्षी बन जाता है[5] । यदि आत्मा तथा शरीर के सम्बन्ध को वास्तविक समझा जाए तो शरीर की त्रुटियों को भी आत्मा की त्रुटि मानना होगा । इससे आत्मा की अनिवार्य निर्विकारिता के, सांख्य सिद्धान्त के अन्दर त्रुटि आ जाएगी। बुद्धि के विकारों का पुरुष के अन्दर प्रतिबिम्ब होना ही बन्धन है । इस प्रतिबिम्ब का हट जाना ही मोक्ष है, जो कि बुद्धि के पुनः अपनी मौलिक पवित्रता प्राप्त कर लेने पर ही अर्थात् बुद्धि के प्रकृति में विलय हो जाने पर ही सम्भव है । इस प्रकार का कथन कि प्रकृति की क्रिया पुरुष के ही हित के लिए है, केवल इस बात का अलंकारिक रूप है कि यह बुद्धि की पवित्रता के लिए है । बुद्धि अपने आप में सात्त्विक है, किन्तु व्यक्ति विशेष के अन्दर जाकर, पूर्वजन्म के प्रभावों के सम्पर्क के कारण यही रजस् तथा तमस् बन जाती है । दुःख तथा सुख का अनुभव जो हमें प्राप्त होता है, वह बुद्धि तथा विषय रूप जगत् की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा होता है और पुरुष केवल उसमें दर्शकमात्र हैं ।

डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में - हमारे साधारण जीवन हमारी स्वार्थमय इच्छाओं से बंधे हुए हैं और ऐसे दुःख को उत्पन्न करते हैं जो अनिश्चित सुख के एक अंश के साथ मिश्रित होता है । यदि हम अपनी बुद्धि को शुद्ध कर लें तथा अपनी पिछली प्रवृत्तियों से विमुक्त हो सकें, तो हम ऐसी स्थिति में होंगे कि वस्तुओं का निरीक्षण जिस रूप में वे हमसे सम्बद्ध हैं उस रूप में नहीं, बल्कि जिस रूप में वे परस्पर सम्बद्ध हैं उस रूप में, अर्थात् निरपेक्ष रूप में कर सकें । जब बुद्धि में सत्त्व गुण का प्राधान्य होता है तब इसके द्वारा सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है, रजोगुण की प्रधानता से इच्छा उत्पन्न होती है, और तमोगुण की प्रधानता से मिथ्याज्ञान इत्यादि की प्राप्ति होती है ।[6]

बुद्धि के प्रतिबिम्ब का पुरुष में झलकना ही पुरुष का भोग है –

सांख्य दर्शन की मान्यता है कि प्रकृति के सम्पर्क से पुरुष प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है । जैसा कि निम्न श्लोक से प्रकट होता है –

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुण संयोगोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु ।।[7] 21

सांख्य दर्शन में पुरुष अमूर्त्त, चेतन, भोक्ता, नित्य, सर्वव्यापी, क्रियारहित, अकर्त्ता, निर्गुण और सूक्ष्म हैं । अन्धे और लंगड़े पुरुष की तरह प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध होता है । चित् शक्ति (पुरुष) स्वयं पदार्थों का ज्ञान नहीं कर सकती, क्योंकि सुख, दुःख इन्द्रियों द्वारा ही बुद्धि में प्रतिभासित होते हैं । बुद्धि दोनों तरफ से दर्पण की तरह है, इसमें एक ओर चेतनाशक्ति और दूसरी ओर बाह्यजगत् झलकता है । बुद्धि में चेतना शक्ति के प्रतिबिम्ब पड़ने से आत्मा (पुरुष) अपने को बुद्धि से अभिन्न समझता है, और इसीलिए आत्मा में "मैं सुखी हुँ" "मैं दुःखी हूँ", ऐसा ज्ञान होता है । पतंजलि ने भी कहा है - "यद्यपि पुरुष स्वयं शुद्ध है, परन्तु वह बुद्धि सम्बन्धी अध्यवसाय को देखकर, बुद्धि से भिन्न होकर भी अपने आपको बुद्धि से अभिन्न समझता है ।"[8] वास्तव में वह ज्ञान बुद्धि का ही होता है । वाचस्पति ने भी कहा है - "लोक के कार्यों में प्रवृत्ति करने वाले सभी लोग यह मानते हैं कि इसमें हमारा अधिकार है, और यह हमारा कर्त्तव्य है, ऐसा समझकर निश्चय करते हैं निश्चय करने के पश्चात् कार्यों में प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार लोगों में परिपाटी चलती है । यहाँ बुद्धि में चेतना शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने से ही कर्त्तव्य बुद्धि का निश्चय होता है; यह निश्चय बुद्धि का असाधारण व्यापार है ।[9]

बुद्धि में चेतना शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने से अचेतन बुद्धि चेतन की तरह प्रतिभासित होने लगती है । वादमहार्णव में भी कहा है -

"दर्पण के समान बुद्धि में पड़ने वाला पदार्थों का प्रतिबिम्ब पुरुष रूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है । बुद्धि के प्रतिबिम्ब का पुरुष में झलकना ही पुरुष का भोग है इसी से पुरुष को भोक्ता कहते हैं । इससे आत्मा में कोई विकार नहीं आता।[10] आसुरि ने भी कहा है - "जिस प्रकार निर्मल जल में पड़ने वाला चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल का ही विकार है, चन्द्रमा का नहीं, उसी तरह आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ने पर आत्मा में जो भोक्तृत्व है वह केवल बुद्धि का विकार है, वास्तव में पुरुष निर्लेप है ।[11] जैसे भिन्न-भिन्न रंगो के संयोग से निर्मल स्फटिक काले, पीले आदि रूप का होता है, वैसे ही विकारी चेतन पुरुष अचेतन मन को अपने समान चेतन बना लेता है । वास्तव में विकारी होने से मन चेतन नहीं कहा जा सकता ।[12]

प्रतिवादी –

यदि पुरुष निर्गुण और अपरिणामी है, तो उसे मोक्ष नहीं हो सकता । मुच धातु का अर्थ है बन्धन से छूटना । अपरिणामी आत्मा में वासना और क्लेश रूप कर्मों के सम्बन्ध से बन्धन का उत्पन्न होना सम्भव नहीं; अतएव आत्मा के निष्क्रिय होने से उसके परलोक (संसार) भी नहीं हो सकता ।

सांख्य –

नाना पुरुषों के आश्रित प्रकृति के ही बन्ध होता है, वही संसार में भ्रमण करती है, और प्रकृति को ही मोक्ष होता है, अतएव पुरुष के बन्ध, मोक्ष और संसार का व्यवहार उपचार से होता है । जिस प्रकार भ्रत्यों द्वारा किसी सेना की जय, पराजय किए जाने पर वह जय, पराजय सेना के स्वामी की समझी जाती है, क्योंकि जय-पराजय से होने वाला लाभ और हानि का फल स्वामी को ही मिलता है, उसी तरह वास्तव में संसार और मोक्ष दोनों प्रकृति के होते हैं, परन्तु विवेक-ख्याति होने से पुरुष को ही संसार और मोक्ष माना जाता है ।

उत्तर पक्ष –

(1)(क) - यह सब बड़ा भारी जाल है । एक ओर चैतन्य शक्ति है दूसरी ओर वह ज्ञेय पदार्थ के ज्ञान से शून्य है - यह कथन परस्पर विरुद्ध है । चित् धातु जानने के अर्थ में प्रयुक्त होती है । जानने की जो क्रिया होती है अथवा जिसके द्वारा जाना जाए, उसे चित् (चेतनं, चित्येत वा अनयेतिचित्) कहते हैं । यदि यह शक्ति स्व और पर को जानने के स्वभाव वाली न मानी गई तो उसे चेतन शक्ति (चित् शक्ति) नहीं कह सकते, जैसे घट ।

(ख) - अमूर्त्त चेतन शक्ति का बुद्धि में प्रतिबिम्बित न होना युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतिबिम्बित होना मूर्त्त पदार्थ का स्वभाव है । तथा, (चित्त शक्ति का) मूर्त्त पदार्थ के रस से परिणमन का अभाव होने पर उसका (बुद्धि में) प्रतिबिम्बित होना भी युक्त नहीं । प्रकृति रूप (बुद्धि रस) उपाधि में भी, उपाधि के विषय में भी कथांचित् सक्रिय होने के स्वभाव के अभाव में, प्राचीन प्राक्तनरूप से प्रच्युत न हुआ उपाधि- सुख-दु:खादि भोक्तृ संज्ञा के योग्य न होने से, तथा प्राचीन रुप के त्याग से, प्राक्तन रूप का त्याग करके, उत्तर रूप से अध्यासित होने रूप क्रिया रूप में परिणत होने से सक्रियत्व की सिद्धि होती है । स्फुटिक आदि के भी प्राक्तन रूप के त्याग पूर्वक उत्तर रूप से अध्यासित होने रूप क्रिया रूप में परिणत होने से यदि ऐसा न होता, अर्थात् प्राक्तन रूप के त्याग और उत्तर रूप के ग्रहण के बिना स्फटिक में प्रतिबिम्ब का प्रादुर्भाव होता तो अंध पाषण आदि में प्रतिबिम्ब का प्रादुर्भाव क्यों न होता ? तथा परिणाम को स्वीकार करने पर चित् शक्ति का कर्तृत्व और साक्षात् भोदक्तृत्व जबरन स्वीकार करना पड़ेगा ।

शंका –

"भोक्ता (पुरुष) की परिणाम और प्रतिबिम्ब से रहित शक्ति में परिणामी पदार्थ के प्रतिबिम्बित होने पर वह पदार्थ जनित अवस्था का अनुभव करती है ।"[13] पतजलि के इस कथन के अनुसार प्रतिसंक्रम शून्य पुरुष में होने वाला प्रतिसंक्रम (प्रतिबिम्बित होना) औपचारिक ही है ।

समाधान –

"तत्त्वों का निर्णय करने में उपचार अनुपयोगी होता है", इसलिए यह औपचारिक प्रतिसंक्रम बुद्धिमानों को मान्य नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में, अर्थात् परिणामी पदार्थ का प्रतिसंक्रम औपचारिक होने से प्रत्येक आत्मा में पाया जाने वाला सुख-दुःख का अनुभव निराधार ही होना चाहिए; क्योंकि वास्तव में सुख-दुख का आत्मा के साथ सम्बंध नहीं है। यदि कहो कि सुख-दुःख का ज्ञान बुद्धिजन्य है तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि सांख्य मत में तो बुद्धि जड़ मानी गई है।

(2) सुख-दुःख का अनुभव करने वाली होने पर बुद्धि को जड़ मानना भी विरुद्ध है। क्योंकि यदि बुद्धि को जड़ माना जाए तो बुद्धि से ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता।

शंका –

बुद्धि अचेतन होकर चेतना शक्ति के सम्बन्ध से चेतनायुक्त जैसी प्रतिभासित होती है।

समाधान –

यह सत्य है, किन्तु अयुक्त है। चैतन्य युक्त पुरुष आदि के दर्पण में प्रतिबिम्बित होने से दर्पण की चैतन्य स्वरूप से परिणति नहीं होती। चेतना और अचेतनता का स्वभाव अपरिवर्तनीय है, उसमें इन्द्र द्वारा भी परिवर्तन नहीं हो सकता। तथा अचेतन बुद्धि चेतना सहित कैसी प्रतिभासित होती है; यथा - यदि किसी बालक का अत्यन्त क्रोधी स्वभाव देखकर उसका अग्नि नाम रख दिया जाए, परन्तु वह अग्नि की जलाने, पकाने आदि क्रियाओं को नहीं कर सकता, इसी प्रकार विषयों का - ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान चेतन शक्ति से ही हो सकता है, अचेतन बुद्धि में चेतना का आरोप करने पर भी बुद्धि से पदार्थों का ज्ञान सम्भव नहीं। अतएव आप लोगों ने जो बुद्धि के धर्म आदि आठ गुण माने हैं, वे भी केवल वचनमात्र है, क्योंकि धर्म आदि आत्मा के ही गुण हो सकते हैं, अचेतन बुद्धि के नहीं। इसीलिए अहंकार को भी बुद्धि जन्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि अहंकार अभिमान रूप है, इसलिए वह आत्मा से ही उत्पन्न होता है, अचेतन बुद्धि से उत्पन्न नहीं हो सकता।

(3) - आकाश आदि का शब्द आदि पाँच तन्मात्राओं से उत्पन्न होना अनुभव के सर्वथा विरुद्ध है। तथा सब लोगों ने आकाश को नित्य स्वीकार किया है; नित्य एकान्तवाद को मानकर भी केवल सांख्य लोग ही उसकी शब्द तन्मात्रा से उत्पत्ति मानकर असंगत प्रलाप करते हैं। तथा परिणामी (उपादान) वस्तु के परिणाम में कारण हैं, वह अपने कार्य का गुण नहीं हो सकता, इसलिए "शब्द को आकश गुण मानना" भी कथन मात्र है। तथा वाक् आदि इन्द्रियाँ भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि दूसरों को प्रतिपादन करना

किसी वस्तु को ग्रहण करना, विहार करना, मलत्याग करना आदि वाक् पाणि, पाद, पायु आदि कर्मेन्द्रियों से होने वाले कार्य शरीर के अन्य अवयवों से भी किये जा सकते हैं, जैसे उंगलियों द्वारा भी दूसरों का प्रतिपादित किया जा सकता है । अतएव वाक् आदि शरीर के अवयव हैं; इन्हें इन्द्रियाँ नहीं कह सकते। यदि इतर अवयवों द्वारा न किये जाने वाले कार्यों के कर्तृत्व का अभाव होने पर भी वाक् आदि को इन्द्रिय माना जाय, तो इन्द्रियों की ग्यारह संख्या नहीं बन सकती है, क्योंकि शरीर के अन्य अंग-उपांगो को भी इन्द्रियत्व का प्रसंग उपस्थित हो जाता है ।[14]

यथार्थ में बन्ध और मोक्ष प्रकृति से ही होता है –

सांख्य मत में पुरुष न तो प्रकृति-कारण रूप है और न कार्य रुप ही, अत: उसको न बन्ध होता है न मोक्ष, और न संसार ही, ये बन्ध और मोक्ष आदि तो प्रकृति को ही होते हैं - कापलों ने कहा है -

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।। सां. का. 62

चूँकि पुरुष साक्षी आदि स्वरूप वाला है अत: पुरुष के न तो बन्ध ही होता है और न मोक्ष है, न उसे संसार ही होता है । यह सब स्वांग तो बहुरूपिणी प्रकृति ही भरा करती है । वही बंधती है, छूटती है और संसार में परिभ्रमण करती है । इतना अवश्य है कि प्रकृति में होने वाले ये बन्धनादि पुरुष में उपचरित होते हैं।[15] जैसे सैनिकों की जय या पराजय, स्वामी की जय या पराजय मानी जाती हैं, क्योंकि जय-पराजय के फलस्वरूप धनादि की प्राप्ति आदि राजा को ही होती है उसी प्रकार भोग और अपवर्ग दोनों ही यद्यपि प्रकृतिगत है परन्तु विवेक अर्थात् भेद ज्ञान न होने से भोक्ता पुरुष के कहे जाते हैं ।[16] बंधती भी प्रकृति है और छूटती भी प्रकृति ही है यह सारा खेल प्रकृति का ही है ।

जैन - यदि प्रकृति के ही बन्ध और मोक्ष होते हैं तो पुरुष की कल्पना व्यर्थ है ।[17] भोक्ता के रूप में उसकी कल्पना भी युक्त नहीं है, क्योंकि बुद्धि में इन्द्रिय विषय की छाया पड़ने पर भी अपरिणामी पुरुष में भोक्तृत्व रूप परिणमन नहीं हो सकता। तथा पुरुष जब सर्वथा निष्क्रिय एवम् अकर्त्ता है तो वह भुजि-क्रिया का भी कर्त्ता नहीं बन सकता और तब वह "भोक्ता" नहीं कहा जा सकता ।[18] यदि बन्ध और मोक्ष प्रकृति के ही होते हैं, तो पुरुष की कल्पना निरर्थक है । बुद्धि में विषय की छाया पड़ने पर भी यदि पुरुष में भोक्तृत्व रूप परिणमन नहीं होता, तो उसे भोक्ता कैसे माना जाए ? पुरुष यदि सर्वथा निष्क्रिय है तो वह भोग क्रिया का कर्त्ता भी नहीं हो सकता और इसीलिए भोक्तृत्व के स्थान में अकर्त्ता पुरुष की कोई संगति नहीं बैठती ।[19]

पुरुष और प्रकृति का अभेद होने से संसार और मोक्ष का सद्भाव, पुरुष निष्क्रिय और निर्लेप है –

पुरुष तो शुद्ध चैतन्य स्वरूपी है वह तिनके को टेढ़ा करने की भी शक्ति न रखने के कारण अकर्त्ता है वह भोक्ता भी साक्षात् नहीं है, किन्तु करने धरने वाली जड़ प्रकृति के द्वारा ही वह भोक्ता है । वह अज्ञान रूपी अन्धकार से व्याप्त होने से प्रकृति में होने वाले सुख-दु:ख आदि फलों को अपने स्वरूप में प्रतिबिम्बित होने के कारण अपना ही मानता हुआ सुखी होता है और अपनी इस खुशी में मोह से प्रकृति को सुख रूप मानकर संसार चक्र में पड़ा हुआ है । जब इसे यह तत्त्वज्ञान[20] उत्पन्न होता है - कि अरे यह प्रकृति ही समस्त दु:खों की जड़ है मेरा इससे संसर्ग होना उचित नहीं है, तब इस भेद विज्ञान से यह आत्मा उस प्रकृति के द्वारा लाये गये कर्म फलों को नहीं भोगता, उनकी तरफ देखता भी नहीं है । प्रकृति भी बड़ी शर्मदार है उसने जब एक बार यह जान लिया कि - "यह पुरुष मुझसे विरक्त हो गया है उसने मुझे कुरूपा समझ लिया है और अब यह मेरे द्वारा लाये गये कर्म-फलों को नहीं भोगेगा" तब वह कोढ़ वाली स्त्री की तरह स्वयं ही पुरुष के पास नहीं जायगी, उससे स्वयं ही दूर रहेगी । इस तरह प्रकृति का संसर्ग हट जाने पर पुरुष अपने निजी शुद्ध चैतन्य मात्र में स्थित हो जाता है, यह स्वरूपावस्थिति मोक्ष है । पुरुष का स्वरूप चैतन्यमय है । यह चेतन शक्ति, अपरिवर्तनशील नित्य है, अप्रतिसंक्रमादर्पण की तरह स्वयं विषयों के आकार तो नहीं होती परन्तु प्रदर्शित विषया बुद्धि के द्वारा विषयों का प्रदर्शन करती है और अनन्त है । मुक्तात्मा इसी शुद्ध चैतन्य स्वरूप में अवस्थित होता है सुख आदि स्वरूप नहीं; क्योंकि सुख पुरुष का स्वभाव नहीं है; यह तो प्रकृति का कार्य है । प्रकृति तो संसार का नाश होने से मुक्त जीव के प्रति नष्ट हो चुकी है और उसका अधिकार अब मुक्त पुरुष पर नहीं रहा, वह मुक्त पुरुष के प्रति चरितार्थ हो चुकी है ।[21] प्रकृति को जब यह ज्ञान हो जाता है कि "इस पुरुष को तत्त्वाभ्यास से "मैं प्रकृति का नहीं हूँ और प्रकृति मेरी नहीं है" इस प्रकार का विवेक हो गया है और उसे मुझसे विरक्ति हो गई है, तब वह उसका संसर्ग उसी प्रकार छोड़ देती है जिस प्रकार नर्तकी दर्शकों को अपना नृत्य दिखाकर नृत्य से विरक्त हो जाती है । फिर कैवल्य हो जाता है और प्रकृति से उस पुरुष का सदा के लिए संसर्ग छूट जाता है । इस प्रकार सारा खेल प्रकृति का ही है ।[22]

जैन – आपने संसारी आत्मा को अज्ञानान्धकार से आच्छादित बताया था, तो क्या अज्ञान का नाम ही अन्धकार है या अज्ञान और अन्धकार दो वस्तुएँ है ? यदि अज्ञान का नाम ही अन्धकार है और अज्ञानी पुरुष प्रकृति के सुख को अपना सुख मानता है; तो मुक्त पुरुष भी अज्ञानी है; क्योंकि ज्ञान तो बुद्धि का धर्म है और बुद्धि प्रकृति के साथ ही मुक्त पुरुष से बिदा हो चुकी है । तात्पर्य यह है कि मुक्त पुरुष भी बुद्धि के नष्ट हो जाने से

अज्ञानी ही है अत: अज्ञान अन्धकार से व्याप्त होने के कारण वे भी प्रकृति के सुख को अपना सुख क्यों नहीं मानते और हमारी तरह संसारी क्यों नहीं हो जाते ? क्योंकि यदि इस में अभी तक विवेकज्ञान उत्पन्न न होने के कारण अज्ञान है तो मुक्त पुरुषों में विवेकज्ञान उत्पन होकर भी नष्ट हो जाने के कारण अज्ञान है । ज्ञान का उत्पन्न न होना और होकर नष्ट हो जाना करीब-करीब एक ही बात है । यदि अज्ञान से अन्धकार भिन्न वस्तु है, तो बताइए वह कौन सा अज्ञान से भिन्न अन्धकार है जिससे आच्छाछित होकर आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है ? रागादि तो अन्धकार होकर आत्मा के आवरण नहीं हो सकते; क्योंकि यह भी आत्मा के धर्म न होकर अत्यन्त भिन्न प्रकृति के धर्म है; अत: वे आत्मा के आच्छादक नहीं हो सकते । यदि अत्यन्त भिन्न प्रकृति के धर्म होकर भी आत्मा के आवरक हों तो मुक्तात्माओं के स्वरूप को भी यह ढँक देवें, जिस तरह प्रकृति हमारी आत्माओं से भिन्न होकर भी उसके रागादि धर्म हमारी आत्मा में अपना प्रभाव जमा सकते हैं उसी तरह मुक्तात्माओं पर भी उन्हें अपना असर दिखाना ही चाहिए ।

संसारी आत्मा को कर्त्ता नहीं मानकर भी भोक्ता मानने में कृतनाश अकृतागम नाम के बड़े भारी दोष होंगे । जिस बेचारी प्रकृति ने परिश्रम करके काम किया उसे तो उसका फल नहीं मिला और जिस निकम्मे पुरुष ने कुछ किया-कराया तो है नही पर फल भोगने को उसे ही बिठाया जाता है यह तो करे कोई और भोगे कोई वाली बात हुई ।

आप यह बताइए कि - प्रकृति और पुरुष का संयोग किया किसने ? क्या प्रकृति अपने आप पुरुष पर रीझ गई या पुरुष ही प्रकृति पर मोहित हुआ ? यदि प्रकृति ने स्वयं संयोग किया है, तो प्रकृति तो सर्वव्यापी है ? अत: मुक्त पुरुष से भी उसे संयोग करना चाहिए । यदि आत्मा ने ही प्रकृति पर मोहित होकर इससे सम्बन्ध किया है; तो यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा क्यों प्रकृति पर मोहित हुआ और किस प्रयोजन से उसने इसके साथ सम्बन्ध किया ? आत्मा के इस प्रकृति संयोग का कोई कारण है या नहीं ? यदि कोई कारण है तो वह कारण या तो प्रकृति ही हो सकती है या आत्मा ? इन दोनों से भिन्न तीसरी वस्तु तो है ही नहीं, जो इनके संयोग में कारण हो सके । यदि प्रकृति ही कारण है, तो जिस तरह प्रकृति संसारी आत्मा का प्रकृति के साथ संयोग करने में कारण होती है, उसी तरह मुक्तात्माओं के साथ अपना संयोग क्यों नहीं करा देती ? प्रकृति संयोग के पहले तो संसारी और मुक्त दोनों ही आत्माएँ शुद्ध चैतन्य स्वरूप वाली है उनमें कुछ भी ऐसी विशेषता नहीं है जिससे संसारी आत्मा के साथ ही प्रकृति संयोग का अवसर मिलें । यदि आत्मा प्रकृति संयोग में कारण है; तो वह आत्मा जब प्रकृति संयोग में कारण होता है तब वह अकेला बिना प्रकृति के कारण हो जाता है या प्रकृति के साथ ? यदि प्रकृति के सहित होकर

आत्मा प्रकृति संयोग में कारण होता है तो यह "प्रकृति का संयोग किससे हुआ ? प्रकृति से या आत्मा से" इस प्रश्न को बार-बार दोहराने से अनवस्था दूषण होगा। यदि अकेला ही कारण होता है; तब भी वही प्रश्न फिर होगा कि - "प्रकृति रहित, शुद्ध चैतन्य स्वरूपी पुरुष किस कारण से आत्मा और प्रकृति संयोग में कारण होता है ? उसमें कोई हेतु है या नहीं" इस तरह इसी प्रश्न के बराबर चलते रहने से अनवस्था दूषण होगा । इस तरह प्रकृति और आत्मा का संयोग सहेतुक तो सिद्ध नहीं हो पाता। यदि प्रकृति संयोग निर्हेतुक माना जाए, तो मुक्तात्माओं से भी प्रकृति का संयोग हो जाना चाहिए ।

यह आत्मा जिस समय प्रकृति को ग्रहण कराता है उस समय अपने पहले के अकेलेपन को छोड़ता है या नहीं ? यदि अपने अकेलेपन को छोड़ता है; तो परिवर्तन होने के कारण अनित्य हो जायगा । यदि अकेलेपन को नहीं छोड़ता; तब वह प्रकृति को ग्रहण करके दुकेला बन ही नहीं सकता । जिस देवदत्त ने अपना बचपन नहीं छोड़ा है वह जवान कैसे हो सकता है ? युवावस्था का आना बिना बचपन को त्यागे नहीं हो सकता । जब तक पुरुष अपना अकेलापन नहीं छोड़ेगा, तब तक वह प्रकृति सखी का संगी बन गृहस्थ नहीं हो सकेगा । इस तरह सांख्य मत में प्रकृति का संयोग किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता, जब संयोग ही नहीं, तब प्रकृति वियोग रूप मोक्ष की बात ही दूर है, क्योंकि वियोग तो संयोगपूर्वक ही होता है ।[23]

आपने जिस विवेकख्याति-भेद ज्ञान की चर्चा की थी वह भी एकतरह से बिना विचारे ही भले मालूम होने वाली है । आप बताइए कि विवेकख्याति का क्या अर्थ है ? आपने अपने स्वरूप में स्थित प्रकृति और पुरुष को भिन्न-भिन्न प्रतिभास होना ही यदि विवेकख्याति है, तो ऐसी विवेक-ख्याति प्रकृति को होती है या पुरुष को? प्रकृति को तो नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वयं असंवेद्यपर्व - जहाँ किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता - में स्थित है अर्थात् ज्ञान से शून्य है, अचेतन है और आप स्वयं प्रकृति में विवेकख्याति मानते भी नहीं है । इसी तरह आत्मा को भी विवेकख्याति- भेद विज्ञान नहीं हो सकती; क्योंकि वह स्वयं असंवेद्यपर्व में स्थित होने से अज्ञानी है - ज्ञान शून्य है ।

जो आपने कहा था कि प्रकृति भी समझ लेती है कि पुरुष ने मुझे कुरूपा समझ लिया है इत्यादि; वह तो बेसमझी का कथन है; क्योंकि जब प्रकृति अचेतन है, जड़ है, तब वह इतनी समझदार कैसे हो सकती है ? इतना परिज्ञान किसी भी जड़ या अचेतन पदार्थ में कभी भी सम्भव नहीं है ।

मान लो कि पुरुष ने उसे कुरूपा समझ भी लिया है तब भी अचेतन प्रकृति को संसार दशा की तरह मोक्ष अवस्था में भी स्वभाव से ही भोग के लिए पहुँच जाना चाहिए-

जिस प्रकार वायु स्वभाव से ही सर्वत्र चलती रहती है । "प्रकृति का पुरुष के पास भोग को जाना" रूप स्वभाव तो नित्य होने से सदा बना ही रहता है, अत: बिना रोक-टोक मोक्ष में भी पुरुष के पीछे लगकर भोग की सृष्टि करनी चाहिए । मान लो कि किसी व्यक्ति को वायु अच्छी नहीं लगती या उसे वायु से चिढ़ है, तो क्या स्वभावत: बहने वाली वायु उस व्यक्ति से बचकर चलेगी ? इस तरह जब मुक्तात्माओं के पास भी प्रकृति भोग के निमित्त पहुँच जाएगी तब मोक्ष कहाँ रहा ? वह तो भोग-भूमि ही हो जाएगा । यदि उस समय प्रकृति का पुरुष भोग रूप स्वभाव नष्ट हो जाता है; तब वह नित्य एक रूप नहीं रह सकेगी, क्योंकि जिस पदार्थ में किसी एक पूर्व स्वभाव का त्याग तथा नये स्वभाव का उत्पाद होता है वह नित्य एक रूप नहीं रह सकता । परिणामी नित्य पदार्थ में ही पूर्व स्वभाव का त्याग तथा उत्तर स्वभाव के ग्रहण की व्यवस्था हो सकती है । यदि प्रकृति परिणामी, परिवर्तनशील होकर भी नित्य है; तो आत्मा को भी कूटस्थ, नित्य न मानकर परिणामी नित्य ही मानना चाहिए। आत्मा भी तो मोक्ष अवस्था में अपने पहले के भोगी स्वभाव को छोड़कर मुक्त स्वभाव को ग्रहण करता है । इस प्रकार जब आत्मा कूटस्थ नित्य के स्थान पर परिणामी नित्य सिद्ध हो गया तब उसमें सुख ज्ञान आदि परिणाम भी मान लेने चाहिए । यदि उसका अनन्त, सुख, ज्ञान आदि परिणमन नहीं होता तो उसे मोक्ष भी नहीं हो सकेगा । इस तरह सांख्यों के द्वारा माना गया मोक्ष स्वरुप किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता; अत: हमारे द्वारा माना गया अनन्तसुखज्ञान आदि स्वरूप वाला मोक्ष ही युक्तिसंगत है तथा वही मानने योग्य है ।[24]

एक ही चैतन्य हर्ष, विषाद, ज्ञान, विज्ञान आदि अनेक पर्यायों को धारण करने वाला संविद् रूप से अनुभव में आता है । उसी में महान् अहंकार आदि संज्ञायें की जा सकती हैं; पर इन विभिन्न भावों को चेतन से भिन्न जड़-प्रकृति का नियम नहीं माना जा सकता। जल में कमल की तरह पुरुष यदि सर्वथा निर्लिप्त है, तो प्रकृतिगत परिणामों का औपचारिक भोक्तृत्व घटा देने पर भी वस्तुत: न तो वह भोक्ता ही सिद्ध होता है और न चेतयिता ही। अत: पुरुष को वास्तविक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का आधार मानकर परिणामी नित्य ही स्वीकार करना होगा । अन्यथा कृतनाश और अकृताभ्यागम नाम के दूषण आते हैं । जिस प्रकृति ने कार्य किया, वह तो उसका फल नहीं भोगती और जो पुरुष भोक्ता होता है, वह कर्त्ता नहीं है यह असंगति पुरुष को अधिकारी मानने में बनी ही रहती है ।[25]

वेश्या के दृष्टान्त से बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था जानना भी ठीक नहीं है; क्योंकि वेश्या का संसर्ग उसी पुरुष से होता है, जो स्वयं उसकी कामना करता है, उसी पर उसका जादू चलता है । अत: अनुराग होने पर आसक्ति, और विराग होने पर विरक्ति का चक्र तभी चलेगा, जब पुरुष स्वयं अनुराग और विराग अवस्थाओं को धारण करे। कोई वेश्या स्वयं अनुरक्त होकर किसी पत्थर से नहीं चिपटती । अत: जब तक पुरुष का मिथ्या ज्ञान, अनुराग

और विराग आदि परिणमनों का वास्तविक आधार नहीं माना जाता, तब तक बन्ध और मोक्ष की प्रक्रिया बन ही नहीं सकती। जब उसके स्वरुप भूत चैतन्य का ही प्रकृति संसर्ग से विकारी परिणमन हो तभी वह मिथ्य ज्ञानी होकर विपर्ययमूलक बन्ध दशा को पा सकता है और कैवल्य की भावना से संप्रज्ञात, और संप्रज्ञात रुप समाधि में पहुँच कर जीवन्मुक्त और परमुक्त दशा को पहुँच सकता है। अत: पुरुष को परिणामी नित्य माने बिना न तो प्रतीति सिद्ध लोकव्यवहार का ही निर्वाह हो सकता है और न परमार्थिक लोक-परलोक या बन्ध-मोक्ष व्यवस्था का ही सुसंगत रुप बन सकता है।[26]

पुरुष विषय व्यापार का बुद्धि सम्बन्ध –

बुद्धि में तीन अंश होते हैं। जिन्हें पुरुषोपराग-विषयोपराग और व्यापारावेश कहा जाता है। पुरुषोपराग का अर्थ है पुरुष सम्बन्ध, विषयोपराग का अर्थ है विषय सम्बन्ध एवम् व्यापारावेश का अर्थ है व्यापार सम्बन्ध। जैसे "ममेदं कर्त्तव्यम् = यह मेरा कर्त्तव्य है" इस प्रकार का अध्यवसाय बुद्धि को होता है। इस अध्यवसाय में बुद्धि के उक्त तीनों अंशों का स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है। जैसे "मम" से पुरुषोपराग सूचित होता है। यह उपराग बुद्धि और पुरुष में भेदज्ञान न होने से ठीक उसी प्रकार मिथ्या होता है जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ने के समय दर्पण के साथ मुख का सम्बन्ध मिथ्या होता है। "इदं" से बुद्धि के साथ विषयोपराग सूचित होता है। बुद्धि के साथ विषय का यह सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा विषयाकार बुद्धि का परिणाम रूप है, यह ठीक उसी प्रकार सत्य होता है जैसे दर्पण पर मुख के नि:श्वास का आघात होने पर उसके साथ मलिनता का सम्बन्ध। यह सर्वविदित है कि दर्पण में प्रतिबिम्बित सुख का नि:श्वास जब दर्पण पर पड़ता है तो दर्पण वास्तव रूप में मलिन हो जाता है। बुद्धि के साथ पुरुष और विषय का उपराग होने पर उसमें व्यापारावेश होता है अर्थात् कृति सम्बन्ध भी सम्पन्न हो जाता है। अभी यह कहा गया है कि विषयोपराग विषयाकार बुद्धि का परिणाम रूप है जिसे ज्ञान कहा जाता है। बुद्धि के साथ उसका सम्बन्ध सत्य है। बुद्धि का पुरुष के साथ भेद ज्ञान न होने से बुद्धिगत इस ज्ञानात्मक विषयोपराग का पुरुष के साथ भी सम्बन्ध होता है किन्तु यह सम्बन्ध सत्य न होकर ठीक उसी प्रकार मिथ्या होता है जैसे मुख के नि:श्वास से दर्पण में उत्पन्न मलिनता का दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख के साथ सम्बन्ध मिथ्या होता है।[27]

चित् शक्ति विचार: समीक्षा –

चेतन शक्ति को ज्ञान से शून्य कहना परस्पर विरुद्ध है –

चेतनाशक्ति को ज्ञान से शून्य कहना परस्पर विरुद्ध है। यदि चेतन शक्ति स्व और पर का ज्ञान करने में असमर्थ है, तो उसे चेतनशक्ति नहीं कह सकते। तथा अमूर्त्त चेतनशक्ति

का बुद्धि में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता, क्योंकि अमूर्त पदार्थो का ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। चेतनशक्ति को परिणमनशील और कर्त्ता माने बिना चेतनशक्ति का बुद्धि में परिवर्तन होना सम्भव नहीं है । पूर्व रूप के त्याग और उत्तर रूप के ग्रहण किए बिना पुरुष सुख दुःख का भोक्ता नहीं कहला सकता । इस पूर्वाकार के त्याग और उत्तर काल के ग्रहण मानने से पुरुष को निष्क्रिय नहीं कह सकते । तथा, यह पुरुष अनादिकाल से अविवेक के कारण प्रकृति से बन्ध रहा है । परन्तु प्रकृति अचेतन है, इसलिए बन्ध पुरुष को ही मानना चाहिए। तथा प्रकृति का स्वभाव सदा प्रवृत्ति करना है, अतएव प्रकृति अपने स्वभाव से कभी निवृत्त नहीं हो सकती, इसलिए पुरुष का कभी मोक्ष नहीं हो सकता ।

बुद्धि को जड़ मानना भी विरुद्ध है क्योंकि बुद्धि को जड़ मानने से उससे पदार्थों का ज्ञान नहीं हो सकता । जिस प्रकार दर्पण में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ने से अचेतन दर्पण चेतन नहीं हो सकता, उसी प्रकार अचेतन बुद्धि चेतन के प्रतिबिम्ब से सचेतन नहीं कही जा सकती । अतएव धर्म आदि बुद्धि के आठ धर्म मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि बुद्धि अचेतन है । इसी प्रकार अहंकार को भी आत्मा का गुण मानना चाहिए, बुद्धि का नहीं।[28]

बुद्धि में पुरुष प्रतिबिम्ब से भोगोपचार –

देहभोगेन नैवास्य भावतोभोग इष्यते ।
प्रतिबिम्बोदयात्किन्तु यथोक्तं पूर्वसूरिभिः ॥[29]

इस कारिका में सांख्य के इस अभिप्राय का उल्लेख किया गया है कि आत्मा में भोगाभाव का आपादान इष्ट ही है, क्योंकि आत्मा वास्तविक दृष्टि से भोग का आश्रय नहीं हो सकता ।[30]

कारिका के अन्तर्गत आये देह भोग शब्द की "देहेन भोगः" इस प्रकार व्युत्पत्ति होती है । इस व्युत्पत्ति में देह शब्द के उत्तर विद्यमान तृतीयाविभक्ति का अर्थ अभेद हो सकता है जैसे "धान्येन धनम्" इस वाक्य में धान्य शब्दोत्तर तृतीया का अभेद अर्थ होता है । अतः देह भोग शब्द का अर्थ होता है देहात्मकोभोगः । ऐसा अर्थ करने पर भोग शब्द को भुज् धातु से करण अर्थ में धञ् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न मानना होगा । और ऐसा होने पर देह भोग शब्द का अर्थ होगा भोग का देहात्मक साधन। उक्त व्युत्पत्ति में भोग शब्द को भावर्थक घञ् प्रत्यय से निष्पन्न मानने पर देहशब्दोत्तर तृतीया का "द्वार" अर्थ करना होगा। और तब देह भोग शब्द का अर्थ होगा देह द्वारा होने वाला भोग । देह भोग शब्द के उक्त दोनों अर्थों में कोई भी अर्थ लेने पर यही तथ्य उपलब्ध होता है कि भोग के देहाभिन्न साधन से अथवा देह द्वारा होने वाले भोग से आत्मा में वास्तविक भोग नहीं उत्पन्न होता । क्योंकि

आत्मा पूर्ण रूप से कूटस्थ है । अत: विन्ध्यवासी आदि पूर्ववर्ती सांख्यवेत्ता विद्वानों ने यह कहा है कि भोग के वास्तव आश्रयभूत बुद्धितत्त्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब होने से बुद्धिगत भोग का आत्मा में आभास मात्र होता है । यह ज्ञातव्य है कि प्रतिबिम्ब द्वारा भी आत्मा में भोग की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि ''चेतनोऽहं सुखी'' इस अभिमान को ही चैतन्यस्वरुप आत्मा में सुख का अतात्विक भोग कहा जा सकता है । किन्तु यह अभिमान भी सुख दु:खादि अन्त:कारणधर्मों से अनुविद्ध एवम् स्वत: अचेतन महत्तत्व में ही चेतनोपरागवश होता है । अत: इससे आत्मा भोग का आश्रय सिद्ध नहीं हो सकता । यथार्थ में भोग का आश्रय तो बुद्धि ही होती है । अत: उसके सन्निधान से पुरुष में भोक्तृत्व का व्यवहार मात्र होता है । जैसा कि पतञ्जलि ने योग सूत्र के भाष्य में कहा है - ''पुरुष नितान्त शुद्ध होता है। वह बुद्धिगत ज्ञान का अनुद्रष्टा मात्र होता है और अनुद्रष्टा होने के कारण ही ज्ञानात्मक न होने पर भी ज्ञानात्मक जैसा प्रतीत होता है ।'' पतञ्जलि के इस वचन का तात्पर्य पुरुष में भोक्तृत्व न होने पर भी भोक्तृत्व व्यवहार के प्रदर्शन में ही है ।[31]

अमूर्त्त आत्मा का प्रतिबिम्ब असंगत –

आत्मा अमूर्त्त है । इसलिए बुद्धि तत्त्व में उसके प्रतिबिम्ब का उदय युक्तिसङ्गत नहीं हो सकता, क्योंकि जो द्रव्य मूर्त्त एवम् छायावान् होता है वही किसी भास्वर में अपने आकार का प्रतिबिम्बक द्रव्य को उत्पन्न कर सकता है । जैसा कि - ''दिन में किसी अभास्वर द्रव्य में श्यामवर्णा और रात्रि के समय कृष्णवर्णा छाया दिखाई देती है ।'' इस गाथा से स्पष्ट है कि छायावान् मूर्त्त द्रव्य का ही भास्वर द्रव्य में प्रतिबिम्ब होता है । अत: छाया हीन अमूर्त्त आत्मा का बुद्धि में प्रतिबिम्ब मानना सङ्गत नहीं हो सकता । ''छायावान् मूर्त्त द्रव्य भास्वरद्रव्य में अपने समान प्रतिबिम्ब द्रव्य को उत्पन्न करता है'' यह मानना ही युक्ति संगत है क्योंकि यदि छायावान् मूर्त्त द्रव्य से भास्वर द्रव्य में उसके सदृश नये प्रतिबिम्बि द्रव्य की उत्पत्ति न मानी जायेगी किन्तु भास्वर द्रव्य को बिम्बभूत द्रव्य के भ्रम का अधिष्ठान मात्र माना जायगा तो दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब होने पर जो ''इदं मुखम्'' यह प्रतीत होती है उसकी उपपत्ति तो हो सकती है, क्योंकि ''इदं न मुखम्'' इस प्रकार भेद ग्रह न रहने के कारण ''इदं मुखम्'' इस प्रतीति के होने में कोई बाधक नहीं हो सकता, किन्तु दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब होने पर ''इद्रं मुख प्रतिबिम्बम्'' यह भी प्रतीति होती है जिसका उपपादन नहीं हो सकेगा । क्योंकि यदि दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख की उत्पत्ति न मानी जाएगी तो मुख का प्रतिबिम्बत्व जो मुख भ्रम का अधिष्ठानत्व रूप है वह प्रतिबिम्ब काल में गृह्रीत नहीं है अत: ''इदं मुखप्रतिबिम्बम्'' प्रतीति का होना अशक्य है । और यदि प्रतिबिम्ब को द्रव्यात्मक न माना जाएगा तो ''आदर्शे मुखप्रतिबिम्बम्'' इस प्रकार दर्पण और मुखप्रतिबिम्ब में आधार आधेयभाव की प्रतीति भी

न हो सकेगी, क्योंकि आधेय के अभाव में केवल आधार मात्र से आधार-आधेय भाव की प्रतीति नहीं हो सकती है ।[32]

इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि - "दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब पड़ते समय प्रतिबिम्बात्मक किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती किन्तु मुख सान्निध्य और दोषाभावादि सामग्री से मुख में बिम्बत्व और दर्पण में प्रतिबिम्बत्व की अभिव्यक्ति होती है" - किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस पक्ष में आदर्श ही प्रतिबिम्ब कहा जायगा । अत: आदर्श और प्रतिबिम्ब में आधार-आधेय भाव की उक्त प्रतीति की उपपत्ति इस मत में भी न हो सकेगी । एवम् बिम्ब के उत्कर्ष से प्रतिबिम्ब का उत्कर्ष भी न हो सकेगा । आशय यह है कि दर्पण में छोटे मुख का छोटा प्रतिबिम्ब दीखता है और बड़े मुख का बड़ा प्रतिबिम्ब दीखता है । यदि प्रतिबिम्ब नाम के नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होगी किन्तु आदर्श में ही प्रतिबिम्बत्व की अभिव्यक्ति मानी जायगी तो प्रतिबिम्ब में बिम्बाधीन अपकर्ष उत्कर्ष की उपपत्ति न हो सकेगी ।[33] और प्रतिबिम्ब के समय "अयं न आदर्श:" - यह दर्पण नहीं है किन्तु "मुख का प्रतिबिम्ब है" यह सार्वजनीन अनुभव होता है । इस अनुभव की भी उपपत्ति न हो सकेगी । क्योंकि प्रतिबिम्बत्व की अग्राहक सामग्री ही आदर्श के भेद भ्रम का हेतु होती है । अत: आदर्श के भेद भ्रम के साथ प्रतिबिम्बत्व का ज्ञान होना सम्भव नहीं हो सकता । "प्रतिबिम्ब को अतिरिक्त द्रव्य मानने पर उसमें बिम्बावधिकत्व न हो सकेगा, अर्थात् जब तक बिम्ब रहे तब तक उसका अस्तित्व न होकर बिम्ब के अभाव में भी उसके अस्तित्व की प्रसक्ति होगी" - यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्बावधिक नहीं होता किन्तु उसका प्रतिबिम्बत्वरूप धर्म ही सावधिक होता है । अर्थात् बिम्ब के न होने पर प्रतिबिम्ब न होने पर प्रतिबिम्ब का अभाव नहीं होता । किन्तु प्रतिबिम्बत्व की बुद्धि निरुद्ध हो जाती है, क्योंकि प्रतिबिम्बित्व के ग्रहण में बिम्ब का सन्निधान कारण होता है। इसे महत्त्व (= महत्परिणाम) के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। जैसे - जिस द्रव्य में जिस द्रव्य की अपेक्षा महत्त्व की प्रतीति होती है उस द्रव्य के अभाव में महत्त्वेन प्रतीत होने वाला द्रव्य का अभाव नहीं होता अपितु महत्त्व की प्रतीति का निरोध मात्र होता है । अत: जैसे महत्त्व का आश्रयभूत द्रव्य लघु-द्रव्य से सावधिक नहीं होता किन्तु उसका महत्त्व ही उससे सावधिक होता है उसी प्रकार प्रतिबिम्बात्मक द्रव्य बिम्बावधिक नहीं होता किन्तु उसका प्रतिबिम्बत्व रूप धर्म ही बिम्बावधिक होता है ।[34]

आश्रय नाश से प्रतिबिम्बक द्रव्य के नाश की अनुपपत्ति भी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिबिम्बक द्रव्य बिम्बसंनिधान रूप निमित्त से उत्पन्न होता है अत: आश्रय नाश होने पर उस निमित्त का नाश होने के कारण प्रतिबिम्ब द्रव्य का नाश हो सकता है क्योंकि निमित्त का नाश नैमित्तक के नाश के कारण होता है । अतिरिक्त प्रतिबिम्बक द्रव्य की उत्पत्ति मानने

पर अनन्त प्रतिबिम्बों की उत्पत्ति और उनके नाश आदि की कल्पना में गौरव होगा यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्रतिबिम्ब को बिम्बभ्रम मानने वाले "सांख्य" को सादृशय से अतिरिक्त भ्रमजनक अनन्त दोष की कल्पना आवश्यक होने से सांख्य मत में ही गौरव है और उस मत में बिम्बभूतमुख से भिन्न प्रतिबिम्बमुख देखने में सर्वजनसिद्ध अनुभव का सांख्यमत में अपलाप भी होता है।[35] स्फटिकादि में जो लौहित्यादि प्रतीत होता है वह भी पद्मरागादि मूर्त द्रव्य के सन्निधान से उत्पन्न होने वाला स्फटिकादि का परिणाम विशेष ही है और स्फटिक में उसकी प्रतीति साक्षात् सम्बन्ध से ही होती है । यदि स्फटिक में प्रतीत होने वाले लौहित्य को स्फटिक का परिणाम न मानकर भ्रमवश-दोषवश प्रतीत होने वाले पद्मरागादि उपाधियों का ही धर्म माना जायगा तो स्फटिक में उसका साक्षात् सम्बन्ध न होने से परम्परा सम्बन्ध से प्रतीति माननी होगी । अब परम्परा सम्बन्ध को उसकी प्रतीति का जनक मानने पर दूरस्थ स्फटिकादि में पद्मरागादि के लौहित्य का परम्परा सम्बन्ध होने से उसमें भी लौहित्य की प्रतीति का अतिप्रसंग होगा । यदि स्फटिक में लौहित्य के आश्रयभूत पद्मरागादि के विद्यमान संसर्ग को साक्षात् सम्बन्ध से लौहित्य भ्रम का जनक माना जायगा तो "स्फटिको न लोहितः - स्फटिक लाल वर्ण का नहीं है" इस विशेष दर्शन काल में स्फटिक में लौहित्य का भ्रम न होने से उक्त प्रतीति रूप विशेष दर्शन को उत्तेजक मानना होगा । अर्थात् उक्त प्रतीति के अभाव से विशिष्ट पद्मराग के संसर्ग को स्फटिक में परम्परा संबंध से लौहित्य की प्रमा का नियामक मानना पड़ेगा । अतः सांख्य पक्ष में अत्यधिक गौरव होगा ।[36]

उसकी अपेक्षा न्यायसंगत यही है कि स्फटिकगत पद्मराग संसर्ग को स्फटिक में लौहित्य का ही जनक माना जाए । अभिभूत और अनभिभूत रूप का एकत्र समावेश अनुभव सिद्ध है जैसे, रात्रि के समय नक्षत्रों का रूप अनभिभूत रहता है किन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश से अभिभूत रहता है । इसी प्रकार पद्मरागादि के संन्निधान में स्फटिक में अनभिभूत लौहित्य और असंनिधान में अभिभूत लौहित्य के मानने में कोई विरोध नहीं हो सकता । पद्मराग के संनिधान से लौहित्य की उत्पत्ति मानना तब न सम्भव होता जब लौहित्य आदि का नियतारंभ माना जाता अर्थात् नियत देश, काल में नियत हेतु से ही आरम्भ माना जाता - किन्तु यह मत निरर्थक है ।[37] निष्कर्ष यह है कि आत्मा अमूर्त्त है इसलिए वह बिम्बरूप से या उपाधि रूप से बुद्धि में अपने प्रतिबिम्बात्मक उपराग का जनक नहीं हो सकता, यदि जनक होगा तो उसका अकारणत्व सुरक्षित न रह सकेगा । और बुद्धि में होने वाले आत्मा के उपराग को यदि अनिर्वचनीय माना जायगा तो औपनिषद् (वेदान्त) मत में, और असत् माना जायगा तो शून्यवादी बौद्धमत में प्रवेश की आपत्ति होगी ।[38]

''मूर्त्त द्रव्य'' का ही प्रतिबिम्ब हो सकता है अमूर्त्त का नहीं इस कथन की प्रतिक्रिया में कुछ लोगों का विचार है कि - ''अमूर्त्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं होता'' यह मत अनुचित है, क्योंकि रूप परिणामी अमूर्त्त पदार्थों का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। अमूर्त्त द्रव्य का प्रतिबिम्ब नहीं होता - ''यह मत भी मान्य नहीं हो सकता; क्योंकि अभ्रनक्षत्र आदि से युक्त अमूर्त्त आकाश द्रव्य का जानुपर्यन्तजल में दूरस्थ और विशाल रूप में प्रतिबिम्ब देखा जाता है।'' किन्तु यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वोक्त युक्ति से प्रतिबिम्ब एक भावात्मक कार्य है जो बिम्बात्मक कारण से उत्पन्न होता है। अत: यदि आत्मा का प्रतिबिम्ब माना जाएगा तो आत्मा को उस प्रतिबिम्ब का कारण मानना होगा और ऐसा मानने पर आत्मा के सांख्य सम्मत अकारणत्व सिद्धान्त का भङ्ग हो जायगा ।[39]

नित्य एक स्वरूप प्रकृति में बन्ध मोक्ष असम्भव –

प्रकृति सर्वथा एक रूप और नित्य है । सदा परिवर्तन शील रहना ही उसका स्वभाव है । अत: उसमें निवृत्ति रूप अन्य क्रिया नहीं हो सकती । इसलिए इसमें बन्ध और मोक्ष न्याय संगत नहीं हो सकते । ''प्रकृतेरहं पृथक्'' - मैं प्रकृति से पृथक् हूँ, वैसा प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान पुरुष का ही कार्य है । और वही मोक्ष का साधन है । इसलिए पुरुष में ही मोक्ष हो सकता है प्रकृति में नहीं; क्योंकि प्रवृत्तिशील रहना ही उसका सहज स्वभाव है । यह कहना कि - ''प्रकृति ही पुरुष के भोग और मोक्ष दोनों प्रयोजनों का सम्पादन करने के लिए व्यापाररत होती है । अत: वे दोनों प्रयोजन प्रकृति के ही व्यापार से सम्पन्न होने के कारण प्रकृति के ही धर्म हो सकते हैं । प्रकृति ही उनमें पुरुष प्रयोजनत्व उत्पन्न करती है''-ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकृति अचेतन होती है अतएव पुरुष के लिए उसका व्यापाररत होना सम्भव नहीं है। व्यापाररत होने के लिए चैतन्य का होना आवश्यक है; क्योंकि संसार में किसी भी जड़ पदार्थ में स्वतन्त्र रूप से सक्रियता नहीं देखी जाती ।[40]

यह भी ज्ञातव्य है कि - पुरुष का मोक्ष न मानकर यदि प्रकृति का ही मोक्ष माना जायगा और प्रकृति के मोक्ष से ही पुरुष को अपने सहज स्वरुप में अवस्थान होगा तो प्रकृति के सर्वसाधारण होने पर एक की मुक्ति होने पर समस्त संसार का उच्छेद हो जायगा, क्योंकि प्रकृति जब किसी एक आत्मा के लिए अपना व्यापार बन्द करेगी तो उसका वह व्यापार निरोध आत्मा मात्र के लिए हो जायगा, क्योंकि यह सम्भव नहीं है कि एक ही समय में प्रकृति निर्व्यापार भी हो और सव्यापारत्व भी हो, चूँकि सव्यापारत्व और निर्व्यापरत्व में विरोध है । यदि यह कहा जाए कि - ''सव्यापारता और निर्व्यापारता में विरोध होने पर भी भिन्न-भिन्न आत्मा के प्रति उन दोनों का समावेश प्रकृति में एक काल में भी हो सकता है । अत: प्रकृति में एकपुरुषावच्छेदेन मुक्ति और अन्यपुरुषावच्छेदेन मुक्ति का अभाव होने से मुक्ति को प्रकृतिगत

मानने पर भी संसार के उच्छेद की आपत्ति नहीं हो सकती।" तो यह ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति जैसे सर्वगत है आत्मा भी वैसे ही सर्वगत है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि प्रकृति का एक भाग एक ही आत्मा से सम्बद्ध होता है और अन्य आत्मा से सम्बद्ध नहीं होता। और जब ऐसा नहीं हो सकता तब यह बात कैसे युक्तिसंगत हो सकती है कि प्रकृति में एक आत्मावच्छेदेन मुक्ति और अन्यात्मावच्छेदेन मुक्ति का अभाव होता है। यदि यह कहा जाय कि-"पुरुष के सर्वगत होने के कारण पुरुष से प्रकृति का अवच्छेद सम्भव नहीं हो सकता किन्तु बुद्धि के असर्वगत होने के नाते बुद्धि से अवच्छेदन हो सकता है। अत: यह मानना सम्भव है कि "प्रकृति जब एकबुद्धयवच्छेदेन मुक्त होती है तब अन्यबुद्धयअवच्छेदेन अनुक्त भी रह सकती है" - तो यह ठीक नहीं है क्योंकि बुद्धि का क्षय होने पर ही यह मोक्ष होता है तो फिर क्षीण बुद्धि को मोक्ष का अवच्छेदक कैसे कहा जा सकता है ? और मुख्य बात तो यह है कि यदि पुरुष में संसार का वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता किन्तु संसार का वास्तविक सम्बन्ध बुद्धि में ही होता है तो फिर बुद्धि का ही मोक्ष मानना युक्तिसंगत हो सकता है, क्योंकि जो वास्तव रूप में संसारी हो-वास्तव रूप में वही मोक्ष का अधिकारी हो सकता है। अत: पुरुष को संसारी और मुक्त कहना असंगत है।[41]

फुट नोट

1. सांख्यकारिका - 37
2. चेतनावदुद्भव .... । सां. का. 20
3. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) - पृ. 289
4. सांख्य प्रवचन भाष्य - 1 : 19
5. सांख्य प्रवचन सूत्र - 6 : 50
6. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) - पृ. 290
7. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार पृ. 205
8. आह च पातञ्जलि:
   "शुद्धोऽपि पुरुष: प्रत्यय बौद्धमनुपश्यति तमनुपश्यन् अतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते" इति । व्यास भाष्य ।
9. "सर्वो व्यवहर्ता आलोच्य नन्वहमात्राधिकृत इत्यभिमत्य कर्तव्यमेतन्मया इत्यध्यववस्यति ततश्च प्रवर्तते इति लोकत: सिद्धम् । तत्रकर्त्तव्यमिति योऽयं निश्चयश्चिति सन्निधानापन्न चैतन्यामा बुद्धे: सोऽध्यवसायो बुद्धेरसाधारेण व्यापार:" इति । सांख्य तत्त्व कौमुदी।
10. "बुद्धिदर्पणसंक्रान्तमर्थप्रतिबिम्बकं द्वितीयदर्पण कल्पे पुंस्यध्यारोहति । तदेव भोक्तृत्वमस्य न त्वात्मनो विकारापत्ति:।" इति - सांख्य ग्रन्थ विशेष:। जैनाचार्य अभयदेवसूरि वादमहार्णव नाम ग्रन्थं कृतवान् ।
11. विविक्ते दृक् परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।
    प्रतिबिम्बोदय: स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽभ्यसि ॥

12. अनुवादक - डॉ. जगदीश चन्द्र जैन - स्याद्वादमञ्जरी - पृ. 137-138
13. अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसंक्रान्ते च तद्वृत्तिमनुभवति। - पातञ्जलयोगसूत्रोपरि - व्यास भाष्ये - 4-22
14. अनुवादक - डॉ. जगदीश चन्द्र जैन - स्याद्वादमञ्जरी - पृ. 138, 138, 140
15. ''तावेतौ भोगापवर्गो बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपदिश्यते इति । यथा विजय: पराजयो वा योद्धषु वर्त्तमान: स्वामिनी व्यपदिश्येते स हि तस्य फलस्य भोक्तेति, एवम् बन्धमोक्षौ बुद्धावेववर्त्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्यते'' - योग भा. 2/18
16. श्री हरिभद्र सूरि - षड्दर्शन समुच्चय पृ. 154-155
17. तदसम्भवतो नूनमन्यथा निष्फल: पुमान् भोक्ताऽऽत्मा चेत्स एवास्तु कर्ता तदविरोधत:, विरोधे तु तयोर्भोक्तु स्याद्भुजौकर्तृता कथम् ॥ आप्तवचन, का. 81, 82
18. नरेन्द्रसेनकृत - प्रमाण प्रमेय कालिका पृ. 27-28
19. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैनदर्शन - पृ. 421
20. तत्त्प्रधानावगम प्रति यदा पुरुषस्य सम्यग् ज्ञानमुत्पद्यते तदा तेन ज्ञानेन दृष्टा प्रकृति: पुरुषसङ्गान्निवर्तते। स्वैरिणीव पुरुषेणोपलक्षिता । अये इयम् साध्वी मां मोहयति तस्मान्नममानया कार्यमितिवत् तस्यां च निवृत्तायां मोक्षं गच्छति । - सांख्य माठर वृ. श्लोक - 61
21. श्री हरिभद्रसुरि - षड्दर्शन समुच्चय - पृ. 290
22. रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् ।
पुरुषस्य तथाऽऽस्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृति ॥ सां. का. 59
23. श्री हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन समुच्चय - पृ. 91, 92
24. श्री हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन समुच्चय - पृ. 93, 94
25. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन - पृ. 422
26. डॉ. महेन्द्र कुमार - जैन दर्शन - पृ. 426
27. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 94
28. अनुवादक डॉ. जगदीश चन्द्र - स्याद्वादमञ्जरी पृ. 143-144
29. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 104 (कारिका 27)
30. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 104 (कारिका 27)
31. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 105
32. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 108
33. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 108
34. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 109
35 श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 109
36. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 110
37. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 110
38. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 110
39. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 110
40. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 118
41. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 119

पंचम – परिच्छेद

अचेतन ज्ञानवाद मीमांसा

अचेतन ज्ञानवाद मीमांसा – पूर्वपक्ष –

सांख्य ज्ञान को जड़ मानते हैं, प्रकृति और पुरुष ये मूल में दो तत्त्व हैं, प्रकृति को प्रधान भी कहते हैं, प्रधान के दो भेद हैं, व्यक्त और अव्यक्त, अव्यक्त प्रधान सूक्ष्म और सर्वव्यापक हैं, व्यक्त प्रधान से (प्रकृति) सारा जगत् रचा हुआ है, व्यक्त प्रधान से सर्वप्रथम महान् नामक तत्त्व उत्पन्न होता है, उसी महान् तत्त्व को बुद्धि या ज्ञान कहा गया है ।[1] यह महान् नामक तत्त्व विषयों का अध्यवसाय कराता है। यह प्रलयकाल पर्यन्त स्थायी होता है। इस तत्त्व को हम नहीं जान सकते । इस तत्त्व से प्रत्येक प्राणी की बुद्धि निःसृत होती है ।[2] ये बुद्धियाँ दूसरे प्रमाणों के द्वारा जानी जाती है । बुद्धि में प्रतिबिम्बित पुरुष का पदार्थो से सम्पर्क होने का नाम ही ज्ञान है ।[3] जब तक दर्पण के तुल्य बुद्धि में पदार्थ का आकार संक्रान्त नहीं होता तब तक पुरुष को उसका भान नहीं होता । कहा भी है - "बुद्धयध्यवसितमर्थपुरुषश्चेतयते"। अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बित अर्थ का अनुभव पुरुष करता है ।[4] बुद्धि और पुरुष अर्थात् ज्ञान और आत्मा का ऐसा संसर्ग है कि जैसे - लोहे के गोले में अग्नि का । जिसं प्रकार चैतन्य पुरुष में रहता है और कर्तृत्व अन्तः करण में रहता है। फिर भी अन्तःकरण के धर्म का पुरुष में आरोप करके पुरुष को ही ज्ञाता कह देते हैं । कहा भी है - "तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिङ्गम्, गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः । 20 ॥ यस्माच्चतनस्वभावः पुरुषः, तस्मात्तसंयोगाद् अचेतनं महदादि लिङ्गम्, अध्यवसाय, अभिमान, संकल्प - आलोचनादिषु वृत्तिषु चेतनावत् प्रवर्तते । को दृष्टान्तः ? तद्यथा- अनुष्णशीतोघटः शीताभिरद्भिः संसृष्टःशीतो भवति, अग्निना संयुक्तो (वा) उष्णो भवति, एवम् महदादि लिङ्गमचेतनपि भूत्वा चेतनवद् भवति (माठरवृत्ति गौडपाद भाष्य" । पुरुष के संसर्ग के कारण ही महान् आदि तत्त्व अचेतन होते हुए भी चेतन के समान प्रतीत होते हैं ।[5] वैसे ही सत्त्व आदि गुणों में ही कर्तृत्व है, तो भी पुरुष को कर्त्ता माना जाता है । अर्थात् चेतन

स्वभावी पुरुष के संयोग में अपने से महान् आदि लिङ्ग अध्यवसाय अर्थात् ज्ञान तथा अभिमान, संकल्प, विकल्प, विचार आदि क्रियाओं में चेतन के समान ही प्रवृत्ति किया करते हैं। जिस प्रकार घड़ा स्वतः न उष्ण है न शीत है किन्तु शीतल जल के संसर्ग से शीत और अग्नि की उष्णता के संसर्ग से उष्ण कहलाता है उसी प्रकार महान् बुद्धि आदि तत्त्व स्वतः अचेतन होते हुए भी चेतनवद् जैसे बन जाते हैं। इस विवेचन से अच्छी तरह सिद्ध होता है कि ज्ञान जड़ प्रकृति का धर्म या विवर्त है, पुरुष आत्मा का नहीं है। अतः बुद्धि या ज्ञान अचेतन है। ज्ञान अचेतन इसलिए है कि वह अनित्य है, मूर्तिक आकारवान् है, और पुरुष नित्य अमूर्त्त का गुण धर्म वाला है। सो इस प्रकार से वह ज्ञान प्रकृति का ही धर्म हो सकता है। आत्मा पुरुष का नहीं, क्योंकि पुरुष तो सर्वथा नित्य है कूटस्थ है, अमूर्तिक, अकर्ता है; अतः अनित्य ज्ञान उसका होना शक्य नहीं है, हाँ उसका अध्यारोप पुरुष में अवश्य होता है। उस अध्यारोपित व्यवहार से पुरुष को ज्ञाता, ज्ञानवान्, बुद्धिवान् आदि नामों से कहा जाता है, वास्तविक रूप में पुरुष तो मात्र चैतन्यशाली है। इस प्रकार बुद्धि-ज्ञान-जड़ प्रधान से उत्पन्न होने के कारण अचेतन है, यह निर्बाध सिद्ध हुआ।[6]

अचेतन ज्ञानवाद – उत्तर पक्ष –

जैन आचार्यों का कहना है कि ज्ञान जड़ का धर्म नहीं है, वह तो आत्मा का धर्म है। आत्मा ज्ञान परिणाम वाला है, चूँकि वह द्रष्टा है, जो ज्ञान परिणाम वाला नहीं होता वह द्रष्टा भी नहीं होता, यथा - घट आदि। चूँकि आत्मा द्रष्टा है, अतः वह ज्ञान परिणाम वाला है।[7]

सांख्य – यदि अनित्य ज्ञान का आत्मा का परिणाम माना जाएगा तो आत्मा अनित्य ठहरेगा।

जैन – यदि अनित्य ज्ञान को प्रधान का परिणाम माना जाएगा तो प्रधान भी अनित्य हो जाएगा।

सांख्य – व्यक्त और अव्यक्त प्रधान में अभेद होने पर भी व्यक्त प्रधान ही अनित्य है, क्योंकि वह परिणाम रूप है, अव्यक्त प्रधान अनित्य नहीं है क्योंकि वह परिणामी है।

जैन – तो ज्ञान आत्मा में अभेद होने पर भी ज्ञान ही अनित्य है क्योंकि वह परिणाम है। आत्मा अनित्य नहीं है; क्योंकि वह परिणामी है। यदि आत्मा को अपरिणामी माना जाएगा तो वह अर्थ क्रियाकारी नहीं हो सकता और अर्थ क्रियाकारी न होने पर आत्मा का अभाव हो जाएगा क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तु का लक्षण है।

बुद्धि को प्रलय काल तक स्थायी और व्यापक मानना भी असंगत है, क्योंकि वह प्रधान का परिणाम है। जैसे पट प्रधान का परिणाम होने पर भी न तो व्यापी है और न

प्रलयकाल तक स्थायी है, वैसे ही बुद्धि को भी मानना चाहिए। शायद कहा जाए कि आकाश प्रधान का परिणाम होने पर भी व्यापक और स्थायी है, इसी तरह बुद्धि भी है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि आकाश भी प्रधान का परिणाम नहीं है। यदि उसे भी प्रधान का परिणाम माना जाएगा तो वह भी व्यापक और स्थायी नहीं हो सकता।

सांख्य – प्रधान का परिणाम होने पर भी कोई परिणाम तो व्यापक और प्रलयकाल तक स्थायी होता है और कोई नहीं होता।[8]

जैन – तो प्रधान का परिणाम होने पर भी ज्ञान को स्वसविदित और घटादि को अस्वसविदित क्यों नहीं मान लेते? तथा यह बुद्धि रूप परिणाम पहले-पहल प्रकृति से कैसे होता है? यदि स्वभाव से ही होता है तो जो स्वाभाविक होता है, वह अनित्य नहीं हो सकता। अतः बुद्धि रूप परिणाम सदा स्थायी रहेगा ; क्योंकि स्वभाव सदा रहता है।

सांख्य – ''मुझे आत्मा के लिए भोग का सम्पादन करना चाहिए'' इस भाव से प्रकृति ''महत्'' आदि रूप से परिणमन करती है?

जैन – प्रकृति तो जड़ है उसमें इस प्रकार का अनुसन्धान नहीं हो सकता। बुद्धि वृत्ति के उत्पन्न होने पर और उसमें चेतन की छाया पड़ने पर ही अनुसन्धान होता है। सृष्टि काल के आरम्भ में ''मैं पुरुष के लिए प्रवृत्त होऊँ'' यह अनुसन्धान किसे होगा क्योंकि प्रकृति जड़ है और पुरुष उस समय तक अभिलाषा से शून्य है। इसके बिना जैसे दर्पण में मुख प्रतिबिम्बित होता है वैसे ही पुरुष का बुद्धि में प्रतिबिम्बित होना ही चिच्छायासंक्रान्ति कहलाता है। किन्तु व्यापक पदार्थ किसी में प्रतिबिम्बित नहीं हो सकता, जैसे आकाश। उसी तरह आत्मा भी सांख्य दर्शन में व्यापक है। अतः उसका बुद्धि में प्रतिबिम्बित होना सम्भव नहीं है। मुख अस्वच्छ होता है और दर्पण स्वच्छ होता है, अतः मुख का दर्पण में प्रतिबिम्बित होना उचित है। किन्तु बुद्धि तो त्रिगुणात्मक होने से अत्यन्त मलिन है और पुरुष अत्यन्त निर्मल है। तब पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्बित कैसे हो सकता है? यदि होता भी हो तो हम उसे जान कैसे सकते हैं? यदि जान ले तो प्रकृति और पुरुष का भेद ज्ञान होने से सब सदा के लिए मुक्त हो जाँयगे।

इस तरह जैन दर्शन में ज्ञान चैतन्य स्वरूप है। अतः वह जैसे बाह्य पदार्थ के उन्मुख होने पर बाह्य अर्थ को ग्रहण करता है वैसे ही अपने उन्मुख होने पर अपने को भी ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो तो ''मैं घट को जानता हूँ'' इस प्रकार की प्रतीति नहीं हो सकती। भला ऐसा कौन समझदार व्यक्ति है, जो ज्ञान के द्वारा प्रतिभासित पदार्थ का प्रत्यक्ष होना तो माने और ज्ञान का प्रत्यक्ष न माने? जैसे प्रकाश का प्रत्यक्ष हुए बिना उसके द्वारा प्रकाशित अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता वैसे ही प्रमाण का प्रत्यक्ष हुए बिना उसके द्वारा प्रतिभासित अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। अतः जैन दर्शन में स्वपर प्रकाशक ज्ञान ही प्रमाण है।[9]

अचेतन ज्ञानवाद का खण्डन –

सांख्य ज्ञान को अचेतन मानते हैं। उनका कहना है कि प्रधान (प्रकृति) महान (बुद्धि) को उत्पन्न करता है अत: वह अचेतन है । हाँ उस महान् रूप बुद्धि का संसर्ग पुरुष के साथ होता है इसलिए हमें यह आत्मा रूप ज्ञात होती है । जैसे लोहे का गोला अग्नि से भिन्न होकर भी अभिन्न दिखाई देता है । दूसरा एक कारण और है कि बुद्धि आकारवती है अत: वह अचेतन है । चेतन में आकार नहीं है ।[10] प्रधान स्वत: अचेतन हैं, अत: उसकी पर्याय भी अचेतन ही रहेगी, जो चेतन होगा वह प्रधान की पर्याय नहीं होगा, जैसे आत्मा चेतन है, अत: वह प्रधान की पर्याय नहीं है ।

जैन – यह कथन असंगत है, ज्ञान तो साक्षात् आत्मा की पर्याय है, उसमें प्रधान पने का अंश भी नहीं है, देखिए - आत्मा ज्ञान पर्याय वाला है क्योंकि वह द्रष्टा है, जो ज्ञाता नहीं होता वह द्रष्टा भी नहीं हो सकता । जैसे कि घटआदि जड़ पदार्थ, आत्मा द्रष्टा है अत: वह अवश्य ही ज्ञान पर्याय वाला है, आप प्रधान को ज्ञानवान् मानेंगे तो उसी को द्रष्टा भी कहना पड़ेगा, फिर तो आत्म द्रव्य की कल्पना करना व्यर्थ हो जावेगा । जिस प्रकार आत्मा में ''मैं चेतन हूँ'' इस प्रकार का अनुभव होता है, अत: वह चेतन स्वभाव वाला माना गया है, उसी प्रकार ''मैं ज्ञाता हूँ'' इस प्रकार का भी आत्मा में अनुभव होता है अत: उसे ज्ञान स्वभाव वाला भी मानना चाहिए, इसमें कोई विशेषता नहीं है ।[11]

सांख्य – ज्ञान के संसर्ग से ''मैं ज्ञाता हूँ'' इस प्रकार आत्मा में प्रतिभास होता है, न कि ज्ञान स्वभाव वाला होने से मैं ज्ञाता हूँ ऐसा प्रतिभास होता है ।[12]

जैन – यह बात बिना विचारे कही गई है, क्योंकि इस प्रकार के कथन से तो आत्मा में चैतन्य आदि स्वभावों का भी अभाव हो जावेगा, वहाँ भी ऐसा ही कहेंगे कि आत्मा चैतन्य के संसर्ग से चैतन्य है, भोक्तृत्व के संसर्ग से भोक्ता है, औदासीन्य के संसर्ग से उदासीन है और बुद्धि के संसर्ग से शुद्ध है, न कि स्वभाव से वह चेतन आदि रूप है ।[13]

सांख्य – चैतन्य आदि के संसर्ग से आत्मा को यदि चेतन माना जायगा तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधा आवेगी, अर्थात् हम प्रत्येक प्राणी जो ऐसा अनुभव करते हैं कि हम चैतन्य विशिष्ट हैं - हमारी आत्मा चैतन्य स्वभाव वाली है इत्यादि सो इस अनुभव में बाधा आवेगी ।[14]

जैन – इसी प्रकार से यदि ज्ञान संसर्ग से आत्मा को ज्ञानी मानोगे तो प्रत्यक्ष प्रमाण से वहाँ पर भी बाधा आती है, क्योंकि वह आत्मा किसी भी काल में ज्ञान स्वभाव से रहित अनुभव में नहीं आती है, कारण कि ज्ञान के बिना अनुभव होना ही शक्य नहीं है ।[15]

सांख्य – आत्मा को ज्ञान स्वभाव वाला मानोगे तो उसे अनित्य होने की आपत्ति आवेगी ।

जैन – तो फिर प्रधान के ऊपर भी यही दोष आवेगा, क्योंकि प्रधान को ज्ञान स्वभाव वाला मानते हो, तो वह अनित्य हो जावेगा ।[16]

सांख्य – प्रधान का एक परिणाम व्यक्त नाम का है वह अनित्य है, अत: उसमें ज्ञान स्वभावता मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है ।[17]

जैन – तो इसी प्रकार आत्मा के परिणाम ज्ञान विशेष आदि हैं और वे ही अनित्य हैं ऐसा मानने में भी कोई दोष नहीं आता है ।

सांख्य – आप जैन कथंचित् वादी हो, अत: आप आत्मा से ज्ञान का कथंचित् अभेद स्वीकार करते हो, इसलिए ज्ञान के निमित्त से आत्मा में अनित्यपने का प्रसंग आता है ।

जैन – यही दोष प्रधान पर भी लागू होगा अर्थात् प्रधान का परिणाम से भिन्न अभिन्न होने के कारण प्रधान में भी परिणाम के समान अनित्यता आ जावेगी ।[18]

सांख्य – व्यक्त प्रधान और अव्यक्त प्रधान दोनों अभिन्न हैं तो भी परिणाम रूप होने से महदादि व्यक्त ही अनित्य हैं और अव्यक्त प्रधान परिणाम वाला होने से अनित्य नहीं है ।

जैन – इसी प्रकार आत्मा और ज्ञान अभिन्न तो है परन्तु ज्ञान अनित्य है और आत्मा नित्य है । ऐसा सत्य स्वीकार करना चाहिए, दोनों मन्तव्यों में कोई विशेषता नहीं है । यदि आप आत्मा को सर्वथा कूटस्थअपरिणामी मानते हो तो प्रधान को भी सर्वथा अपरिणामी मानना होगा ।[19]

सांख्य – व्यक्त की अपेक्षा से तो प्रधान परिणामी है, किन्तु शक्ति की अपेक्षा से तो प्रधान अपरिणामी ही है । क्योंकि शक्ति की अपेक्षा तो वह कूटस्थ नित्य है।

जैन – उसी तरह आत्मा में भी स्वीकार करना चाहिए । ज्ञान की अपेक्षा वह परिणामी है और शक्ति की अपेक्षा वह कूटस्थ है, कोई विशेषता नहीं है । यह बात भी ध्यान में रखिये कि आत्मा हो चाहे प्रधान हो, किसी को भी यदि सर्वथा अपरिणामी मानते हैं तो उसमें अर्थ क्रिया नहीं हो सकती है । जिसमें अर्थ क्रिया नहीं है वह पदार्थ ही नहीं है । बुद्धि या ज्ञान को यदि स्वसंवदेन का विषय नहीं माना जाए तो वह ज्ञान प्रतिनियत वस्तुओं की व्यवस्था कर नहीं सकता है । क्योंकि वस्तु व्यवस्था तो ज्ञानानुभव पर निर्भर है । जब बुद्धि ही अप्रत्यक्ष रहेगी, तो उसके द्वारा ग्रहण किए गये पदार्थ किस प्रकार प्रत्यक्ष हो सकते हैं । तथा आत्मा का ज्ञान यदि अपने को नहीं जानता है तो उसको अन्य पुरुष का ज्ञान जानेगा.

किन्तु ऐसा देखा गया नहीं है। अत: यह अनुमान सिद्ध बात है कि बुद्धि (ज्ञान) स्वव्यसायात्मक (अपने को जानने वाली) है । क्योंकि वह अन्य कारण की अपेक्षा के बिना ही पदार्थों की पर निरपेक्षता से व्यवस्था भी नहीं करता है जैसे दर्पण आदि कारणान्तर की अपेक्षा के बिना वस्तु व्यवस्था नहीं करते । इसलिए उन्हें स्वव्यवसायी नहीं माना है ।[20]

सांख्य – पदार्थों की व्यवस्था जो बुद्धि करती है वह इसलिए करती है कि वे पदार्थ पुरुष-आत्मा के उपभोग्य हुआ करते हैं । कहा भी है - बुद्धि से जाने हुए पदार्थ का पुरुष अनुभव करता है इसलिए ''अन्य कारण की अपेक्षा के बिना बुद्धि पदार्थ को जानती है'' ऐसा कहा हुआ आपका हेतु असिद्ध दोष युक्त हो जाता है, क्योंकि वह कारणान्तर सापेक्ष होकर ही पदार्थ व्यवस्था करती है ।

जैन – यह श्रद्धामात्र कथन है, क्योंकि बुद्धि और अनुभव इनकी भेद रूप से उपलब्धि नहीं देखी जाती है । अनुभव सिद्ध एक ही ज्ञान रूप वस्तु है जो कि हर्ष, विषाद आदि अनेक आकार रूप से विषय व्यवस्था करती हुई अनुभव में आ रही है, उसी बुद्धि के चैतन्य, अध्यवसाय, ज्ञान ये पर्यायवाची शब्द हैं । इस प्रकार का शब्द मात्र का भेद होने से अर्थ में भेद नहीं हुआ करता है । अन्यथा अति प्रसंग आवेगा ।[21]

सांख्य – बुद्दि में चैतन्य में भेद विद्यमान है, सो भी सम्बन्ध विशेष को देखकर विप्रलब्ध हुए व्यक्ति उस भेद को जान नहीं पाते हैं जैसे अग्नि के सम्बन्ध विशेष के कारण लोहे का गोला अभिन्न दिखाई देता है, लोहा और अग्नि में भेद नहीं है ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि उन दोनों में रूप तथा स्पर्श का पृथक्पना स्पष्ट ही दिखता है, अर्थात् लोहे का गोला गोल-गोल बड़ा होता है, कठोर स्पर्श वाला भी होता है, और अग्नि चमकीले रूप वाली तथा उष्ण स्पर्श युक्त होती है । इस प्रकार प्रत्यक्ष से ही प्रतीत होता है । इस प्रकार जैसे लोहा और अग्नि इन दोनों में अन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षण सम्बन्ध हो जाने से विभाग का ज्ञान नहीं होता है, वैसे ही बुद्धि और चैतन्य में परस्पर अनुप्रवेश होने से भेद नहीं दिखता।

जैन – यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि और लोहे के गोले में भी भेद नहीं रहता, लोहे का गोला अग्नि के संसर्ग से अपने पूर्वाकार का त्याग कर विशिष्ट पर्याय वाला एवम् भिन्न ही स्पर्श तथा रूप वाला बन जाता है, जिस प्रकार घट अपने पहले कच्चे आकार को छोड़कर उत्तर काल में पक्के आकार को धारण करता है ।[22]

शंका – यदि लोहे का गोला अग्नि ही बन जाता है तो आगे जाकर उस पर्याय की आधारता का विनाश कैसे दिखाई देता है ?

समाधान – ऐसी शंका करना ठीक नहीं, क्योंकि उस लोहे के गोले का जो अग्नि रूप परिणमन हुआ है वह तत्काल ही नष्ट होता हुआ नहीं देखा जाता है । देखिए - अनेक

प्रकार के परिणमन और सम्बन्ध वस्तुओं में पाये जाते हैं, कोई वस्तु तो कुछ परिणमन उपाधि का कारण मिलने पर उस उपाधि रुप बन जाती है और उपाधि के हटते ही तत्काल उस परिणमन या पर्याय से रहित हो जाती है, जैसे जपापुष्प सम्बन्ध पाकर स्फटिक तत्काल लाल बन जाता है और उसके हटते ही तत्काल अपने सफेद स्वभाव में आ जाता है । अन्य कोई वस्तु का परिणमन इस प्रकार भी होता है कि वह कुछ काल तक बना रहता है, जैसे सुन्दर स्त्री, माला आदि विषयों के सम्बन्ध से आत्मा में सुख पर्याय कुछ समय तक बनी रहती है, पदार्थों का यह परिणमन स्वत: और पर से भी होता है, इस प्रकार अग्नि और लोहे का गोला इनमें सम्बन्ध के बाद कुछ समय तक भेद नहीं रहता है यह सिद्ध हुआ ।[23]

अचेतन ज्ञानवाद के खण्डन का सारांश –

सांख्य ज्ञान को अचेतन मानते हैं । सो इस मत का खण्डन आचार्य ने इस प्रकार किया है - कि ज्ञान चेतन का धर्म है जैसे कि देखना द्रष्टत्व धर्म चेतन का है, कर्तृत्व आदि धर्म भी चेतन के ही हैं, आपने जो ऐसा कहा है कि बुद्धि आत्मा के साथ संसर्गित होने से चेतन रूप ज्ञात होती है, सो चेतन के विषय में भी ऐसा ही कह सकते हैं अर्थात् चेतन के संसर्ग से आत्मा चेतन दिखायी देता है किन्तु वास्तविक चेतन प्रधान का धर्म है, ऐसी विपरीत मान्यता भी माननी पड़ेगी । तुम कहो कि आत्मा में ज्ञान स्वत: मानें तो आत्मा अनित्य हो जाएगा । इसलिए ज्ञान से भिन्न आत्मा को माना है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि यही दोष प्रधान में भी आता है अर्थात् प्रधान में बुद्धि मानी जाए तो वह भी अनित्य हो जायेगा, इस पर सांख्य ने युक्ति दी है कि, बुद्धि रूप विवर्त्त अव्यक्त प्रधान से पृथक् है तो फिर ऐसे ही आत्मा में मानो कोई विशेषता नहीं, आत्मा भी अपने ज्ञान रूप स्व-पर संवेदन से कथंचित् भिन्न है, अत: यह तो नित्य है और बुद्धि अर्थात् ज्ञान अनित्य है । बुद्धि यदि अचेतन है तो वह प्रतिनियत वस्तु को जान नहीं सकती जैसे दर्पण । बुद्धि और चैतन्य में कुछ भी भेद दिखाई नहीं देता है, व्यर्थ ही उसमें भिन्नता मानते हो । अग्नि और लोहे का दृष्टान्त भी ठीक नहीं, क्योंकि जब लोहा अग्नि के साथ सम्बन्ध करता है तब वह स्वयं ही अपने कठोरता, कृष्णता आदि गुणों को छोड़कर उष्णादि रूप हो जाते हैं। इसलिए इनमें सर्वथा भेद नहीं है । बुद्धि में विषय का आकार मानना भी गलत है, क्योंकि बुद्धि तो अमूर्त्त है, उसमें मूर्त्त आकार कैसे आ सकता है ? बुद्धि के जो लक्षण किए गये हैं वे भी सदोष हैं। प्रथम लक्षण यह कि अन्त: करण रूप जो वह बुद्धि है सो यह लक्षण मत में चला जाता है अत: अतिव्याप्त है, तथा पुरुष के उपभोग्य की निकटता का जो कारण है वह बुद्धि है तो यह लक्षण इन्द्रियों के साथ अतिव्याप्त हो जाता है । इसलिए सदोष लक्षण अपने लक्ष्य को सिद्ध नहीं कर सकता, अन्त में सार यही है कि बुद्धि, आत्मा पुरुष का धर्म है उसी के ज्ञान, अध्यवसाय, प्रतिभास, प्रतीति आदि नाम है ।[24]

संसर्ग का क्या अर्थ है –

चेतन के संसर्ग से अचेतन बुद्धि भी चेतन की तरह प्रतीत होती है तब यहाँ संसर्ग शब्द का क्या अर्थ है - बुद्धि में चेतन का प्रतिबिम्बित होना अथवा प्रकृति का भोग्य और पुरुष का भोक्ता होना ?

प्रथम पक्ष के मानने पर ज्ञान के संसर्ग में ''मैं ज्ञाता हूँ'' इस प्रकार आत्मा में प्रतिभास होता है, न कि ज्ञान स्वभाव वाला होने से मैं ज्ञाता हूँ ऐसा प्रतिभास होता है ।

जैन – यह बात बिना विचार किए कही गई है क्योंकि इस प्रकार के कथन से तो आत्मा में चैतन्य आदि स्वभावों का भी अभाव हो जावेगा, वहाँ भी ऐसा ही कहेंगे कि आत्मा चैतन्य के संसर्ग से चैतन्य है भोक्तृत्व के संसर्ग से भोक्ता है, औदासीय के संसर्ग से उदासीन है और शुद्धि के संसर्ग से शुद्ध है न कि स्वभाव से वह चेतन आदि रूप है।

सांख्य – चैतन्य आदि के संसर्ग से आत्मा को यदि चेतन माना जायगा तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से बाधा आवेगी, अर्थात् हम प्रत्येक प्राणी में ऐसा अनुभव करते हैं कि हम चैतन्य विशिष्ट हैं-हमारी आत्मा चैतन्य स्वभाव वाली है इत्यादि सो इस अनुभव में बाधा आवेगी।

जैन – इसी प्रकार से यदि ज्ञान संसर्ग से आत्मा को ज्ञानी मानोगे तो प्रत्यक्ष प्रमाण से वहाँ पर भी बाधा आती है, क्योंकि वह आत्मा किसी भी काल में ज्ञान स्वभाव से रहित अनुभव में नहीं आती है, क्योंकि ज्ञान के बिना अनुभव होना ही शक्य नहीं हैं ।[25]

दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि निरभिलाष - अर्थात् अभिलाषा रहित है। पुरुष के निरभिलाष होने पर प्रकृति की योग्यता और पुरुष की भोक्तृता नहीं बनती क्योंकि सुख-दुःख की अनुभूति रूप भोग के अभाव में भोग्य और भोक्तापना नहीं होता ।[26]

वह्नि और लोहे के गोले में भी सर्वथा भेद नहीं है –

बुद्धि और चैतन्य के लिए अग्नि और लोहे के गोले का दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है । अग्नि और लोहे के गोले में भी परस्पर भेद नहीं है; ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि इन दोनों में रूप तथा स्पर्श का पृथक्पना स्पष्ट ही दिखता है; अर्थात् लोहे का गोला-गोल-गोल बड़ा होता है तथा कठोर स्पर्श वाला होता है, और अग्नि चमकीले रूप वाली तथा उष्ण स्पर्श युक्त होती है । इस प्रकार प्रत्यक्ष से ही प्रतीति होती है इसलिए जैसे लोहा और अग्नि इन दोनों में अन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षण सम्बन्ध हो जाने से विभाग का ज्ञान नहीं होता है वैसे ही बुद्धि और चैतन्य में परस्पर अनुप्रवेश होने से भेद नहीं दिखता ।

जैन – यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अग्नि और लोहे के गोले में भी भेद नहीं रहता, लोहे का गोला अग्नि के संसर्ग से अपने पूर्वाकार का त्याग कर विशिष्ट पर्याय वाला

एवम् भिन्न ही स्पर्श तथा रूपवाला बन जाता है, जिस प्रकार घट अपने पूर्वाकार (कच्चे) को छोड़कर उत्तरकाल में पाक के आकार को धारण करता है ।

शंका – यदि लोहे का गोला अग्नि ही बन जाता है तो आगे जाकर उस पर्याय की अधारता का विनाश कैसे दिखाई देता है ?

समाधान – ऐसी शंका, करना ठीक नहीं है, क्योंकि उस लोहे के गोले का जो अग्नि रूप परिणमन हुआ है वह तत्काल ही नष्ट होता हुआ नहीं देखा जाता है। देखिये- अनेक प्रकार के परिणमन और सम्बन्ध वस्तुओं में पाये जाते हैं, कोई वस्तु तो कुछ परिणमन उपाधि का कारण मिलने पर उस उपाधि रूप बन जाती है और उपाधि के हटते ही तत्काल उस परिणमन या पर्याय से रहित हो जाती है, जैसे जपा पुष्प का सम्बन्ध पाकर स्फटिक तत्काल लाल बन जाता है और उसके हटते ही तत्काल सफेद स्वभाव में आ जाता है । अन्य कोई वस्तु का परिणमन इस प्रकार भी होता है कि वह कुछ काल तक बना रहता है, जैसे सुन्दर स्त्री माला आदि विषयों के सम्बन्ध में आत्मा में सुख पर्याय कुछ समय तक बनी रहती है । पदार्थों का यह परिणमन स्वतः और पर से भी होता है, इस प्रकार अग्नि और लोहे के गोले में कुछ समय तक भेद नहीं रहता यह सिद्ध हुआ ।[27]

इत्यप्यचोद्यम्; उत्पत्त्यनन्तरमेव तद्विनाश प्रतीतेः। किञ्चिद्ध्यौपाधिकं वस्तुरुपमुपाध्यपायान्तर-मेवापैति, यथा जपापुष्पसन्निधानोपनीतस्फटिकरक्तिमा । किञ्चित्तु कालान्तरे, मनोज्ञा-ङ्गनादिविषयोपनीतात्मसुखादिवत् । सकल भावानां स्वतोऽन्यतश्च निवर्त्त्य न प्रतीतेः । तन्नाग्न्ययोगोलकयोर्भेदः ।[28]

सांख्य का कहना है कि बुद्धि या ज्ञान आत्मा का धर्म नहीं है । वह तो प्रधान जड़ का धर्म है, उस धर्म का आत्मा से संसर्ग होता है इसलिए आत्मा में ज्ञान है ऐसा मालूम पड़ता है । संसर्ग के कारण ही आत्मा और बुद्धि में अभेद दिखाई देता है, जैसे लोहे का गोला अग्नि का संसर्ग पाकर अग्नि रूप ही दिखता है । आचार्य ने उनको समझाया है कि यह लोहे और अग्नि का दृष्टान्त यहाँ पर उचित नहीं है, क्योंकि जिस समय लोहा अग्नि का संसर्ग करता है उस समय लोहा और अग्नि में भेद रहता ही नहीं है, वे दोनों एक रूप ही हो जाते हैं, हम जैन द्रव्य को कूटस्थ नित्य नहीं मानते हैं, विकारी द्रव्य की जो पर्याय जिस समय जैसी होती है द्रव्य भी उस समय वैसा ही बनता है, उस पर्याय से द्रव्य का कोई अलग अस्तित्व नहीं रहता। अतः अग्नि और लोहे का दृष्टान्त आत्मा और ज्ञान पर ठीक नहीं होता है । जैसे अग्नि और लोहे का सम्पर्क होने पर उनमें कोई भेद नहीं रहता वह उसी अग्नि रूप ही हो जाता है, वैसे ही आत्मा और ज्ञान में भेद नहीं है एक ही वस्तु है । ज्ञान और चैतन्य एक ही स्व पर प्रकाशात्मक पर्याय स्वरूप अनुभव में आ रहा है, उसमें

अन्य किसी का सद्भाव नहीं मानना चाहिए, यदि पदार्थ एक रूप दिखाई दे रहा है तो भी उसको अनेक रूप मानेंगे तो कहीं पर भी एकपने की व्यवस्था नहीं रहेगी।[29]

फुट नोट

1. "तस्या: प्रकृते: महानुत्पद्यते प्रथम: कश्चिद् (महान्, बुद्धि, प्रज्ञा, मति: संवित्ति: ख्याति, चित्ति: स्मृति:, आसुरि, हरि:, हर: हिरण्यगर्भ: इति पर्याया) माठर वृत्ति गौडपाद भाष्य (प्रभाचन्द्र: प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ. 261) सांख्य कारिका - 22
2. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 99
3. सांख्य कारिका 36-37 सांख्य प्र. भा. 1/87
4. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 99
5. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेयकमलमार्त्तण्ड - पृ. 261, 262
6. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेयकमलमार्त्तण्ड - पृ. 262
7. न्यायकुमुदचन्द्र - पृ. 191
8. कैलाशचन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 100-101
9. कैलाशचन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 102
10. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 272
11. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 263
12. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 263
13. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 264
14. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 264
15. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 264
16. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 264
17. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 264
18. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 265
19. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 265
20. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 266
21. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 266
22. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 267
23. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 267, 268
24. आचार्य प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 272-273
25. आचार्य प्रभाचन्द्राचार्य - प्रमेय कमल मार्त्तण्ड - पृ. 264
26. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 102
27. आचार्य प्रभाचन्द्राचार्य - प्रमेयकमलमार्त्तण्ड - पृ. 267
28. आचार्य प्रभाचन्द्राचार्य - प्रमेयकमलमार्त्तण्ड - पृ. 268
29. आचार्य प्रभाचन्द्राचार्य - प्रमेयकमलमार्त्तण्ड - पृ. 268

षष्ठ परिच्छेद

प्रमाण - विचार

प्रमाण का लक्षण –

किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसका साधन चाहिए। यथार्थ ज्ञान के साधन को ही प्रमाण कहते हैं। इस ज्ञान की यथार्थता तथा अयथार्थता, सत्यता एवम् मिथ्यात्व का सम्यक् निश्चय प्रमाण द्वारा ही सम्भव है। अतः प्रमेय (ज्ञातव्य-विषय) के यथार्थ ज्ञान के अन्यतम साधन को "प्रमाण" कहते हैं। समस्त ज्ञान में तीन घटक रहते हैं, अर्थात ज्ञात विषय, ज्ञाता विषयी और ज्ञान की प्रक्रिया। सांख्य दर्शन में "विशुद्ध चेतनता" "प्रमाता" (जानने वाला है; रूपान्तर (वृत्ति) "प्रमाण" है, परिवर्तनों का विषय के रूप में चेतनता के अन्दर प्रतिबिम्ब "प्रमा" है। ज्ञेय प्रतिबिम्बित वृत्तियों की विषय वस्तु है।[1]

सांख्य दर्शन में प्रमाण की निम्नलिखित परिभाषायें उपलब्ध होती हैं -

1. अर्थोपलब्धि में जो साधकतम कारण है। वह प्रमाण हैं।
2. "तत्त्व (प्रमाण) असंदिग्धाविपरीतानधिगत्विषया चित्तवृत्ति। बोधश्च पौरुषेयः फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणम्"।[2]
3. श्रोत्रादि-इन्द्रियों की वृत्ति प्रमाण है।[3]
4. "स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्" अर्थात् स्व और पर को निश्चयात्मक रूप से जानने वाला प्रमाण कहलाता है। यहाँ स्व का अर्थ है आत्मा अर्थात ज्ञान का ही स्वरूप और "पर" का अर्थ है ज्ञान से भिन्न पदार्थ। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान अपने स्वरूप को और दूसरे घट-पट आदि पदार्थों को सम्यक् प्रकार से निश्चित रूप से जानता है, वही प्रमाण है।[4]

प्रमाण के भेद –

सांख्य दर्शन मुख्यतः तीन प्रमेयों के आधार पर तीन प्रमाणों को मानता है । भिन्न-भिन्न दर्शनों में प्रमाणों की संख्या भिन्न मानी गयी है ग्यारहवीं सदी के मैथिल विद्वान वादराज मिश्र ने कहा है -

> **प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः ।**
> **अनुमानं च तच्चाथ साङ्ख्याः शब्दं च तेअपि ।।**
> **न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन ।**
> **अर्थापत्या सहैतानि चत्वायहि प्रभाकरः ।।**
> **अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा ।**
> **सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जुगः ।।**

चार्वाक ने "प्रत्यक्ष" मात्र एक, वैशेषिक तथा बौद्धों ने "प्रत्यक्ष" और "अनुमान" दो, सांख्य ने "प्रत्यक्ष","अनुमान" तथा "शब्द" ये तीन, एकदेशी नैयायिक अर्थात् भूषणकार भा सर्वज्ञ ने भी "प्रत्यक्ष" "अनुमान" तथा "शब्द" ये तीन, अन्य नैयायिकों ने उपर्युक्त तीन के अतिरिक्त "उपमान" ये चार, प्रभाकर मिश्र (गुरुमत वाले) मामांसक ने उपयुक्त चार के अतिरिक्त "अर्थापत्ति" मिलाकर पाँच, कुमारिल भट्ट मीमांसक तथा वेदान्तियों ने उपरोक्त पाँच के अतिरिक्त "अभाव" ये छः तथा पौराणिकों ने उपर्युक्त छः के अतिरिक्त "सम्भव" और "ऐतिह्य" मिलाकर आठ प्रमाण माने हैं। यह विश्वास रखना चाहिए कि वैज्ञानिक या दार्शनिक क्षेत्र में प्रमाणों की संख्या को स्वीकार करने में किसी का स्वातन्त्रय नहीं है प्रमेयों के स्वरूप पर प्रमाणों की संख्या निर्भर करती है । यदि एक ही प्रमाण से प्रेमेयों का ज्ञान हो जाए तो दो प्रमाण क्यों माने जाए, यदि दो से निर्वाह हो सके तो तीन क्यों स्वीकार किए जाए ?[5] इसलिए यह विचार आवश्यक है कि किस दर्शन के लिए कितने प्रमाणों की आवश्यकता है। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रमाण तीन ही हैं । इसलिए सांख्य के आचार्यों ने कहा है-

> **दुष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात् ।**
> **त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि ।।**[6]

सांख्य तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है, अर्थात, प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण ।[7] प्रधान आदि पचीस तत्त्व "व्यक्त" "अव्यक्त" तथा "ज्ञ" कहे जाते हैं उनमें से कुछ प्रत्यक्ष के द्वारा, कुछ अनुमान के द्वारा तथा कुछ आगम के द्वारा सिद्ध होते हैं । इसलिए प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम या आप्तवचन ये तीन प्रमाण सांख्य में माने गये हैं ।[8]

प्रमाणों के लक्षण को ईश्वर कृष्ण ने कहा है ।[9]

प्रत्यक्ष प्रमाण –

सांख्य श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है ।[10] श्रोत्र, स्पर्शन, आँखें, जीभ तथा नाक ये पाँच इन्द्रियाँ हैं श्रोत्रादि इन्द्रियों की वृत्ति-परिणमन व्यापार को श्रोत्रादि वृत्ति कहते हैं । सांख्य विषयाकार परिणत इन्द्रियों को ही प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं ।[11] ईश्वर कृष्ण ने प्रत्यक्ष का लक्षण इस प्रकार किया है - ''प्रतिविषयाध्यवसायोदृष्टम्'' अर्थात् अध्यवसाय बुद्धि का व्यापार अथवा निश्यात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं । सांख्य इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण का लक्षण स्वीकार करते हैं । उसका मन्तव्य है कि इन्द्रियों का उद्घाटनादि व्यापार होने पर अर्थ प्रमिति होती है, उसे अभाव में नहीं ।[12] अत: अर्थ प्रकाशन में इन्द्रियों की वृत्ति (व्यापार) करण होने से वह वृत्ति ही प्रमाण है, इन्द्रियाँ, मन, आत्मा या उनका संनिकर्ष आदि नहीं, क्योंकि उनके रहते हुए भी इन्द्रियों के व्यापार के अभाव में अर्थ परिच्छित्ति नहीं होती । अत: इन्द्रिय व्यापार को ही प्रमाण मानना उचित है ।[13]

सांख्य का कहना है कि अर्थ प्रमिति में इन्द्रिय वृत्ति ही साधकतम है अत: उसे ही प्रमाण मानना चाहिए । इन्द्रियाँ जब विषय के आकार परिणमन करती हैं तभी वे अपने प्रतिनियत शब्द आदि का ज्ञान कराती है । अत: पदार्थ का सम्पर्क होने से पहले इन्द्रियों का विषयाकार होना इन्द्रियवृत्ति है वही प्रमाण है ।[14]

इन्द्रियवृत्ति अर्थात प्रत्यक्ष दो प्रकार को होता है - 1- निर्विकल्प और 2- सविकल्प। जिस क्षण में इन्द्रियों के साथ विषय का संयोग होता है । उस क्षण में विषय का जो आलोचन होता है उसे निर्विकल्पक कहते हैं । यह मानसिक विश्लेषण-संश्लेषण से पूर्व की अवस्था है । इससे केवल विषय की प्रतीति मात्र होती है, विषय की प्रकारता का ज्ञान नहीं होता।

दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभन वह हे जिसमें विषय का मन के द्वारा विश्लेषण, संश्लेषण और रूप निर्धारण होता है । इसे सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं । यह विषय इस प्रकार का है, ''इसमें अमुक गुण हैं, इसका अमुक विषय से सम्बन्ध'' है । इस प्रकार की विवेचना इस प्रत्यक्ष में होती है ।[15]

प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय –

सांख्य ने एक ब्रह्म के ही चेतन और अचेतन रूप विरूद्ध परिणमन की आपत्ति को हटाने के लिए अनन्त चेतनों का स्वतन्त्र अस्तित्व तथा जड़ प्रकृति का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है । इनके मत में जड़ और चेतन एक दूसरे के प्रति परिणामी कारण नहीं होते । एक ही

जड़ प्रकृति पृथ्वी जल आदि मूर्त तथा आकाश नामक अमूर्त्त भूत के रूप में परिणमन करती है। घट-पट आदि कार्य उसी सूक्ष्म प्रकृति के परिणमन हैं। यहाँ भी लगभग वैसा ही विरोध वर्तमान है कि कैसे एक प्रकृति एक साथ निष्क्रिय और सक्रिय, मूर्त्त और अमूर्त्त आदि नाना रूपों में परिणमन कर सकती है फिर घट-पट आदि में विरुद्ध परिणमन क्यों दृश्यमान होते हैं ?[16]

प्रत्यक्ष ज्ञान के अंग –

प्रत्यक्ष ज्ञान के अंगों का निरूपण करते हुए विज्ञान भिक्षु ने लिखा है -

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं वृत्तिरेव च ।
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिबिम्बनम् ॥
प्रतिबिम्बतवृत्तीनां विषयोमेय उच्यते ।
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युः करणस्यानपेक्षणात् ॥
साक्षाद्दर्शनरूपं च साक्षित्वं साङ्ख्यसूत्रतम् ।
अविकारेण द्रष्ट्त्वं साक्षित्वं चापरे जगुः ॥1[7]

शुद्ध चेतन "प्रमाता" है, वृत्ति "प्रमाण" है। अर्थ अर्थात् प्रत्यक्ष विषय के आकार से आकारित चित्तवृत्ति का चेतन में प्रतिबिम्बित होना "प्रमाण" है। प्रतिबिम्बित वृत्तियों का विषय "मेय" अर्थात् "प्रमेय" कहलाता है। करण के साहाय्य के बिना ही साक्षी अर्थात् चेतन पुरुष से भाष्य "वृत्तियाँ" है। साक्षात् दर्शन रूप "साक्षित्व" कहलाता है। यही सांख्य का सिद्धान्त है। कुछ लोगों का कहना है कि बिना किसी प्रकार के विकार के द्वारा द्रष्ट्रत्व ही "साक्षित्व" है।[18]

अनुमान प्रमाण –

"अनुमानं लिङ्गालिङ्गिपूर्वकम्" अर्थात अनुमान व्याप्य एवम् व्यापक के ज्ञान से उत्पन्न होता है। निश्चित् एवम् सन्दिग्ध उपादि के बिना ही जिस वस्तु का स्वभावतः साहचर्य या अविनाभाव सम्बन्ध होता है उसे व्याप्य कहते हैं तथा जिसके साथ वह सम्बन्ध होता है, उस द्वितीय वस्तु को व्यापक कहते हैं। इस प्रकार दो वस्तुओं, व्याप्य एवम् व्यापक के साहचर्य सम्बन्ध अथवा व्याप्ति ज्ञान के अनन्तर पक्ष में व्याप्य, लिङ्ग या हेतु का ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है।[19]

यथा दण्ड (लिङ्ग) को देखकर "यति" (लिङ्ग) का या यति को देखकर उसके "दण्ड" का ज्ञान अनुमान से होता है। इसी को "कारण" से "कार्य" का जैसे- जल से भरे हुए काले बादल (कारण-लिङ्ग) को देखकर वृष्टि (कार्य-लिङ्ग) का ज्ञान अनुमान से होता है।[20]

अनुमान के सात प्रकार के सम्बन्ध –

सांख्यचार्यों ने लिङ्ग और लिङ्गी के द्वारा अनुमान मे सात प्रकार के सम्बन्ध माने हैं –

सम्बन्धाश्च सप्त–तत्र –

1. स्वस्वाभिभाव सम्बन्धो, यथा राजपुरुषयो: ।
2. प्रकृतिविकारसम्बन्धो यथा यवसक्त्वो: ।
3. कार्य कारण भाव सम्बन्धो, यथा धेनुवत्सयो: ।
4. पात्रपात्रिक सम्बन्धों, यथा परिवृद्त्रिविष्टब्धयो: ।
5. साहचर्य सम्बन्धो, यथा चक्रवाक्यो: ।
6. प्रतिद्वन्द्विसम्बन्धो, यथा शीतोष्णयो: । तत्रैकस्य भावऽन्यभाव: प्रतीयते'।
7. निमित्त नैमित्तक सम्बन्धो यथा भोज्य भोजकयोरिति ।[21]

अनुमान के भेद –

ईश्वर कृष्ण ने अनुमान का प्रामाण्य स्वीकार करते हुए उसे त्रिविध प्रतिपादित किया है ।[22] परन्तु उनकी परिगणना नहीं की है । अगली कारिका में एक सामान्तोदृष्ट अनुमान का अवश्य निर्देश मिलता है[23] और उससे अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि का कथन किया है। पर युक्तिदीपिकाकार[24], माठर वृत्तिकार[25] और तत्त्वकौमुदीकार[26] ने अपनी व्याख्याओं में उन भेदों को स्पष्ट किया है । वाचस्पति[27] ने उद्योतकर की तरह अनुमान के वीत और अवीत ये दो भेद भी प्रदर्शित किए हैं । वीत को पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट तथा अवीत को शेषवत् बताकर उन्होंने सांख्य और न्याय परम्परा के अनुमान त्रैविध्य के साथ समन्वय भी किया है । उद्योतकर[28] के संकेतानुसार वाचस्पति[29] ने एक प्राचीन कारिका में उद्धरणपूर्वक सांख्य दर्शन के सप्तविध अनुमानों का भी उल्लेख किया है और ''इत्यपिपुराकृत वेदितव्यम्'' कहकर उनका निरास किया है । प्रभाचन्द्र ने उक्त सात अनुमानों का सविवेचन समालोचन किया है ।[30] उससे प्रतीत होता है कि सांख्य दर्शन में सप्तविध अनुमान की मान्यता सांख्य दर्शन में उपलब्ध ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होती ।

चरक शास्त्र में भी[31] न्याय सूत्र के अनुसार बिल्कुल उन्हीं नामों से अनुमान के तीन भेद निर्दिष्ट हैं[32] ।

पूर्ववत् –

'दृष्टस्वलक्षणसामान्यविषयम्' - अर्थात पूर्ववत् अनुमान के द्वारा किसी विषय के सामान्य रूप का ही ज्ञान होता है जिसका विशिष रूप अथवा व्यक्तिगत स्वरूप पहले प्रत्यक्ष हुआ

रहता है । यथा धूम हेतु के द्वारा पक्ष पर्वत में अग्नि सामान्य की अनुमिति होती है जिस अग्नि का विशिष्ट रूप पूर्वकाल में व्याप्ति ग्रहण करते समय पाकशाल में देखा गया रहता है अर्थात वह अग्नि किस रूप, आकार, परिणाम इत्यादि की है। इस प्रकार पूर्ववत् अनुमान का विषय सामान्य ही है, विशेष नहीं ।

शेषवत् - इस अनुमान का विषय शेष या अवशिष्ट है । शेष बचे हुये में ही किसी वस्तु का ज्ञान करना शेषवत् अनुमान है । न्याय दर्शन के अनुसार प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसंगात् शिष्यमाणेसंप्रत्ययः परिशेषः । किसी वस्तु की जहाँ कहीं पर भी प्रसक्ति, सम्भावना हो, वहाँ पर प्रतिषेध, निराकरण होने पर तथा अन्यत्र उसकी सम्भावना भी न होने पर शेष बचे हुए पदार्थ में ही उसका ज्ञान करना शेषवत् अनुमान है । यथा, शब्द गुण है । गुण होने के कारण किसी द्रव्य में ही आश्रित होना चाहिए । किन्तु आत्मा-मन-काल-दिक् तथा पृथिवी-जल-तेज-वायु इत्यादि आठ द्रव्यों में यह नहीं है और द्रव्य से भिन्न तत्त्वों में यह रह नहीं सकती क्योंकि गुण सदैव द्रव्य में ही समवाय सम्बन्ध से रहता है । अतः शेष बचे हुये आकाश रूप नवम द्रव्य में शब्द की स्थिति का अनुमान करना ही शेषवत् है ।[33]

सामान्यतोदृष्ट –

'अदृष्टस्वलक्षण सामान्यविषयम्' अर्थात सामान्यतोदृष्ट अनुमान द्वारा किसी पदार्थ के सामान्य रूप का ही ग्रहण होता है जिसका व्यक्तिगत या विशिष्ट रूप पहले नहीं देखा गया रहता । यथा रूप रस गन्ध आदि का ज्ञान क्रिया होने से इनके करण, मपख्य साधन चक्षु, जिह्वा, घ्राण इत्यादि इन्द्रियों का ज्ञान होता है । किन्तु करण रूप इन इन्द्रियों का अपना विशिष्ट रूप कभी भी पहले प्रत्यक्ष नहीं हुआ रहता । यथा लेखन इत्यादि क्रिया के साधन लेखनी का विशिष्ट रूप पहले देखा गया रहता है। रूपरसगन्धस्पर्शशब्द आदि का ज्ञान क्रिया होने से इनके कारण भूत इन्द्रियों का अनुमान होता है । किन्तु कभी भी इन इन्द्रियों का व्यक्तिगत प्रकार पृथक् रूप से किसी भी साधन से कहीं अन्यत्र नहीं देखा गया रहता ।

आप्तवचन या आगम प्रमाण –

"आप्तश्रुतिराप्तवचनम्" अर्थात् आप्तवचन या आगम प्रमाण युक्त श्रुति को कहते हैं ।[34] निर्दोष यथार्थ वक्ता के वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान ही आगम प्रमाण है। वेद अपोरुषेय है । अतएवं संशय-विपर्यय-मिथ्या इत्यादि समस्त दोषों से रहित होने के कारण वेद के वाक्य आप्तयुक्त हैं । इसी प्रकार भगवान कपिल आदि महर्षियों के वचन भी आप्त हैं । इन्हीं वाक्यों से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान, विषयाकार अध्यवसायात्मिका बुद्धि का परिणाम शब्द प्रमाण है । यह वाक्यार्थ ज्ञान स्वरूप शब्द प्रमाण स्वतः प्रमाण है । यह प्रबलतम प्रमाण है । अपने प्रामाण्य के लिए किसी की अपेक्षा न रखने के कारण यह निरपेक्ष रूप से स्वतन्त्र प्रमाण है ।[35]

डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में - आप्तवचन अथवा विश्वसनीय कथन भी यथार्थ ज्ञान का एक स्रोत है । शब्द का अपने पदार्थ के साथ वैसा ही सम्बन्ध है, जैसा कि चिन्हित वस्तु के साथ चिन्ह् का सम्बन्ध है । यह आप्त पुरुषों की शिक्षा से प्रकट है, प्रयोग तथा प्रथा के विधान, परम्पराओं और इस तथ्य से भी प्रकट है कि शब्द एक ही अर्थ का प्रकट करते हैं । वेदों के विषय में कहा जाता है कि वे किसी पुरुष द्वारा नहीं रचे गये हैं, क्योंकि कोई ऐसा भी मनुष्य नहीं है जो वेदों के रचियता होने का सामर्थ्य रखता हो । मुक्तात्माओं को वेदों से कोई सम्बन्ध ही नहीं है, और संसार के बन्धन में पड़े हुए मनुष्यों के अन्दर वह योग्यता नहीं कि वह इस कार्य को कर सकें और न ही वेद नित्य हैं, क्योंकि उनका स्वरूप अन्य कार्यों जैसा ही है । उच्चारण किए जाने के पश्चात् अक्षर नष्ट हो जाते हैं । जब हम कहते हैं ''यह वही अक्षर है'' तो इसका आशय यह होता है कि यह उसी वर्ग का है। केवल इसलिए कि वेदों का उद्भव किसी शरीरधारी से नहीं हुआ, हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि वे नित्य हैं, क्योंकि अंकुर नित्य नहीं है यद्यपि इसका विकास भी किसी शरीरधारी से नहीं है । वेदों के विषय इन्द्रियातीत हैं, तो भी ''इन्द्रियातीत विषयों में भी व्यापक रूपों के द्वारा, जिनसे पदार्थ अथवा शब्द द्वारा प्रतिपादित विषय के स्वरूप का निर्णय होता है, अन्तर्द्रष्टि हो सकती है । यद्यपि वेदकिसी शरीरधारी की रचनाएं नहीं हैं, तो भी आप्त विद्वानों ने अपने शिष्यों को पदार्थों को व्यक्त करने की उनकी स्वभाविक शक्ति का पता दे दिया है । अशरीरी द्वारा रचित होने के कारण, वेद संशय और परस्पर असंगति से रहित हैं और उन्हें स्वत: प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है । यदि वेदों की प्रमाणिकता अन्य किंसीपर आश्रित होती, तो वे हमारे लिए प्रामाणिक ग्रन्थ सिद्ध न हो सकते । कपिल मुनि ने कल्प के प्रारम्भ से उन्हें केवल स्मरण किया । उनके अन्तर्गत जो धार्मिक उपदेश हैं उनको मुक्त पुरुषों ने कसौटी पर कसकर तद्नुकूल आचरण किया और उन्हें अन्यान्य मनुष्यों तक पहुँचाया। यदि वे जिनसे हम शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, स्वयं प्रेरणा प्राप्त ऋषि नहीं हैं, बल्कि उन्होंने भी उस ज्ञान को दूसरे से लिया है तो यह ऐसी अवस्था है जैसे कि एक अन्धा दूसरे अन्धे का मार्ग प्रदर्शक हो । हम आप्त पुरूषों के वाक्यों को यथार्थ मानकर स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनके वाक्यों की प्रामाणिकता ज्ञान की अन्यान्य शाखाओं, यथा आयुर्वेद आदि, में कसौटी पर कसे जाने पर सिद्ध हो चुकी है ।[36]

विपर्यय ज्ञान के विषय में सांख्य का प्रसिद्धार्थ ख्यातिवाद -

सांख्य दर्शन विपर्यय ज्ञान में प्रसिद्धार्थख्यातिवाद को मानता है उसका कहना है - विपर्यय ज्ञान में प्रतीति सिद्ध अर्थ का ही प्रतिभास होता है । शायद कहा जाए कि - विचार करने पर उस अर्थ का असत्व सिद्ध होता है । किन्तु यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि प्रतीति

के सिवा और विचार ही असम्भव है और विपर्यय ज्ञान में प्रतिभासित अर्थ प्रतीति से अबाधित है। अत: जो अर्थ प्रतीति सिद्ध हो उसका विचार करना ही अयुक्त है हथेली पर रखे आँवले का अस्तित्त्व भी प्रतीति पर ही निर्भर है। वही प्रतीति विपर्यय ज्ञान के विषय में भी है।[37] शायद कहा जाए कि मरीचिका में जल का प्रतिभास होने पर जब ज्ञाता उस स्थान पर पहुँचता है तो वहाँ जल का प्रतिभास नहीं होता अत: वहां जल का अस्तित्व ही ठहरा है यह कथन भी युक्त नहीं है क्योंकि यद्यपि उस स्थान में जाने पर वह अर्थ नहीं रहता, किन्तु जिस समय वहाँ जल का ज्ञान हुआ उस समय तो है ही। यदि उत्तर काल में उस अर्थ का अभाव होने से प्रतिभास काल में भी अभाव माना जाएगा तो ऐसी स्थिति में बिजली का अपने ज्ञान काल में भी अभाव सिद्ध होगा, क्योंकि बिजली एक बार चमक कर लुप्त हो जाती है। इसलिए यह प्रसिद्धार्थ ख्याति ही है।[38]

प्रमाणों की विषय –

सांख्य सम्मत इन तीन प्रमाणों का विषय चार प्रकार का अर्थ है, जो सांख्यों के शास्त्र में वर्णित है।[39] कोई प्रकृति ही है कोई विकृति ही है कोई प्रकृति विकृति दोनो रूप है तथा कोई अनुभव रूप है – न प्रकृति है न विकृति है।[40]

प्रधान आदि पच्चीस तत्त्व ही ''व्यक्त'' ''अव्यक्त'' तथा ''ज्ञ'' कहे जाते हैं। उनमें से कुछ प्रत्यक्ष के द्वारा, कुछ अनुमान के द्वारा तथा कुछ आगम के द्वारा सिद्ध होते हैं।

प्रमाण–विचार समीक्षा

प्रमाण संख्या परीक्षा –

तीन प्रमाण मानने वालों का प्रमाण संख्या का नियम सिद्ध नहीं होता; क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों को स्वीकार करने वाले सांख्यों के आगम प्रमाण से भी प्रत्यक्ष और अनुमान की तरह सांध्य और साधन के सम्बन्ध का निश्चय न हो सकने से उसका निश्चय करने वाले तर्क को उन्हें प्रमाण मानना पड़ता है। नैयायिकों के प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम की तरह उपमान से भी लिङ्ग और लिङ्गी (साधन और साध्य) के सम्बन्ध (व्याप्ति) का ग्रहण सम्भव न होने से उसके ग्रहण के लिए उन्हें भी तर्क परिणाम को स्वीकार करना अनिवार्य है तथा प्राभाकरों के प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान की तरह अर्थापत्ति से साधन-साध्य के सम्बन्ध का निश्चय सम्भव न होने से उसके निश्चय के लिए उन्हें भी तर्क प्रमाण मानना आवश्यक है। जो यह मीमांसक, प्रत्यक्ष अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अभाव ये 6 प्रमाण मानते हैं, उनके प्रत्यक्ष आदि की तरह अभाव प्रमाण से भी व्याप्ति का निर्णय न हो सकने से उन्हें भी उसके निर्णयार्थ ऊह प्रमाण को स्वीकार करना अपरिहार्य है।

शङ्का –

ऊह अपने विषय (साध्य-साधन सम्बन्ध) के साथ सम्बद्ध होकर सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, या सम्बद्ध होकर ही ? यदि असम्बद्ध होकर ही वह सम्बन्द्ध का ज्ञान कराता है, तो अनुमान भी बिना व्याप्ति सम्बन्ध के ही अनुमेय का ज्ञान करा देगा । यदि सम्बद्ध होकर वह सम्बन्ध का निश्चय कराता है, तो प्रश्न होता है कि उस सम्बन्ध का ज्ञान किससे होता है ? प्रत्यक्ष तो सम्भव नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है । अनुमान से भी उसके सम्बन्ध का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि अनवस्था का प्रसंग आ जायगा । यदि अन्य ऊहा से उसका सम्बन्ध माना जाए, तो वह ऊहा भी अपने विषय के साथ सम्बद्ध होकर ही सम्बन्ध का निश्चय करायेगा और उस सम्बन्ध का ज्ञान अन्य ऊहा पूर्वक होने से अनवस्था आयगी । अर्थात् एक दूसरे पृथक ऊह प्रमाण से सम्बन्ध का निश्चय मानने पर वही प्रश्न होगा और अन्य-अन्य प्रमाणों की परिकल्पना होने से प्रमाण की नियत संख्या कहीं (जैन दर्शन में) भी सिद्ध न हो सकेगी ।[41]

समाधान –

नहीं, क्योंकि उक्त प्रकार की आपत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण पर भी उठायी जा सकती है। अर्थात प्रत्यक्ष अपने विषय का निश्चय उससे सम्बद्ध होकर कराता है या असम्बद्ध होकर? द्वितीय पक्ष में पूर्ववत् अतिप्रसंग दोष आता है । प्रथम पक्ष में यह बताना आवश्यक है कि उसके सम्बन्ध का ज्ञान किससे होता है ? अनुमान से तो सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उनका विषय नहीं है । दूसरे प्रत्यक्ष से उसका ज्ञान मानने पर वही प्रश्न उठने से अनवस्था आये बिना न रहेगी और उस हालत में प्रत्यक्ष प्रमाण को भी स्वीकार करना अशक्य हो जायेगा।

शङ्का –

प्रत्यक्ष में अपने विषय के सम्बद्ध ज्ञान के निमित्त से प्रमाणता नहीं है, अपितु अपनी योग्यता के बल से ही वह अपने विषय में प्रमाण है । यदि ऐसा न हो तो किसी विषय में वह अपूर्वार्थग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकेगा ।

समाधान –

उक्त कथन युक्त नहीं हैं क्योंकि इस प्रकार ऊहा भी अपनी योग्यता के सामर्थ्य से ही अपने विषय का निश्चय कराता है; उसके ऊपर अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। अतः ऊपर उद्भावित दूषण निरर्थक हैं । वह योग्यता विशेष अपने विषय के आवारक ज्ञानावरण और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपक्षमविशेष रूप है और वह जिस प्रकार प्रत्यक्ष में है उसी प्रकार ऊहा में भी स्वीकार किया गया है, उसके सद्भाव में कोई बाधक नहीं है तथा जिस प्रकार

प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में मन इन्द्रियाँ आदि सामग्री योगयता की सहायक है, क्योंकि वह बाह्यनिमित्त है, उसी प्रकार ऊहा ज्ञान की भी उत्पत्ति में भूय: प्रत्यक्ष (धूम और अग्नि का एक साथ अनेक बार दर्शन) और अनुपलम्भ (अग्नि और धूर्म का अदर्शन) आदि सामग्री योग्यता की सहकारिणी है क्योंकि वह बहिरंग निमित्त है । उसके होने पर ऊहा ज्ञान होता है और उसके अभाव में वह नहीं होता । तात्पर्य यह है कि ऊहा अन्वय और व्यतिरेक पूर्वक होता है । होने पर होना अन्वय है और न होने पर न होना व्यतिरेक है । जैसे - अग्नि के होने पर ही धुआँ होता है, यह अन्वय है और अग्नि के अभाव मे धुआँ नहीं होता यह व्यतिरेक है । इन अन्वय और व्यतिरेक पुरस्सर व्याप्ति के निश्चय के लिए ऊहा प्रमाण की प्रवृत्ति होती है और जब तक व्याप्ति का निश्चय नहीं होगा, तब तक अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होगा । अत: कहना होगा कि ''तर्क प्रमाण है'' अन्यथा अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार तर्क अपर नाम ऊहा प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान आदि से पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है ।[42]

इन्द्रियवृत्ति की समीक्षा –

इन्द्रियवृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाण है, सांख्य का उक्त कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियवृत्ति अचेतन है और जो अचेतन होता है वह पदार्थ को जानने में साधकतम नहीं हो सकता ।[43] 'साधकतंमकरणं' । पर इन्द्रिय व्यापार अर्थ प्रमिति में साधकतम नहीं है, सिर्फ साधक है । इन्द्रिय व्यापार से ज्ञान उत्पन्न होता है और ज्ञान से अर्थ प्रमिति होती है अत: अर्थ प्रमिति में अव्यवहित - साक्षात्कारण ज्ञान है और इसलिए वही साधकतम है । इन्द्रिय व्यापार अर्थ प्रमिति में व्यवहित परम्परा कारण है, अत: वह उसमें साधकतम नहीं है । दूसरे इन्द्रियाँ प्रकृति का परिणाम होने से अचेतन है । अत: उनका व्यापार अचेतन-अज्ञान रूप है और अज्ञान रूप इन्द्रिय व्यापार अज्ञान निवृत्ति रूप प्रमा में साधकतम नहीं हो सकता और जब वह साधकतम नहीं हो सकता तो वह प्रमाण कैसे है।[44]

इसके अतिरिक्त एक प्रश्न यह होता है कि इन्द्रिवृत्ति क्या है ? इन्द्रियों का पदार्थ के पास जाना, पदार्थ की ओर अभिमुख होना अथवा पदार्थ के आकार होना? प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि सन्निकर्ष की समीक्षा करते हुए बताया है कि इन्द्रियाँ पदार्थ के पास नहीं जातीं। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है; क्योंकि इन्द्रियों का पदार्थ की ओर अभिमुख होना ज्ञान की उत्पत्ति में कारण होने से उपचार से प्रमाण हो सकता है । वास्तव में तो प्रमाण ज्ञान ही है । तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं है, क्यों कि इन्द्रियों का पदार्थ के आकार का होना प्रतीति विरुद्ध है । जैसे- दर्पण पदार्थ के आकार को अपने में धारण करता है, वैसे श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ पदार्थ के आकार को अपने में धारण करती नहीं देखी जातीं । यदि ऐसा हो तो जैसे दर्पण में पदार्थ के झलकने

को लेकर कोई विवाद नहीं होता वैसे ही इन्द्रियों के विषय में भी कोई विवाद न होता; क्योंकि जो बात प्रत्यक्ष सिद्ध होती है उसमें विवाद को स्थान नहीं रहता ।

यह मान भी लिया जाए कि ईन्द्रिय वृत्ति कोई चीज है तो भी यह प्रश्न होता है कि वह वृत्ति इन्द्रियों से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो वह इन्द्रिय वृत्ति ही कहलायी, अर्थात इन्द्रियाँ और उसकी वृत्ति एक ही हुई । किन्तु इन्द्रियाँ तो सुप्तावस्था में भी विद्यमान रहती है । अत: उस समय भी अर्थ परिच्छित्ति होना चाहिए ।[45] यदि कहा जाए कि उनमें समवाय सम्बन्ध है तो समवाय तो एक-नित्य और व्यापक है और श्रोत्रादि का सद्भाव भी सर्वत्र है, ऐसी स्थिति में प्रतिनियत देश में व्यापार के होने का नियम समाप्त हो जायेगा।[46] और अर्थ परिच्छित्ति सर्वत्र होगी दूसरे सांख्यों ने समवाय को स्वीकार भी नहीं किया । अगर उनका सम्बन्ध संयोग माना जाए तो वह इन्द्रियों का व्यापार न होकर पृथक् द्रव्य बन जाएगा। क्योंकि संयोग दो स्वतन्त्र पदार्थों में होता है । धर्म-धर्मी में नहीं । अत: इन्द्रिय व्यापार इन्द्रियों का धर्म सिद्ध नहीं होता । यदि उसे पृथक्, पदार्थ माना जाए, तो वह उनका व्यापार नहीं माना जा सकेगा, जैसे पृथक् घटादि पदार्थ इन्द्रियों का व्यापार नहीं माने जाते। यदि व्यापार इन्द्रियों से अभिन्न है तो तादात्म्य पक्ष में जो दोष आता है वही दोष अभिन्न पक्ष में भी विद्यमान है।

तीसरे इन्द्रियों का व्यापार तैमिरिक रोगी को होने वाले द्विचन्द्र ज्ञान तथा संशय आदि मिथ्या ज्ञानों में भी प्रयोजक होता है, पर वे ज्ञान प्रमाण नहीं है । अत: इन्द्रियों के व्यापार को प्रमाण मानना संगत नहीं है । हाँ ज्ञान में कारण होने से उसे उपचार से प्रमाण मानने में कोई आपत्ति नहीं है । मुख्य रूप से तो ज्ञान ही प्रमाण है।[47]

भिन्न अथवा अभिन्न विकल्पों की अपेक्षा इन्द्रिय वृत्ति का निरास–

इन्द्रियों से वह वृत्ति भिन्न होगी या अभिन्न होगी ? यदि अभिन्न है तो वह श्रोत्रादि मात्र ही है। वह सुषुप्तावस्था में भी होगी । ऐसी स्थिति में सोए और जागे हुए में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा । यदि भिन्न है तो वहाँ सम्बद्ध है या असम्बद्ध? यदि असम्बद्ध है तो श्रोत्रादि की वह वृत्ति है ऐसा व्यपदेश कैसे होगा ? जो जहाँ असम्बद्ध है, वह उसका है ऐसा व्यपदेश नहीं होता जैसे - हिमालय में विन्ध्य का। श्रोत्रादि से वृत्ति भी इसी प्रकार असम्बद्ध है । यदि सम्बद्ध है तो समवाय से सम्बद्ध है या संयोग से सम्बद्ध है; अथवा विशेषण भाव से सम्बद्ध है ? समवाय से सम्बद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि समवाय का स्वरूप ही असिद्ध है । समवाय का स्वरूप सिद्ध भी मानो तो भी समवाय तो नित्य व्यापि है और श्रोत्रादि का सद्भाव वैसा है अत: प्रतिनियत देशवाली वृत्ति अभिव्यक्त होती है यह कहना दुर्घट है । संयोग से भी सम्बद्ध नहीं कही जा सकती; क्योंकि उस वृत्ति का अन्य द्रव्यान्तरपना प्रसक्त होता है । द्रव्य और अद्रव्य कासंयोग युक्त नहीं है । संयोग गुण है, क्योंकि वह द्रव्य के आश्रित

है। वृत्ति की इन्द्रियधर्मता स्वीकार करना विरुद्ध है विशेषण भाव से भी सम्बद्ध नहीं है। सम्बन्धान्तर से असम्बद्ध अर्थ में हिमालय और विन्ध्य आदि को समान विशेष भाव असम्भव है । अत: विचार्यमाण इन्द्रिवृत्ति का सत्व असम्भव होने से ''विषयाकार परिणत इन्द्रिय वृत्ति का अवलम्बन लेने वाली मनोवृत्ति है ऐसा कहना कैसे सुघट होगा ? इन्द्रिय वृत्ति का विषयाकार परिणतपना जब घटित नहीं होता है, तो मनोवृत्ति का तदालम्बनपना भी घटित नहीं होता है। अत: मनोवृत्ति बाह्यार्थ का अवलम्बन न लेने वाली ही युक्त है। इस प्रकार बाह्येन्द्रिय की कल्पना की अनर्थकता का प्रसंग नहीं आता है। बाह्येन्द्रिय से निरपेक्ष मन की विज्ञान उत्पत्ति में प्रवृत्ति नहीं होती है । यदि ऐसा माना जाएगा तो जिस पदार्थ को पहले कभी नहीं देखा है उसमें भी मन से विज्ञान की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जाएगा। बाह्येन्द्रियों को मन की अपेक्षा नहीं है ऐसा भी नहीं है । यदि ऐसा माना जाएगा तो दूसरी जगह चित्र के लगे रहने पर भी बाह्येन्द्रिय से विज्ञान की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जाएगा ।[48]

सांख्य सम्मत हेतु (अनुमान भेद परीक्षा) –

सांख्य अवीत, वीत और वीतावीत ये तीन हेतु भेद मानते हैं सो वे भी अन्यथानुपयन्नत्व के नियम के निश्चय का अतिक्रमण करके प्रतिष्ठित नहीं होते और न उपर्युक्त हेतु भेदों से अतिरिक्त हैं । नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार केवलान्वयी आदि तीन हेतुओं के रूप में ही उनका कथन है । किसी एक जगह साध्यधर्म और साधनधर्म का अविनाभावनियमरूप साहचर्य को ज्ञात कर दूसरी जगह साधन धर्म को देखकर साध्यधर्म का ज्ञान करना अवीतानुमान है। जैसे - गुण और गुणी परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि वे भिन्न ज्ञानों का विषय है, घट और पट की तरह यह केवलान्वयी कहा जाता है । यथार्थ में कथंचित् भेद को ही साध्य बनाने पर अन्यथानुपपन्नत्व सिद्ध होता है । सर्वथा भेद को साध्य बनाने पर तो गुण-गुणी भाव का विरोध होने से हेतुगमक नहीं हो सकता ।

किसी जगह एक धर्म (साध्य) की व्यावृत्ति (अभाव) होने पर दूसरे धर्म (साधन) की व्यावृत्ति (अभाव) को अविनाभाव नियम से सहित ज्ञात कर अन्य स्थान में उस धर्म (साधन) के निश्चय से साध्य की सिद्धि करना वीतानुमान है । जैसे - ''जीवित शरीर आत्मा सहित है, क्योंकि उसमें प्राणादि पाये जाते हैं'' । इसी को केवल व्यतिरेकी माना गया है। आत्मा परिणामी होने से उसकी राख में आत्मा की व्यावृत्ति होने पर प्राणादि की भी व्यावृत्ति-नियम से पायी जाती है । जो आत्मा को निरन्वय क्षणिक अथवा कूटस्थ (सर्वथा नित्य) स्वीकार करते हैं । उन्ही के मत में प्राणादि अर्थक्रिया की उत्पत्ति नहीं बन सकती ।

तथा वीत और अवीत दोनों का लक्षण जिसमें पाया जाये वह वीतावीत अनुमान है। इसी को अन्वय व्यतिरेकी कहा गया है । जैसे - ''पर्वत अग्नि वाला है, क्योंकि उसमें धूम है'' । इस अनुमान में वीत और अवीत दोनों के लक्षण अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक दोनों पाये

जाते हैं, इसलिए यह वीतावीत अथवा अन्वय व्यतिरेकि अनुमान माना गया है । अत: वीतावीत अतिरिक्त हेतु नहीं है ।[49]

अतएव ''अन्यथानुपपन्नत्व'' के नियम का जिसमें निश्चय हो वह हेतु है, यह ठीक ही कहा गया है, क्योंकि उसके साथ हेतुओं के सभी भेद चाहे वे अति संक्षेप से या संक्षेप से, विस्तार से या अतिविस्तार से कहे गये हों, व्याप्त है अर्थात् इन सभी हेतु भेदों में अन्यथानुपपन्नत्व के नियम का निश्चय होने से वे सम्यक् हेतु माने गये हैं । इस प्रकार के साधन से जो शक्य (अबाधित), अभिप्रेत (इष्ट) और अप्रसिद्ध साध्य को सिद्ध करने के लिए विशिष्ट ज्ञान किया जाता है वह अनुमान है । किन्तु जो साध्य बाधित है, जैसे सर्वथा एकान्त, उसमें साधन की वृत्ति नहीं होती, क्योंकि उसमें वह विरुद्ध है, इसी तरह जो स्वयं अनिष्ट (अनभिप्रेत) है वह भी साध्य नहीं हो सकता है, क्योंकि अतिप्रसङ्ग दोष आता है तथा जो प्रसिद्ध है वह भी साध्य नहीं बन सकता क्योंकि वह सिद्ध होने से उसे पुन: सिद्ध करना व्यर्थ है । अत: बाधित, अनभिप्रेत और सिद्ध ये तीनों साध्याभास हैं क्योंकि वे साधन के विषय नहीं है । अकलंक देव ने भी कहा है -

''जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है वह साध्य है और उससे भिन्न अर्थात् अशक्य अनभिप्रेत और प्रसिद्ध है वह साध्याभास है क्योंकि वह साधन का विषय होता है । वह विरुद्ध (बाधित-अशक्य) आदि हैं ।''

इस प्रकार उपर्युक्त साधन से होने वाला साध्य का विशिष्ट ज्ञान स्वार्थ अनुमान है। जो अभिनिबोध स्वरूप है और जो विशिष्ट मतिज्ञान है उसकी ''अभिनिबोध'' संज्ञा इसलिए है, क्योंकि साध्य को सिद्ध करने के लिए अभिमुख (प्रवृत्त) एवम् नियमित (अन्यथानुपपन्नत्व) के नियम से सहित) साधन से वह ज्ञान (अनुमान), जो तर्क का (ऊहा का) फल है उत्पन्न होता है । (अभि-अभिमुख + नि-नियमित + बोध =अभिनिबोध ऐसा ज्ञान स्वर्थानुमान है। परार्थ अनुमान श्रोत्रमतिज्ञान और अश्रोत्रमतिज्ञान पूर्वक होने के कारण अक्षरश्रुत ज्ञान और अनक्षरश्रुत ज्ञान है । किन्तु वचनात्मक परार्थानुमान मानना युक्त नहीं है, क्योंकि शब्द, चाहे प्रत्यक्ष परामर्शी (प्रत्यक्षोल्लेखी) हों और चाहे अनुमन परामर्शी (अनुमानोल्लेखी) हों सभी द्रव्य श्रुत (पौद्गलिक) हैं, वे अज्ञान निवृत्ति कराने में असमर्थ हैं । यदि वचनात्मक परार्थानुमान माना जाए तो प्रत्यक्ष भी वचनात्मक पदार्थ क्यों नहीं होगा, क्योंकि दोनों में कोई विशेषता नहीं है - दोनों समान है । प्रतिपादक और प्रतिपाद्यजनों के स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के कार्य तथा कारण होने से अनुमान परामर्शी वाक्य (अनुमानाव व वाक्यों) को उपचार से परार्थानुमान करने में हमें विरोध नहीं है, उन्हें मुख्यपरार्थानुमान नहीं माना जा सकता, मुख्य परार्थानुमान तो ज्ञानात्मक ही हो सकता है, क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति उसी से सम्भव है, अज्ञान रूप वचनात्मक परार्थानुमान से नहीं ।

यह "अनुमान" परोक्ष प्रमाणक्योंकि वह अविशदद् है, जैसे- "श्रुतज्ञान" ।[50]

प्रसिद्धार्थख्याति मानने पर भ्रान्त और अभ्रान्त व्यवहार का अभाव–

सांख्य दर्शन विपर्यय ज्ञान में प्रसिद्धार्थख्यातिवाद को मानता है । उसका कहना है कि - विपर्यय ज्ञान में प्रतीति सिद्ध अर्थ का ही प्रतिभास होता है । किन्तु सांख्यों का उक्त मत अविचारित है, क्योंकि ऐसा मानने पर भ्रान्त और अभ्रान्त प्रतीति का व्यवहार ही नष्ट हो जाएगा; क्योंकि जब प्रत्येक प्रतीति यथावस्थित अर्थ को ग्रहण करती है तब कोई प्रतीति भ्रान्त और कोई अभ्रान्त यह व्यवस्था बिना हेतु के कैसे बन सकती है ? ऐसा करने से तो स्वेच्छाचार ही कहलायेगा ।[51] यथा मरीचिका में भी प्रतिभास काल में यदि जल का अस्तित्व रहता है तो उत्तर काल में जल के नहीं होने पर भी कम से कम जल के चिन्ह्-जमीन का गीला आदि होना तो अवश्य ही मिलने चाहिए । विद्युत के समान जलादि का भी शीघ्र निरवयव विनाश कहीं प्राप्त नहीं होता है । अतः प्रसिद्धार्थख्याति पक्ष श्रेयस्कर नहीं है ।[52]

फुट नोट

1. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ, 291
2. असंदिग्ध (सन्देहरहित), विरोधरहित एवम् अनधिगत विषय वाली (पहले से ज्ञात विषय वाली) चित्तवृत्ति प्रमाण है और इसके द्वारा पुरुष को होने वाला ज्ञान प्रमा है जो कि प्रमाण का फल है, इस प्रमा रूप फल का साधन प्रमाण है।
   डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्यकारिका 4 तत्त्वकौमुदी पृ. 31
3. पं. दरबारी लाल जैन - न्यायदीपिका - पृ. 21
4. श्री यशोविजय मणि - जैन तर्क भाषा - पृ. 1
5. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन पृ. 31-32
6. सांख्य कारिका -4
7. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) -पृ. 294
8. श्री उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन - पृ. 23
9. प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम् ।
   तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्त श्रुतिराप्तवचनं तु ॥ सांख्याकारिका 5
10. अभिनव धर्म भूषण यति - न्यायदीपिका - पृ. 27 (प्रस्तावना)
11. हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन - पृ. 115
12. आचार्य विद्यानन्द - प्रमाण-परिक्षा - पृ. 6 (प्रस्तावना)
13. आचार्य नरेन्द्र सेन - प्रमाण-प्रमेय-कालिका - पृ. 14
14. कैलाशचन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 60
    सांख्यकारिका 28 - माठर वृत्ति - पृ. 47 योग द. व्यासभा. पृ. 27
15. श्री सतीश चन्द्र चट्टोपाध्याय एवम् श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त -भारतीय दर्शन- पृ. 178
16. अकलंकदेव - अनन्तवीर्य - सिद्धिविनिश्चयटीका - पृ. 106
17. योगवार्त्तिक - 1/7

18. डॉ. उमेश मिश्र - सांख्य योग दर्शन - पृ. 30
19. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप - पृ. 119
20, सांख्य कारिका 5 - गौडपाद भाष्य
21. सांख्याकारिका - 5 - जयमङ्गला टीका
22. ईश्वर कृ ष्ण - सांख्यकारिका 5 त्रिविधमुमानमाख्यातम् 11
23. ईश्वर कृ ष्ण - सांख्यकारिका 6 सामान्यतस्तु दृष्टादतीन्द्रियाणां प्रतीतिरनुमानात्।
24. युक्तिदीपिका पृ. 43
25. माठरः माठर वृत्ति का. 5
26. तत्सामान्यतो लक्षितमनुमानं विशेषतस्त्रिविधम्-पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट चेति। सा. त. कौ. का. 5 0 पृ. 30
27. तत्र प्रथमं तावत् द्विविधम् - वीतमवीतं च । .... तत्रावीतं शेषवत् । ......वीतं द्वेधापूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट च । सा. त. कौ. का. 5 पृ. 31
28. न्याय वार्तिक 1/1/5 - पृ. 57
29. न्याय वार्तिक ता.. टी. 1/1/5 -पृ. 165
30. न्याय कुमुदचन्द्र 3/14 - पृ. 462
31. चरक सूत्र 21/22
32. पं. दरबारी लाल जैन कोठिया - जैन तर्क शास्त्र में अनुमान विचार -पृ. 111-112
33. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप - पृ. 121-122
34. डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - सांख्य तत्त्व कोमुदी प्रभा पृ. 45
35. डॉ अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप - पृ. 122
36. डॉ. राधाकष्णन् - भारतीय दर्शन - पृ. 297- 298
37. (क) प्रभाचन्द्र - न्याय कुमुदचन्द्र - पृ. 61
(ख) प्रभाचन्द्र - प्रमेय कमलमार्त्तण्ड - पृ. 49-50
38. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 81
39. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृति-विकृतयः सप्त ।
षोङशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥ सांख्यकारिका 3
40. आचार्य नरेन्द्र सेन - प्रमाण प्रमेय कालिका पृ. 23
41. आचार्य विद्यानन्द - प्रमाण-परीक्षा - पृ. 64
42. आचार्य विद्यानन्द - प्रमाण-परीक्षा - पृ. 65
43. कैलाशचन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 60
44. नरेन्द्रसेन - प्रमाण प्रमेय कालिका - पृ. 14
45. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 61
46. प्रतिनियत देशवृत्तिरभिव्यज्यते - प्रमेययक. - पृ. 19
47. आचार्य नरेन्द्र सेन - प्रमाण-प्रमेय कालिका - पृ. 15
48. प्रभाचन्द्र - न्याय कुमुद चन्द्र - पृ. 40
49. आचार्य विद्यानन्द - प्रमाण-परीक्षा -पृ, 95
50. आचार्य विद्यानन्द - प्रमाण-परीक्षा -पृ, 96-97
51. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 81
52. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र - पृ. 61

सप्तम – परिच्छेद

सांख्य दर्शन के भेद

सांख्य दो प्रकार के हैं - एक तो निरीश्वर अर्थात् ईश्वर को न मानने वाले तथा दूसरे ईश्वर सेश्वर को देवता मानने वाले ।

सांख्या निरीश्वराः केचित्केचिदीश्वरदेवताः ।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः ।।[1]

निरीश्वर सांख्य –

निरीश्वर वादी सांख्य अपने प्राचीन शास्त्रीय रूप में ईश्वरवाद का समर्थन नहीं करते वह प्रकृति पुरुष के अधिष्ठाता के रूप में ईश्वर नामक एक पृथक् तत्त्व को स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है । यह सम्भव है कि सांख्य का प्रयत्न व्यवस्थित रूप में इस प्रकार रहा हो कि युक्ति-युक्त पद्धति का आश्रय हमें आत्माओं की यथार्थता के प्रत्याख्यान की दिशा में नहीं ले जाता ।[2]

सांख्य पुनर्जन्म में आस्था रखता है, लेकिन ईश्वर के अस्तित्व में उसकी आस्था नहीं है । ईश्वर जगत का स्रष्टा नहीं है । प्रकृति जगत का उपादान कारण है । पुरुष के पुण्य-पाप जगत् के निमित्त कारण है । प्रकृति पुरुषों के पुण्य और पाप के अनुसार इस नाना वैचित्र्यों से युक्त जगत् के रूप में परिणत होती है । पुरुष की सन्निधि प्रकृति की साम्यावस्था को भंग कर देती है और तब सृष्टि प्रारम्भ होती है । प्रकृति पुरुषों के भोग के लिए सृष्टि करती है और उनके मोक्ष के लिए उनका लय होता है । ईश्वर जगत् का कर्त्ता, धर्त्ता और हर्त्ता नहीं है ।

वाचस्पति ने अपनी टीका में सांख्य को निरीश्वर वादी कहा है । महत् से लेकर पाँच स्थूल भूतों तक सब चीजें प्रकृति से उत्पन्न होती हैं । ईश्वर उनका स्रष्टा नहीं है । ईश्वर उनका उपादान कारण नहीं है । चेतन आत्मा अचेतन जगत् का उपादान कारण नहीं

हो सकता । आत्मा अपरिणामी है; वह जगत् के रूप में परिणत नहीं हो सकता । ईश्वर से अधिष्ठित प्रकृति भी जगत् कारण नहीं है । ईश्वर निष्क्रिय है । इसलिए वह प्रकृति का अधिष्ठाता और प्रकृति के जगत् को उत्पन्न करने में सहायता करने वाला नहीं हो सकता। ईश्वर की किसी मिस्त्री इत्यादि से तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि मिस्त्री सक्रिय होने से अपने औजारों का इस्तेमाल कर सकता है जबकि ईश्वर निष्क्रिय आत्मा होने से प्रकृति का अधिष्ठातृत्व नहीं कर सकता । यह तर्क दिया जा सकता है कि प्रकृति अचेतन होने से किसी चेतन शक्ति के अधिष्ठातृत्व के बिना स्वयं सृष्टि नहीं कर सकती; और पुरुष यद्यपि चेतन है तथापि प्रकृति के स्वरूप को न जानने के कारण उसका अधिष्ठातृत्व नहीं कर सकते; इसलिए कोई सर्वज्ञ ही प्रकृति का अधिष्ठाता हो सकता है । इसका उत्तर सांख्य ने यह दिया है कि जैसे गाय के थन से दूध बछड़े की वृद्धि के लिए स्वयं निकलता है, वैसे ही अचेतन होने पर भी प्रकृति स्वयं पुरुषों के प्रयोजन के लिए कार्य करती है । दूध को बछड़े की वृद्धि का प्रयोजन ज्ञात नहीं है और प्रकृति को भी पुरुषों के प्रयोजन का ज्ञान नहीं है । यदि ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता मान भी लिया जाए, तब भी प्रश्न यह उठेगा कि उसका सृष्टि का प्रयोजन क्या है ? बुद्धिमान पुरुष कोई काम स्वार्थ या कारुण्य से प्रेरित होकर करता है लेकिन ईश्वर इनसे प्रेरित नहीं हो सकता। ईश्वर आप्त काम है । उसकी कोई इच्छा अपूर्ण नहीं है; इसलिए काम करने में उसका कोई स्वार्थ नहीं हो सकता । दूसरों की पीड़ा से करुणाभिभूत होकर भी वह सृष्टि नहीं कर सकता। सृष्टि से पहले शरीर इन्द्रियों और वस्तुओं की सत्ता नहीं होती जो कि दु:ख की उत्पत्ति के कारण है । सृष्टि के बाद होने वाले जीवों के दु:ख से ईश्वर कैसे करुणाभिभूत हो सकता है ? ऐसा मानने से तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायेगा। तब सृष्टि को करुणा पर और करुणा को सृष्टि पर आश्रित मानना पड़ेगा। फिर यदि ईश्वर करुणा से प्रेरित होकर सृष्टि करता है तो वह सब जीवों को सुखी बनाता। यदि सृष्टि वैचित्रय का कारण जीवों के कर्म वैचित्र्य को माना जाए तो ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । प्रकृति अचेतन होने से स्वार्थ या करुणा से प्रेरित नहीं हो सकती । वह पुरुषों के प्रयोजन को पूरा करने के लिए अचेतन रुप से सृष्टि-क्रिया करती है । वह पुरुषों के भोग के लिए जगत् को बनाती है और उनके मोक्ष के लिए उसका नाश करती है । ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है ।[3]

निरीश्वर सांख्य मतावलम्बी ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं - समस्त कार्य या तो किसी स्वार्थ को लक्ष्य में रखकर किए जाते हैं या उपकार की दृष्टि से ? ईश्वर के सब स्वार्थ पूर्ण हो चुके हैं, और अब कोई स्वार्थ नहीं रखता । यदि ईश्वर स्वार्थमय उद्देश्यों अथवा इच्छाओं से प्रभावित होता है तो वह स्वतन्त्र नहीं है; और यदि वह स्वतन्त्र है तो सृष्टिरचना सम्बन्धी कार्य में स्वयं को लिप्त नहीं करेगा ।[4] सांख्य

जो कि, ज्ञान की सीमाओं के अन्दर ही रहने के लिए उत्सुक है का यह मत है कि ईश्वर की यथार्थता तार्किक प्रमाणों के द्वारा सिद्ध नहीं की जा सकती ।[5] ईश्वर के पक्ष में कोई युक्ति युक्त प्रमाण अथवा अनुमानिक ज्ञान अथवा श्रुतिविहित प्रमाण नहीं है । वह केवल यह प्रदर्शित करता है कि ईश्वर है ऐसी कल्पना करने का कोई हेतु नहीं है ।[6] धर्म शास्त्रों में जो ईश्वरवाद परक वाक्य आते हैं, वे वस्तुतः मुक्तात्माओं की स्तुतियाँ हैं ।[7]

निरीश्वरवादी सांख्यों के नारायण ही देवता है इनके आचार्य विष्णु, प्रतिष्ठाकारक, चैतन्य आदि शब्दों से पुकारे जाते हैं । कपिल, आसुरि, पञ्चशिख, भार्गव तथा उलूक आदि सांख्य मत के प्रख्यात वक्ता हैं इसलिए ये सांख्य तथा कपिल आदि शब्दों से व्यवहृत होते हैं । कपिल का परमर्षि भी नाम है । अतः ये पारमर्ष भी कहे जाते हैं । ये लोग अपने मत की महिमा का वर्णन इस प्रकार करते हैं ।

माठर वृत्ति में कहा है कि -

हसपिब ललनाद मोदनित्यं भुङ्क्ष्व च भोगान् यथाभिकामम् ।
यदि विदितं ते कपिल मतं तत्प्राप्स्यसि मोक्ष सौख्यमचिरेण ।।1

खूब हँसो, मजे से पीओ, लाड़ आनन्द करो, खूब खाओ, खुशी से मौज करो, हमेशा रोज ब रोज इच्छानुसार भोगों को भोगो । इस तरह जो तबियत में आये बेखटके करो, इतना सब करके भी यदि तुम कपिल मत को अच्छी तरह समझ लोगे तो विश्वास रखो तुम्हारी मुक्ति समीप है तुम शीघ्र ही कपिल मत के परिज्ञान से सब कुछ मजा-मौज करते हुए भी मुक्त हो जाओगे ।[8]

अन्य शास्त्रों में भी कहा गया है[9] -

पञ्चविशंति तत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमेरतः
शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र संशयः ।। 2

सेश्वर सांख्य –

''पातञ्जल दर्शन'' में निष्ठा रखने वाले विद्वानों ने यह माना है कि जगत् उत्पादक सामग्री ईश्वर भी प्रविष्ट है क्योंकि जगत् के अन्य अचेतन कारणों का प्रेरक होने से वही जगत् का कर्त्ता है । उसकी चेतना शक्ति अचिन्त्य है, क्योंकि इन्द्रियादिज्ञान साधनों के बिना भीसम्पूर्ण विषयों से उसका सम्बन्ध है । अर्थात् ईश्वर साधन निरपेक्ष सर्व विषयक शाश्वत ज्ञान का आश्रय है और अनादि सिद्ध नित्युमुक्त है क्योंकि उसमें कभी भी बन्ध सभावित नहीं है ।[10]

डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में सांख्य एक व्यवस्थापक ईश्वर की कल्पना को स्वीकार करता है ।[11] जो सृष्टि काल में प्रकृति के क्रमिक विकासों की व्यवस्था करता है । शिव-

विष्णु इत्यादि केवल प्रतीति रूप माने गये हैं ।[12] सांख्य एक ऐसे ईश्वर को मानता है जो पहले प्रकृति के अन्दर लीन था, और बाद में प्रकट हुआ है।[13] जो सर्वथा बन्ध से मुक्त है और जिसे कभी क्लेशादि नहीं सताते, वही ईश्वर है ।[14] ईश्वर के अतिरिक्त जो अन्य मुक्तात्मा है वे ऐसे नहीं हैं उनके प्राकृत-वैकारिक और दक्षिण के भेद से तीन प्रकार का बन्ध होता है । आत्मा और अनात्मा के विवेक का न होना प्राकृत बन्ध है, विषयों में आसक्ति का होना वैकारिक बन्ध है और धर्म-अधर्म स्वरूप दक्षिण बन्ध है । इन तीनों प्रकार के बन्धों से ईश्वर सदा अछूता रहता है । मुक्तात्मा तो इन तीनों बन्धों को विवेक ज्ञान से माध्यस्थ्य से तथा कर्म फल के उपभोग से नष्ट करके ही कैवल्य को प्राप्त हुए हैं, भगवान ईश्वर तो सदा ही मुक्त है, सदा ही ईश्वर है, न तो उसके संसार से मुक्त हुए आत्माओं की तरह पूर्वाकोटि है, न प्रकृतिलीन ज्ञानी योगियों की तरह अपरा कोटि है । योगी लोक मुक्ति को प्राप्त होकर भी पुन: बन्धन में पड़ जाते हैं । ईश्वर में निरतिशय उत्कृष्ट बुद्धि रहती है, उससे उसकी ऐश्वर्यशीलता सिद्ध है ।

ईश्वर का वह ऐश्वर्य आठ प्रकार का है । इन ज्ञान और ऐश्वर्य आदि का प्रकृष्टतम रूप से तारतम्य देखा जाता है जिसमें इनका सर्वाधिक प्रकर्ष पाया जाता है, वही ईश्वर है। इस अनुमान से ईश्वर की सिद्धि होती है जो इस प्रकार है''-

जिसके तारतम्य का प्रकर्ष - हीनता और अधिकता की चरम-सीमा देखी जाती है, उसका वही पर्यवसान होता है जैसे परिणाम का प्रकर्ष आकाश में । ज्ञान और ऐश्वर्य आदि के धर्मों के तारतम्य का प्रकर्ष देखा जाता है । उस ईश्वर की प्रवृत्ति समस्त संसारियों पर अनुग्रह करने के लिए ही होती है । वह कल्प, प्रलय और महाप्रलय से ''समग्र जगत् का उद्धार करुँगा'' ऐसी प्रतिज्ञा करके ही स्थित रहता है । जो ध्यानी उसका ध्यान करते हैं, वचन से उसका जप करते हैं उनको वह अभीष्ट फल देता है ।[15] इस ईश्वर का वाचक ''प्रणव'' (ओंकार) है । इस प्रणव के जप तथा प्रणव नाम में ईश्वर की भावना करने से चित्त एकाग्र रहता है ।[16] काल के द्वारा उसका कभी विनाश नहीं होता[17], अत: वह कपिल महर्षि आदि पूर्व गुरुओं का भी गुरु है। कपिलादि कल्प, महाकल्प आदि काल के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, किन्तु ईश्वर सदा अवस्थित रहता है ।

ईश्वरः प्रेरकत्वेन कर्त्ता कैश्चिदिहेष्यते ।
अचिन्त्यचिच्छक्ति युक्तो नादि शुद्धश्च सूरिभिः ॥
ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः ।
ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सहसिद्धं चतुष्टयम्[18]

अर्थात् - कुछ बुद्धिमानों की मान्यता है कि प्राणियों के समूचे क्रियाकलाप का प्रेरक रूप से कर्त्ता ईश्वर है और यह ईश्वर अचिन्त्य चैतन्य शक्ति वाला तथा अनादि शुद्ध है उस जगत्पति का ज्ञान, उसका वैराग्य, उसका ऐश्वर्य, उसका धर्म यह चारों अप्रतिहत (अर्थात् सर्वसमर्थ) हैं तथा सिद्ध है ।[19]

परवर्ती विचारकों ने पुरुष की आवश्यकताओं तथा प्रकृति के कर्मों के इस सामञ्जस्य की व्याख्या करना असम्भव देखा और इसलिए बाधाओं को दूर करके प्रकृति के विकास के मार्ग प्रदर्शन का कार्य ईश्वर के सुपुर्द किया ।[20] इस प्रकार उन्होंने उक्त दर्शन की मौलिक योजना को उत्कृष्ट बनाया । सांख्य की माँग एक ऐसे सर्वग्राही जीवन के लिए है जो भिन्न-भिन्न पुरुषों को अपने-अपने संस्थान सुपुर्द करता है । वाचस्पति का मत है कि "प्रकृति के विकास का संचालन एक सर्वज्ञ आत्मा द्वारा होता है ।" विज्ञान भिक्षु का विचार है कि कपिल द्वारा ईश्वर का निषेध एक नियामक सिद्धान्त है जिस पर उसने इसलिए आग्रह किया है कि जिससे मनुष्यों की एक नित्य ईश्वर की ओर अत्यधिक ध्यान लगाना छोड़ने के लिए फुसलाया जा सके, क्योंकि ईश्वर की ओर अत्यधिक ध्यान लगाना सत्य तथा भेद विधायक ज्ञान के मार्ग में बाधक होता है । यह दिखाने के लिए कि सांख्य दर्शन को एक ईश्वरवादी प्रकल्पना की आवश्यकता नहीं है । और बहुत ही भोलेपन से यह सुझाव देता है कि निरीश्वर वाद का आविष्कार इस निश्चित उद्देश्य को लेकर किया गया है कि दुर्जन पुरुषों को भरमाया जा सके, जिससे कि वे यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने से दूर रहें ।[21] ईश्वर के विषय में सांख्य के भाव की व्याख्या कर डालने का भी वह प्रयत्न करता है। वह एक व्यापक पुरुष की यथार्थता को स्वीकार करता है । "वह सर्वोपरि, अर्थात् व्यापक सार्वभौम, सामूहिक पुरुष है, सब कुछ जानने तथा सब कुछ करने की शक्ति रखता है, और चुम्बक पत्थर के समान केवल सान्निध्य के कारण गति देने वाला है ।[22]

25 तत्त्वों के विषय में निरीश्वर और सेश्वर सांख्य की स्वीकृति –

सेश्वर सांख्य (योग) के विचारों को पतञ्जलि ने व्यवस्थित रूप दिया और उन्हें सांख्य की तत्त्वज्ञान सम्बन्धी पृष्ठभूमि पर स्थित किया, जिसे उन्होंने परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया । प्रारम्भिक ग्रन्थों में योग के सिद्धान्त सांख्य के विचारों के साथ ही मिलते हैं ।[23] योग ने पच्चीस तत्त्वों को स्वीकार कर लिया और उनके सम्बन्ध में विवाद की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं की । विश्व की रचना नहीं हुई और यह नित्य है । इसमें परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं । अपनी तात्त्विक, अवस्था में इसे प्रकृति नाम से पुकारा जाता है । प्रकृति के विकास के विषय में योग का मत है कि विकास की दो समानान्तर पद्धतियाँ हैं जो महत् से आरम्भ करती हैं और एक पक्ष में अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियों के रूप में विकसित

होती है, तथा दूसरे पक्ष में पाँच सूक्ष्म तन्मात्राओं द्वारा पाँच महाभूतों में विकसित होती है ।[24] व्यास के अनुसार, महाभूत पाँच सार तत्त्वों से निकले हैं, और ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकार अथवा अस्मिता से निकली हैं । तन्मात्राएँ अहंकार से नहीं निकलीं, बल्कि वे अस्मिता के साथ छः अविशेष कहाती हैं । और उनकी उत्पत्ति महत् से हुई है ।[25] विज्ञान भिक्षु का विचार है कि व्यास ने केवल बुद्धि के परिवर्तनों को दो विभागों में वर्णित किया है, किन्तु उनका तात्पर्य इस प्रकार का सुझाव देने से नहीं है कि महत् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति अहंकार पर आश्रित नहीं है ।[26] सांख्य में, अहंकार सात्त्विक रूप में इन्द्रियों को जन्म देता है, और तमोरूप में तन्मात्राओं को जन्म देता है, और ये दोनों ही महत् में अवरुद्ध रहते हैं । इस प्रकार सांख्य और योग का विकास- विषयक यह भेद कुछ अधिक गम्भीर नहीं है ।[27] योग सांख्य-प्रतिपादित तीन आभ्यातर इन्द्रियों को "चित्" का नाम देता है । यह अहंकार और मन को बुद्धि से पृथक् नहीं समझता । इन्द्रियों को भी यह स्वरूप में भौतिक ही मानता है और इसलिए सूक्ष्म शरीर मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती ।[28]

सांख्य और योग दोनों में ही एक समान जन्म का चक्र, अपने नाना दु:खों के साथ, एक ऐसा विषय है जिससे छुटकारा पाना है । प्रधान आत्मा का संयोग इस संसार का कारण है । इस संयोग के विनाश का नाम ही मोक्ष है और उसका साधन है पूर्ण अन्तर्दृष्टि । आत्मा द्रष्टा है और प्रधान ज्ञान का विषय (प्रमेय) है । इन दोनों का संयोग ही संसार का कारण है ।[29]

मोक्ष का लक्ष्य पुरुष का प्रकृति से पृथक् हो जाना है, और इस लक्ष्य की पूर्ति दोनों में भेद करने से होती है । जहाँ सांख्य के मत में ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, वहाँ योग दर्शन चित्त की एकाग्रता तथा क्रियात्मक प्रयत्न पर बना देता है ।[30]

"सांख्य" ज्ञान के मार्ग से मोक्ष प्राप्त करने का नाम है, और "योग" क्रियात्मक प्रयत्न अथवा अनासक्ति भाव से कर्म करने से मार्ग मोक्ष प्राप्त करने का नाम है ।31 इस प्रकार जहाँ सांख्य तार्किक अन्वेषणों में व्यग्र है, वहाँ योग भक्ति परक साधानों के स्वरूप तथा मानसिक निग्रह का विवेचन करता है । इसीलिए योगदर्शन को ईश्वरपरक विचार प्रकट करने के लिए बाध्य होना पड़ा, इसीलिए इसे कपिल के निरीश्वर सांख्य से भिन्न करके सेश्वर सांख्य की संज्ञा दी गई ।

सांख्य और योग के समान सिद्धान्त –

सांख्य और योग के समान सिद्धान्त इस प्रकार हैं -

1. "द्रष्टा और दृश्य के संयोग से संसार - दुख होता है" । (17) यहाँ पुरुष और प्रकृति के स्थान में द्रष्टा और दृश्य का प्रयोग किया है ।

2. "दृश्य प्रकाश, क्रिया और स्थिति वाला है;
यह भूत और इन्द्रिय रूप है ।
भोग और मोक्ष प्रयोजन है" । (18)

सांख्य परिभाषा में, पहला वाक्य यह है - "प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् हैं" ।

दूसरे वाक्य में कहा है कि प्रकृति विकास में भूतों और इन्द्रियों का रूप धारण करती है । यहाँ बुद्धि और अहंकार को स्वतन्त्र विकारों में नहीं लिया, इन्हें चित्त या मन के अन्तर्गत समझ लिया है ।

तीसरा वाक्य सांख्य के प्रयोजनवाद का वर्णन है ।

3. "द्रष्टा ज्ञान स्वरूप है, और शुद्ध भी है" । (20)
ज्ञान पुरुष का तत्त्व है । पुरुष में प्रकृति अंश नहीं; पुरुष प्रकृति से भिन्न मौलिक तत्त्व है ।

4. "दृश्य (व्यक्त) का अस्तित्व द्रष्टा के लिए ही है" । (21)

5. "कृतार्थ के प्रति नष्ट होने पर भी, दृष्ट अन्यों के लिए नष्ट नहीं" । (22)

इस सूत्र में एक शंका का समाधान है । जब किसी पुरुष को पूर्ण विवेक होने पर कैवल्य प्राप्त हो जाय, तो व्यक्त जगत् के बना रहने का कोई प्रयोजन नहीं । सूत्रकार कहता है कि वह पुरुष कैवल्य प्राप्त कर चुका है, परन्तु अभी अन्य पुरुष तो कैवल्य प्राप्ति में लगे हैं, उनके लिए व्यक्त जगत् का बना रहना आवश्यक है।

यहाँ सांख्य के पुरुष बहुत्व का समर्थन किया है ।[32]

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अपराभष्ट पुरुष विशेष ईश्वर है–

योग सूत्र में कहा गया है -

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेषः ईश्वरः"[33] अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इन चारों से रहित जो परम आत्मा है, वह ईश्वर है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच प्रकार के क्लेश हैं ।[34] कर्म चार प्रकार के हैं - पाप, पुण्य, पुण्य और पाप मिश्रित, पाप-पुण्य रहित ।

इन चार दोषों से रहित, सामान्य आत्माओं जैसी त्रुटियों से सर्वथा शून्य एवम् परम् श्रेष्टताओं से युक्त विश्व व्यापी आत्मा परमात्मा है । सूत्रकार ने जो पुरुष विशेष कहा है इससे यह तात्पर्य है कि ऊपर कहे क्लेश, कर्म, विपाक, आशय इनसे सांसारिक जीवों का

अनादि सम्बन्ध है । यद्यपि मुक्त जीवों का पीछे सम्बन्ध नहीं रहता परन्तु पहले था । परन्तु ईश्वर का तो इनसे कभी-भी सम्बन्ध न था और न होने वाला है। इस कारण मुक्त पुरुषों से ईश्वर विशेष हैं और इनसे परे हैं ।[35] ईश्वर में किसी प्रकार की वासना नहीं है, इसलिए वह कोई कर्म भी नहीं करता । कर्म न करने से उसे न तो किसी प्रकार का कर्मफल भोगना पड़ता है और न वह प्रारब्ध के बन्धन में पड़ता है । उसका इन बातों से कभी किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रहा । यद्यपि जीवात्मा भी मुक्त होने के पीछे इसी प्रकार क्लेश और कर्म बन्धन से सर्वथा पृथक् हो जाता है, तो भी पहले तो उसका इनसे सम्बन्ध रहता ही है, जबकि ईश्वर का सम्बन्ध कभी नहीं रहता । इसलिए ईश्वर ''पुरुष'' होने पर भी ''विशेष पुरुष'' है ।

ईश्वर, प्राकृत, वैकारिक तथा दक्षिण नामक तीन बन्ध से मुक्त है–

बन्ध के तीन भेद होते हैं - 1. प्राकृतिक, 2. वैकारिक तथा 3. दाक्षिण्य । जो लोग प्रकृति को ही आत्मा समझकर उसी की आत्म रूप में उपासना करते हैं उन्हें प्राकृतिक बन्ध होता है और वे प्रकृति में आत्मचिन्तन करने के फलस्वरूप पूरे शतसहस्र (1,00,000) वर्ष तक प्रकृति में मुक्त कल्प होकर अवस्थित रहते हैं।[36]

और जो प्रकृति के कार्यभूत-इन्द्रिय-अहंकार और बुद्धि तत्त्व को आत्मा समझकर उन्हीं की आत्मभाव से उपासना करते हैं उन्हें वैकारिक बन्ध होता है । उनमें इन्द्रिय में आत्मभाव का चिन्तन करने वाले दशमन्वन्तरकाल तक निर्दुःख रहते हैं और भूतों का आत्मभाव से चिन्तन करने वाले भौतिक कहे जाते हैं । जो 100 वर्ष तक निर्दुःख होकर रहते हैं और अहंकार को आत्मरूप से चिन्तन करने वाले आभिमानिक कहे जाते हैं । वे सहस्रवर्ष तक निर्दुःख रहते हैं । और जो बुद्धितत्त्व को आत्म भाव से देखते हैं और उसी के आत्मरूप में उपासक होते हैं वे सहस्रवर्ष तक दुःख मुक्त रहते हैं । इस प्रकार अनात्मा में आत्मदर्शियों की मुक्तावस्था अनित्य होती है ।[37]

इष्ट और पूर्त्त को दक्षिण बन्ध कहा जाता है । इष्ट का अर्थ है वेद में वर्णित विविध यज्ञ और पूर्त्त का अर्थ है पुराणों में वर्णित परोपकार के कार्य, जैसे वाटिका वावड़ी कूप धर्मशाला आदि का निर्माण । जो आत्मा के वास्तविक रूप को नहीं जानता वह यज्ञ और परोपकारक कार्यों की अभिलाषा से उन कार्यों में मनोयोगपूर्वक व्याप्त होता है और बन्धनों से आबद्ध होता है ।[38]

इन तीनों बन्धों की दो कोटि होती हैं - पूर्व कोटि और उत्तर कोटि । वे योगी जो प्रकृति आदि में आत्मचिन्तन कर प्रकृति में लीन होकर मुक्ति प्राप्त करते हैं उनको मुक्ति की अवधि समाप्ति होने पर संसार में पुनः आना पड़ता है अतः यह उक्त बन्धों की उत्तर

कोटि को प्राप्त करते हैं और जो संसारी जीव आत्मा के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करके मुक्त होते हैं उन्हें बन्धों की पूर्व कोटि होती है उत्तर कोटि नहीं, क्योंकि मुक्ति के बाद उन्हें किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता । ईश्वर में बन्ध की ये दोनों ही कोटियाँ नहीं होती इसलिए यह निर्बाध रूप से नित्य मुक्त होता है । जैसा कि पतञ्जलि ने अपने योग दर्शन में कहा है कि ''जो पुरुष क्लेश-कर्म-विपाक और आशयों से कभी भी संयुक्त नहीं होता वह पुरुष विशेष ही ईश्वर है'' ।[39]

अष्टविध ऐश्वर्य –

ऐश्वर्य आठ प्रकार का है[40] - अणिमा, महिमा, लधिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायिता ।

अणु शरीर होकर ईश्वर समस्त प्राणियों को दिखाई न देते हुए जो समस्त लोकों में संचार करता है वह ''अणिमा'' है । ''लघिमा'' में लघु होने से वायु के समान विचरण करता है । वह समस्त लोक में पूजित और बड़ों से भी बड़ा होता है, यह ''महिमा'' है। जो-जो वह मन में सोचता है वह-वह उसे प्राप्त होता है यह ''प्राप्ति'' है । विषयों को भोगने में समर्थ होता है यह ''प्राकाम्य'' है । तीनों लोकों का स्वामी है यह ''ईशित्व'' है । स्थावर और जंगम प्राणियों को अपने वश में करता है तथा जितेन्द्रिय होता है यह ''वशित्व'' है । ब्राह्म, प्राजापत्य, दैव, गान्धर्व, यक्ष, राक्षस, पैत्र और पिशाच इन आठ देवयोनियों में पाँच प्रकार के तिर्यंचों और मनुष्यों में जहाँ-जहाँ उसकी इच्छा होती है वहीं बसता है, यह ''यत्रकामावसायिता'' है ।[41]

सर्वज्ञसिद्धि –

उस ईश्वर में सर्वज्ञता का गुण पूर्ण मात्रा में पाया जाता है । पतञ्जलि ईश्वर की सर्वज्ञता को निरन्तरता के विधान के द्वारा सिद्ध करते हैं, क्योंकि निरन्तरता की ऊपर कहीं न कहीं सीमा आवश्यक है । जहाँ महत् है और महत्तर है, वहाँ महत्तम भी अवश्य है । जिस किसी में भी उत्कृष्टता की श्रेणियाँ हैं, वह उच्चतम सीमा तक अवश्य पहुँच सकता है । सर्वज्ञता में उच्चता की श्रेणियाँ हैं । यह शनैः शनैः अनुपात में बढ़ते हुए उस सोपान तक पहुँचाती है जहाँ भौतिक सामग्री (तमोगुण), जिनमें सारतत्त्व (सत्त्व) ढ़का हुआ है, दूर हो जाता है और जब सर्वज्ञता का अँकुर अपनी पूर्णता की ऊँचाई पर पहुँच जाता है तो हम सर्वज्ञ ईश्वर को पाते हैं।[42] उसमें सर्वज्ञता का अंकुर पूर्णता तक पहुँचा हुआ है।[43]

'पतञ्जलि' के ईश्वर का वर्णन करना सरल कार्य नहीं है । उसे एक विशेष प्रकार की आत्मा कहा गया है, जिसमें अपूर्णता का लेश मात्र भी नहीं है और जो कर्म के विधान

से उपर है ।44 सांसारिक जीवन की समस्त उलझनों से स्वतन्त्र, ईश्वर नित्य परमानन्द में रहता है । उसका धर्म और अधर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । वह दु:ख के भार से, जिससे जीवित प्राणी अभिभूत रहते हैं, अछूता है । वह सर्वज्ञ हैं ।[45]

पूर्वाषामपि गुरुः ईश्वर –

वह ईश्वर पूर्व काल में ऋषियों का भी गुरु है, क्योंकि वह काल से परिच्छिन्न (परिमित) नहीं है ।[46]

वह ईश्वर सर्वज्ञ है, प्राचीन ऋषियों का भी गुरु है । यदि ईश्वर को परिश्रम करती हुई आत्माओं की, उपर की तरफ मोक्ष तथा प्रकाश की ओर बढ़ने में सहायता करनी है, तो उसे किसी न किसी रूप में अपने को सांसारिक अनुभव के अधीन करना चाहिए । इसलिए, पतञ्जलि का झुकाव उसे सत्य का उपदेष्टा, गुरु मानने की ओर है । ईश्वर ने गुरु के रूप में प्लेटो से लेकर प्रत्येक महान विचारक के हृदय में प्रतिध्वनि पाई है । वह कालाबाधित है, पूर्ण करुणामय है, और यद्यपि उसकी अपनी ऐसी कोई इच्छा नहीं है जिसे पूर्ण करना हो, तो भी संसारी पुरुषों के लिए वह प्रत्येक संसार के युगारम्भ में श्रुतियों का प्रतिपादन करता है । उसका निर्दोष कोटि का सत्त्व स्वभाव, जो रजस् अतवा तमस् से होने वाली प्रत्येक त्रुटि से सर्वथा रहित है, उसकी आत्म अभिव्यक्ति का साधन है और वह पूर्ण रूप से उसके वश में है । ईश्वर सर्वदा स्वतन्त्र है; उसके अन्दर सदा सर्वोपरि शक्ति, ज्ञान तथा श्रेष्ठता रहती है ।[47] सूत्र में गुरु शब्द ईश्वर के लिए प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ है कि राजा-प्रजा, स्वामी-सेवक, माता-पिता आदि में स्वार्थ सिद्धि से प्रेम आदि भाव हो जाते हैं किन्तु गुरु तो आध्यात्मिक विषयों का शिष्य को ज्ञान देता है । अत: ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है ।[48]

ईश्वर का जाप करने पर अभिमत फल सिद्धि –

रहस्यपूर्ण अक्षर ''ओम्'' ईश्वर का द्योतक है और इस पर ध्यान लगाने से मन ईश्वर की यथार्थ झाँकी में विश्राम करता है । विज्ञान भिक्षु का कहना है - ''सब प्रकार के चैतन्य युक्त ध्यान में परमेश्वर का ध्यान सबसे ऊँचा है ।[49] मानवीय महत्त्वाकांक्षा का लक्ष्य ईश्वर के साथ सम्मिलित नहीं, वरन् पुरुष का प्रकृति से सर्वथा पार्थक्य है। ईश्वर भक्ति परम मोक्ष तक पहुँचने के अन्य अनेक उपायों में से एक है । ईश्वर एक विशेष आत्मा है । वह मनुष्यों को उनके कर्मों के लिए पुरस्कार अथवा दण्ड नहीं देता। किन्तु जब वह एक बार प्रकट हो जाता है तो उसके लिए कोई न कोई कार्य निकालना ही चाहिए । वह अपने भक्तों की उन्नति में जो बाधाएँ आती हैं उन्हें दूर करता है । प्रणिधान अर्थात् नि:स्वार्थ भक्ति से हम ईश्वर की दया के पात्र बनने के योग्य हो जाते

हैं । ईश्वर मोक्ष प्राप्ति में सहायता देता है । जो साधक अपनी शक्ति को अल्प और त्रुटिपूर्ण समझकर अपने कर्मों को ईश्वरार्पण करने का मार्ग अपना लेगा और साधन में सफलता - असफलता का समस्त भार भी ईश्वर पर ही छोड़ देगा उसको अन्य साधकों की अपेक्षा शीघ्र ही लक्ष्य की प्राप्ति होगी इसमें कोई सन्देह नहीं ।

आस्तिकता की शक्ति संसार में सबसे महान और फलदायक है । वही आत्मोन्नति का प्रधान आधार है और उसी से सत्कर्मों की प्रेरणा मिल सकती है । आस्तिकता से रहित व्यक्ति का जीवन बिना पतवार की नाव की तरह इधर-उधर निरुद्देश्य भटकता रहता है, वह न अपने लिए उपयोगी बन सकता है न दूसरों के लिए । मनुष्य चाहे दिखाने के लिए बड़ी-बड़ी बातें कर ले, पर ईश्वर पर विश्वास रखकर कार्य किए बिना उसके जीवन में सफलता की ज्योति दिखाई नहीं पड़ सकती । पतञ्जलि कहते हैं कि ईश्वर की शरणागति से योग-सिद्धि जैसा उच्च लक्ष्य भी शीघ्र प्राप्त हो जाता है, तब अन्य प्रकार की साधारण सफलताओं के सम्बन्ध में तो किसी तरह का सन्देह किया ही नहीं जा सकता ।[50]

सांख्य – योग –

कपिल मुनि का जो सांख्य-दर्शन लोक में प्रसिद्ध है उसका मुख्य विषय पुरुष और प्रकृति का विवेचन और उसके द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति है । उसमें योग-साधना जैसी कोई बात दिखाई नहीं पड़ती । पर श्रीमद् भगवत्गीता में भगवान कृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में जो सर्वश्रेष्ठ उपदेश दिया है और महान् सिद्धान्त बतलाये हैं उनका नाम उन्होंने सांख्य-योग ही रखा है । उसके पश्चात् तीसरे अध्याय में वे कहते हैं कि - इस लोक में दो प्रकार की निष्ठायें हैं - ज्ञान योग से सांख्यों की और कर्म योग से योगियों की ।[51]

भगवान कृष्ण स्वयं सांख्य-योग का उपदेश करते हैं और अन्त में उसका फल बताते हुए दूसरे अध्याय के अन्त में कहते हैं - ब्राह्मी स्थिति पा लेने पर कोई मोह में नहीं फंसता और जो अन्त-काल तक इसी स्थिति में रहता है वह ब्रह्म-निर्वाण-मोक्ष को पाता है ।[52]

फिर यह सांख्य-योग क्या है ? गीता में कहा है कि ''सांख्य और योग को बुद्धिहीन व्यक्ति ही पृथक समझते हैं, ज्ञानियों की दृष्टि में वे एक ही हैं । तो भी सांख्य तथा कर्मयोग में कुछ अन्तर अवश्य है । गीता के ही पाँचवे अध्याय में सांख्य योगी का वर्णन इस प्रकार किया गया है -

''योग युक्त तत्त्ववेत्ता पुरुष को समझना चाहिए कि, मैं कुछ भी नहीं करता, और देखने में, सुनने में, स्पर्श करने में, रखने में, सूँघने में, चलने में, सोने में, सांस छोड़ने में, बोलने में, विसर्जन करने में, लेने में, आँखों के पलक खोलने और बन्द करने में भी ऐसी ही बुद्धि रखकर व्यवहार करे कि केवल इन्द्रियाँ अपने आप विषयों में बर्तती हैं ।''[53]

कर्म योग की व्याख्या करते हुए गीता में "योगः कर्मसु कौशलम्" कहा गया है और उसकी विधि "तदर्थ कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर" बतलाई है । अर्थात् मनुष्य सब कर्मों को समत्व-भावना-पूर्वक करे और फलाशा का सर्वथा त्याग कर दे तो किसी कर्म का बुरा परिणाम उसे सहन नहीं करना पड़ेगा । इस प्रकार कर्मयोग का पालन करने वाला अपने कर्मों का कर्त्ता समझा जाता है, यद्यपि उसे फलाशा नहीं रहती । पर सांख्य-योग का अनुयायी अपने को कर्मों का कर्त्ता भी नहीं समझता । वह आत्मा को निर्लेप समझकर यही मानता है कि प्रकृति इन्द्रियों से काम कराती है, मुझ आत्मा स्वरूप को उससे कुछ लेना-देना नहीं है । इस प्रकार सांख्य-योग में संन्यास का आदर्श और भावना काम करती रहती है, चाहे मनुष्य सांसारिक कर्मों से कम या ज्यादा कितना भी संबन्ध क्यों न रखे ।[54]

जैन धर्म में योग –

जैन योग में सर्वाधिक महत्त्व ध्यान को दिया गया है, उसमें वैसे अष्टांग-योग का भी वर्णन किया गया है, पर सब अंगों को अनिवार्य नहीं माना है । प्राणायाम के सम्बन्ध में जैनाचार्यों का मत है कि उसे बलपूर्वक नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से शारीरिक पीड़ाओं और मन को कष्ट होकर ध्यान में बाधा पड़ने की सम्भावना रहती है ।

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने लिखा है -

तन्नाप्नोति मनः स्वास्थयं प्राणायामैकदर्थितम् ।
प्राणस्यायमने पीड़ा तस्यां स्याच्चित्त विप्लवः ।।[55]

आचार्य हरिभद्रसूरि ने मित्रा, तारा, वला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा, परा आदि योग की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है जो पातञ्जलि के योग के अष्टाङ्ग से मिलती हुई है। दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के "ज्ञानार्णव" नामक ग्रन्थ में योग साधना का विधान है, जो बहुत कुछ राजयोग की विधियों के अनुकूल ही जान पड़ता है ।[56]

जैन योग में चार प्रकार का ध्यान वर्णन किया गया है - आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आर्त और रौद्र ध्यान मनुष्य का पतन करने वाले और उसे कर्म बन्धनों में बाँधने वाले हैं और धर्म तथा शुक्ल आध्यात्मिकता को उत्पन्न करने वाले तथा बढ़ाने वाले हैं । शुक्ल ध्यान का स्वरूप वही है जो हिन्दू शास्त्रों में सात्विक वृत्ति का कहा गया है । इसकी प्राप्ति आत्मज्ञान की ऊँची चोटी पर पहुँच कर ही होती हैं और इसके द्वारा दुःख रूप कर्म बन्धनों का अविलम्ब अन्त हो जाता है । मुक्ति के साधन हैं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र । जब तक सत्य को समझकर उसका वास्तविक स्वरूप हृदयंगम न करेंगे और साथ ही उसके अनुकूल आचरण भी न करेंगे तब तक आत्मा का ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं,

यही जैन दर्शन का सारांश है, इसीलिए वे ''कायाकष्ट'' करने वाली विधियों को अधिक महत्त्व नहीं देते और ध्यान योग द्वारा आत्मा को ऊँचा उठाकर ''कैवल्य'' स्थिति को प्राप्त करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ मानते हैं । इस प्रकार वे पातंजल-योग के उच्च अंगों - धारणा, ध्यान, समाधि पर ही ज्यादा जोर देते हैं । जैन-धर्म में ''समाधि-मरण'' का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है और ''समाधि-शतक-नामक एक ग्रन्थ भी प्राप्त होता है ।[57]

ईश्वर वाद की समीक्षा –

ईश्वर का यह वर्णन सांख्य दर्शन की शब्दावली में किया गया है । यद्यपि स्वयं सांख्य ग्रन्थों में ईश्वरवाद का समर्थन नहीं पाया जाता । प्रश्न यह है कि उस ईश्वर का स्वरूप क्या क्लेश आदि से अछूता होना मात्र है ? या सर्वज्ञ होना उसका स्वरुप है ? प्रथम पक्ष में तो वह मुक्त ही हुआ ईश्वर नहीं, क्योंकि अन्य मुक्त भी क्लेश आदि से अछूते होते हैं । फिर भी यदि ईश्वर है तो अन्य मुक्तों को भी ईश्वरत्व का प्रसंग आता है ।[58]

सांख्य – मुक्त जीव बन्ध से सर्वदा अस्पृष्ट नहीं होते, अतः उन्हें ईश्वरत्व का प्रसंग नहीं आता ।

जैन – ईश्वर भी बन्ध से सर्वदा अस्पृष्ट नहीं हो सकता । दूसरे पक्ष में अर्थात् यदि क्लेशादि से अस्पृष्ट होते हुए सर्वज्ञता ईश्वर का स्वरूप है तो उसकी सिद्धि कैसे करते हैं? सब जगत् का कर्त्ता होने से अथवा ऐश्वर्य का आश्रय होने से ? प्रथम पक्ष में योगों के द्वारा माने गये ईश्वर के पक्ष में दूषण दिए गये हैं वे सब दूषण आते हैं तथा यदि आप ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं तो आपने आत्मा को ''अकर्त्ता निर्गुणःशुद्धः'' आदि कहा है वह नहीं बनता ।

सांख्य – अकर्त्ता आदि अन्य आत्माओं का ही लक्षण है, ईश्वर का नहीं । ईश्वर अन्य आत्माओं से विशिष्ट है । अतः उसमें कोई दोष नहीं है ।

जैन – तब तो शुद्धता आदि भी ईश्वर का स्वरूप नहीं हो सकेगी और इस तरह ईश्वर अन्य आत्माओं से अत्यन्त विशिष्ट हो जायगा ।[59] फिर जब ईश्वर एक कृतकृत्य आत्मा है (अर्थात् एक ऐसी आत्मा है जिसे कोई काम करना शेष नहीं) तब उसके द्वारा सृष्टि का आरम्भ किए जाने का कोई कारण सम्भव नहीं, क्योंकि कोई ऐसा कारण मानने या ईश्वरवादी के मूलमन्तव्य के साथ (अर्थात् उसके इस मन्तव्य के साथ कि ईश्वर एक कृत-कृत्य आत्मा है) विरोध आ खड़ा होगा । और यह कहना कि यह सब ईश्वर का स्वभाव है एक अप्रमाणिक बात है ।

हाँ सब कुछ कहने के बाद हम यह भी कह सकते हैं कि ईश्वर कृर्तत्ववाद एक अर्थ विशेष में एक समुचित तथा तर्कसंगत बात है । उदाहरण के लिए शुद्ध बुद्धि वाले किन्हीं वादियों का कहना है -

ईश्वरः परमात्मैव तदुक्तव्रतसेवनात् ।
यतो मुक्तिस्ततस्याः कर्त्ता स्याद् गुण भावतः ॥

''ईश्वर'' परमात्मा का ही अर्थात् मुक्ति के द्वार पर खड़े सर्वज्ञ मनुष्य का ही दूसरा नाम है, और क्योंकि ऐसे परमात्मा द्वारा सुझाए गये आचरण मार्ग पर चलने से प्राणियों को मुक्ति की प्राप्ति होती है इसलिए इस परमात्मा को गौण अर्थ में इस मुक्ति का कर्त्ता भी कहा जा सकता है । दूसरी ओर, एक प्राणी का संसार चक्र (पुनर्जन्म चक्र) में फंसे रहना वस्तुतः उस परमात्मा द्वारा सुझाए गये मार्ग पर न चलने का ही फल है, और ऐसी दशा में इस परमात्मा को इस संसार चक्र का कर्त्ता मानने में भी कोई दोष नहीं ।[60]

जैन – वह ईश्वर स्वतन्त्र रूप से कार्य करता है या प्रकृति के अधीन होकर कार्य करता है ? यदि वह स्वतन्त्र कार्य करता है तो योगों के द्वारा माने गये ईश्वर से उसमें कोई विशेषता नहीं है अतः उसमें दूषण देने से इसको भी दूषित समझ लेना चाहिए । यदि वह ईश्वर प्रकृति के अधीन होकर कार्य करता है तो यह भी ठीक नहीं है । ईश्वर प्रकृति के अधीन क्यों है ? क्या प्रकृति ईश्वर में कुछ अतिशय का आधान करती है या मिलकर कार्य करती है ? पहला पक्ष ठीक नहीं है, ईश्वर सर्वथा नित्य होने से अधिकारी है, अतः प्रकृति उसमें अतिशयता का आधान नहीं कर सकती। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि जब ईश्वर और प्रकृति दोनों कारण सर्वत्रसर्वदा वर्तमान है और उनकी शक्ति भी अप्रतिहत है तो अविकल कारण होता है वह तब उत्पन्न होता ही है, जैसे अन्तिम क्षण अवस्था को प्राप्त कारण सामग्री से अंकुर की उत्पत्ति होती है । नित्य व्यापी ईश्वर और प्रधान नामक दो कारणों के अधीन समस्त कार्य अविकल कारण हैं, अतः उनकी उत्पत्ति एक साथ होगी ही ।

सांख्य – यद्यपि ईश्वर और प्रकृति रूप दोनों कारण सर्वत्र सर्वदा वर्तमान रहते हैं, फिर भी सर्वत्र-सर्वदा कार्योत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि कार्यों की स्थिति, उत्पत्ति और विनाश में क्रम से प्रकटपने को प्राप्त सत्त्व, रज और तम सहायक है और प्रकट पने को प्राप्त सत्त्व, रज और तम क्रम से रहते हैं ।

जैन – यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि जिस समय ईश्वर और प्रकृति, स्थिति, उत्पत्ति और विनाश में से किसी एक को उत्पन्न करते हैं तो उसमें शेष दो को उत्पन्न करने की स्थिति है या नहीं ? यदि है तो सृष्टि के समय में भी स्थिति और प्रलय का प्रसंग आता है; क्योंकि सृष्टि की तरह वे दोनों भी अविकल कारण है । इसी तरह स्थिति के समय उत्पाद और विनाश का तथा विनाश के समय स्थिति और उत्पाद का प्रसंग आता है । किन्तु यह युक्त नहीं है; क्योंकि परस्पर के परिहार से रहने वाले उत्पाद आदि धर्मों को एक धर्मी में एक साथ सद्भाव होना प्रतीति विरुद्ध है। यदि एक को उत्पन्न करने के समय शेष दो

को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है तो स्थिति आदि में से जिसको उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है वही एक कार्य सदा होगा, शेष दोनों नहीं होंगे, क्योंकि ईश्वर और प्रकृति में उन दोनों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं है और यत: दोनों अधिकारी है उनमें कोई विकार होना शक्य नहीं है, अत: उनमें पुन: शक्ति की उत्पत्ति हो नहीं सकती अन्यथा वे दोनों नित्य एक स्वभाव वाले नहीं हो सकते ।

सांख्य – ईश्वर और प्रकृति में यद्यपि स्थिति, उत्पत्ति और विनाश तीनों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है तथापि जब उद्भूत वृत्ति (प्रकट पने को प्राप्त) रज सहायक होता है तब वे उत्पत्ति करते हैं, जब सत्त्व सहायक होता है तो स्थिति करते है और जब तम सहायक होता है तो प्रलय करते हैं ।

जैन – यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सत्व, रज और तम की उद्भूत वृत्तिता नित्य है या अनित्य है ? नित्य तो है नहीं; क्योंकि वह कदाचित् (कभी-कभी होने वाली है) तथा यदि उसको नित्य मानेंगे तो स्थिति बगैरह के एक साथ होने का प्रसंग आता है । यदि सत्त्व आदि की उद्भूत वृत्तिता अनित्य है तो वह किससे उत्पन्न होती है ? प्रकृति और ईश्वर से ही या किसी अन्य से, अथवा स्वतन्त्र रूप से ? प्रथम प्रसंग में उद्भूत वृत्तिता के सदा सद्भाव का प्रसंग आता है क्योंकि उसके कारण प्रकृति और ईश्वर नित्य होने से सदा रहते हैं । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति और ईश्वर नित्य होने से सदा रहते हैं । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि प्रकृति और ईश्वर के सिवाय कोई तीसरा कारण आप मानते ही नहीं । तीसरे पक्ष में उद्भूत वृत्तिता का आविर्भाव काल और देश के नियम से नहीं हो सकता ? क्योंकि जो स्वतन्त्रतापूर्वक होता है उसका देश नियम और काल नियम नहीं बन सकता।[61] अत: विचार करने पर ईश्वर में कर्त्तापना किसी भी तरह नहीं बनता । अत: कर्त्ता होने से ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकता ।

क्लेशादि से अपरामृष्ट होने पर मुक्त ही होगा, ईश्वर नहीं –

क्लेशादि ....। जो कहा गया है, वह अविरचित रमणीय है; क्योंकि क्लेशादि से अपरामृष्ट उसका स्वरूप है अथवा उसके होने पर अशेष ज्ञाता स्वरूप है ? प्रथम पक्ष में तो वह उनसे अपरामृष्ट होने से मुक्त ही हुआ, उनसे अन्य मुक्तों के समान ईश्वर नहीं हुआ । ईश्वर मानने पर अन्य मुक्तों को भी ईश्वर मानना पड़ेगा । सदैव बन्धन से अस्पृष्टपने का अभाव होने से मुक्त पुरुष ईश्वर नहीं हो सकते, यह कथन भी श्रद्धा मात्र है । ईश्वर के सदैव बन्धन से रहितपना असम्भव है । यदि उससे अपरामृष्ट होने पर सम्पूर्ण पदार्थो को जानना उसका स्वरूप है तो वह सर्वज्ञता अशेष कर्तृत्वपने के कारण से है या ऐश्वर्य का आश्रय लेने से है ? आदि पक्ष ठीक नहीं है, ईश्वर का कर्तृत्व मानने पर ''अकर्ता निगुर्ण: शुद्ध:'' इस प्रकार का तुम्हारा लक्षण घटित नहीं होगा ।[62]

यह अन्य आत्माओं का लक्षण है, ईश्वर का नहीं है। ईश्वर अन्य आत्माओं से विशिष्ट है अत: कोई दोष नहीं है।[63]

ईश्वर का स्वतन्त्र कर्तृत्व या प्रकृति पारतन्त्रय –

प्रश्न यह उठता है कि वह ईश्वर स्वतन्त्र कार्य करेगा या प्रकृति के अधीन होकर? यदि स्वतन्त्र करेगा तो नैयायिकों के द्वारा कल्पित ईश्वर से उसका कोई भेद नहीं है अत: नैयायिकों के ईश्वर के प्रति दिए गये दोष इस ईश्वर में भी समझ लेना चाहिए। ईश्वर को प्रकृति के अधीन मानों तो यह बात भी ठीक नहीं है; क्योंकि प्रकृति की स्वरूप से ही असिद्धि है। प्रकृति के अधीन होना प्रकृति के द्वारा अतिशयता लाने के कारण है या मिलकर एक कार्य करने के कारण है ? आदि की कल्पना अयुक्त है या मिलकर सर्वथा नित्य होने से अविकारी है, अत: उसमें अतिशयता लाना असम्भव है। दूसरी कल्पना भी ठीक नहीं है; क्योंकि कार्यो के यौगपद्य का प्रसंग उपस्थित होगा। अप्रतिहत सामर्थ्य वाले ईश्वर और प्रधान नाम दो कारणों के सब जगह सदैव सन्निहित होने से कार्यों का कारण अविकल होगा। जो कार्य अविकल कारण वाला जब होता है, वह उस समय होता ही है जैसे अन्त्यक्षण प्राप्त सामग्री से अंकुर अवश्य उत्पन्न होता है। नित्यव्यापी ईश्वर और प्रधान नामक दो कारणों के अधीन कार्य भी अविकल कारण वाला है।

प्रश्न – दो कारणों के सब जगह सदैव सन्निहित होने पर भी सब जगह सदैव कार्य की उत्पत्ति नहीं होगी। क्योंकि कार्य के होने में स्थिति, उत्पत्ति और विनाश का नियम है। उद्भूत वृत्ति वाले सत्त्व, रज, तम यथाक्रम सहकारी हैं।

उत्तर – यह बात भी ठीक नहीं है। प्रकृति और ईश्वर में स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय के मध्य में किसी के उत्पन्न करते समय उससे भिन्न को उत्पन्न करने की सामर्थ्य है या नहीं ? यदि है तो सृष्टि के समय भी स्थिति और प्रलय का प्रसंग उपस्थित हो जायगा; क्योंकि उत्पाद के समान स्थिति और प्रलय का भी अविकल कारण वहाँ विद्यमान है। इसी प्रकार स्थिति काल में भी उत्पाद और विनाश का तथा विनाश काल में भी स्थिति और उत्पाद का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। परस्पर परिहार से अवस्थित उत्पादादि धर्मों का एक धर्मी में एक बार ही सद्भाव युक्त नहीं है, क्योंकि प्रतीति से विरोध आता है।[64]

वीतराग ईश्वर कर्त्ता नहीं हो सकता –

जैन विद्वानों का कहना है कि ईश्वर वीतराग होता है। सांख्य योग दर्शन में भी ईश्वर को वीतराग माना गया है, इसलिए वह जगत् कर्त्ता होना संगत नहीं हो सकता, क्योंकि कर्तृत्व साक्षात् हो या दूसरे की प्रेरणा द्वारा हो, प्रयोजन की इच्छा होने पर ही सम्भव होता है।

अर्थात् जिसे किसी फल की इच्छा होती है वही साक्षात् या पर की प्रेरणा के द्वारा कर्ता होता है । वीतराग ईश्वर में फलेच्छारूप व्यापक धर्म नहीं है इसलिए उसका व्याप्य होने से साक्षात् या पर प्रेरणामूलक कर्तृत्व भी उसमें नहीं हो सकता ।[65]

बुद्धिकर्तृत्व पक्ष में भी ईश्वरकर्तृत्व निरर्थक –

सांख्य मतानुसार प्रवृत्त-निवृत्त होना पुरुष का काम नहीं है किन्तु उसकी बुद्धि का काम है । बुद्धि त्रिगुणात्मिका होती है । जब बुद्धि में सत्त्व गुण का उत्कर्ष होता है तब उसे दया भक्ति-वैराग्यादि प्रशस्त सात्त्विक भाव जाग्रत होकर सत् कर्तव्यों को करने का संकल्प होता है और उनके अनुसार रजोगुण के सहकार से वह सत्कर्म करती है । जब बुद्धि में रजोगुण का उद्रेक होता है तब सत्त्व या तमोगुण से प्रेरित हो सत् या असत् कर्मों के करने का संकल्प होता है । जब बुद्धि में तमो गुण का आधिक्य होता है तब उसमें प्रबल रागद्वेष ईर्ष्या निर्दयतादि तामस पदार्थों का प्राकट्य होता है। बुद्धि के इस कर्तृत्व का पुरुष को केवल अभिमान होता है और वह इसलिए होता है कि पुरुष अपने को बुद्धि से पृथक् नहीं समझता। विभिन्न कर्मों में पुरुष को स्वतः कर्तृत्व का अभिमान प्रवृत्त होता है । बुद्धि के विभिन्न कर्मों में बुद्धि की प्रवृत्ति के लिए भी प्रयोजन का ज्ञान अपेक्षित होता है जो ईश्वर के संनिधान से ही सम्भव है अर्थात् ईश्वर बुद्धि को तद् तद् कर्मों के प्रयोजन का ज्ञान सम्पादित करता है और उसी से बुद्धि तत् तत् कर्मों में प्रवृत्त होती है । ईश्वर को परप्रेरक मानने में योग दर्शन का यह अभिप्राय है । किन्तु इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार की यह आलोचना है- त्रिगुणात्मिका बुद्धि स्वभाव से ही प्रवृत्तिशील है । अतः उसके प्रवर्तन के लिए प्रयोजन ज्ञान का कोई उपयोग नहीं है और यदि है तो वह भी बुद्धि को स्वयं ही सम्पन्न हो सकता है । अतः उसके लिए ईश्वर को सिद्ध करने का प्रयास ठीक उसी प्रकार निरर्थक है जैसे घर में ही धन की प्राप्ति सम्भव रहने पर धन कमाने के लिए विदेश की यात्रा निरर्थक होती है ।[66]

कर्म की ईश्वराधीनता का निरसन –

सभी कर्म ईश्वर की प्रेरणा से ही फलप्रद होता है क्योंकि अचेतन में चेतन के संयोग से ही कार्य जनकता होती है । अतः कर्म की सफलता उपपन्न करने के लिए ईश्वर का अस्तित्त्व आवश्यक है । इस अभिप्राय के सम्बन्ध में ग्रन्थकार की यह समीक्षा है कि यदि विभिन्न कर्म विभिन्न फलों को प्रदान करने में स्वयं समर्थ न हो तो ईश्वर का अस्तित्त्व मानने पर भी उन कर्मों से स्वर्ग नरकादि विभिन्न फलों की सिद्धि न होगी । क्योंकि यदि कर्मों में स्वयं तद्-तद् फल प्रदान करने का सामर्थ्य न होगी तो ईश्वर का अस्तित्व दोनों प्रकार के कर्मों के लिए समान होने से यह नियम नहीं हो सकता कि ब्रह्महत्यादि से नरक ही हो और यमनियमादि से स्वर्ग हो। और यदि इस दोष के परिहारार्थ उन कर्मों को तद्-

तद् फलों का प्रदान करने में स्वयं समर्थ माना जायगा तो फिर ईश्वर को मानने की क्या आवश्यकता होगी ? क्योंकि कर्म तो स्वयं ही तद्-तद् फलों को प्रदान कर देते हैं । अतः उस पक्ष में भी ईश्वर को कर्म का सहकारी मानना ईश्वर के प्रति भक्त की भक्ति का अज्ञानपूर्वक प्रदर्शन मात्र है । यह ठीक उसी प्रकार जैसे किसी मनुष्य को स्वयं रेच होने पर हरीतिकी के सेवन की प्रवृत्ति । और यह जो बात कही गई है कि अचेतन चेतन के सहयोग से ही कार्य का जनक होता है वह भी सार्वत्रिक नहीं है, क्योंकि चेतन सहायक के बिना भी वनस्थ बीज में अंकुर की उत्पत्ति होती है । यदि यह कहा जाय - "वनस्थ बीज भी पक्ष कोटि में ही प्रविष्ट है अर्थात् जैसे कर्म की फलप्रदता को उपपन्न करने के लिए कर्म को सहकारी ईश्वर की आवश्यकता होती है उसी प्रकार वनस्थ बीज में अंकुरजनकता की उत्पत्ति के लिए भी वनस्थ बीज के सहकारी रूप में ईश्वर की कल्पना की जायगी" किन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर जगत् में अनैकान्तिक दोष का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जायगा अर्थात् कोई भी हेतु कहीं भी साध्य का व्यभिचारी न हो सकेगा क्योंकि जहाँ भी हेतु में साध्य का व्यभिचार प्रदर्शित होगा उसका पक्ष में अन्तर्भाव किया जा सकता है।[67]

सांख्यमत में ज्ञानादि का आश्रय ईश्वर नहीं हो सकता -

सांख्य मत में ज्ञानादि का आश्रय बुद्धि ही होती है ईश्वर नहीं होता । उस मत में बुद्धित्व ही ज्ञानादि की आश्रयता का नियामक होता है और यदि आत्म तत्त्व को ज्ञान आदि की आश्रयता का नियामक माना जायगा तो जैसे कार्य सामान्य का कारणभूत नित्य ज्ञान आदि आत्माश्रित होगा इसी प्रकार जन्यज्ञान आदि भी आत्माश्रित ही होगा। इस प्रकार न्यायदर्शन के समान जीव और ईश्वर की पटाद्यर्थ प्रवृत्ति के प्रति पटादि के उपादान का तद्-तद् पुरुषीय प्रत्यक्ष कारण है । फलतः तद्-तद् कार्यार्थी की प्रवृत्ति और तद्-तद् कार्य में उपादान का प्रत्यक्ष इन्हीं के बीच कार्य कारण भाव आवश्यक मान्यता सांख्य शास्त्र में भी आ जायगी। फलतः त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही जगत् का मूल कारण है और उससे उत्पन्न बुद्धि ही ज्ञानादि गुणों का आश्रय और कर्ता है - यह सब सांख्य दर्शन की मान्यता समाप्त हो जायेगी । तो इस प्रकार जो सांख्य शास्त्र की मान्यता का अनभिज्ञ होते हुए सांख्य की ओर से विचार करने को उद्यत होता है उसके साथ विचार करना अनुचित है ।[68]

ऐश्वर्य का आश्रय होने पर भी अकर्तृत्व -

ऐश्वर्य का आश्रय होने से भी ईश्वर सर्वज्ञ नहीं हो सकता; क्योंकि विचार करने पर ईश्वर में ऐश्वर्य भी नहीं बनता । इसका विशेष इस प्रकार है - ईश्वर में ऐश्वर्य स्वभाविक है या प्रकृतिकृत है ? स्वभाविक तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि सांख्य ऐश्वर्य को बुद्धि का धर्म मानते हैं और आत्मा में केवल चैतन्य को स्वभाविक मानते हैं । यदि ऐश्वर्य प्रकृति

कृत है अर्थात् जब प्रकृति बुद्धि रूप परिणमन करती है तब उसकी अवस्था विशेष धर्म-ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि प्रकट होते हैं, तब तो आपने ही ईश्वर में ऐश्वर्य का अभाव बता दिया क्योंकि जब ऐश्वर्य बुद्धि का परिणाम है और ईश्वर उससे भिन्न है तो ईश्वर में ऐश्वर्य कैसे हो सकता है, अन्यथा अन्य आत्माओं में भी ऐश्वर्य मानना पड़ेगा ।[69]

तथा, अपने इष्ट कार्य के सम्पादन में द्रव्य सहाय आदि की सम्पन्नता को ऐश्वर्य कहते हैं, यदि ईश्वर अपने इष्ट कार्य को नहीं करता, केवल वस्तु को ज्यों का त्यों जानता है, तो वह इतने ही से ऐश्वर्यवान् कैसे हुआ । जो जिसे जानता है, वह उस विषय में ईश्वर है, ऐसी बात तो नहीं है क्योंकि ऐसा मानने से अतिप्रसंग दोष आता है । यदि कहा जाता है कि ईश्वर का ज्ञान काल से विच्छिन्न नहीं होता; अतः ईश्वर वही है, अन्य नहीं । तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि काल से विच्छिन्न न होने से नित्यता की सिद्धि होती है, ऐश्वर्य की नहीं ।[70]

फुट नोट

1. श्री हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन समुच्चय - पृ. 142
2. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 313
3. सांख्य तत्त्व कौमुदी - कारिका 57
4. सांख्य प्रवचन सूत्र - 1 : 93-94
5. सांख्य प्रवचन सूत्र - 5 : 12
6. वह यह नहीं कहता "ईश्वराभावात्" किन्तु केवल यही कहता है "ईश्वरासिद्धः"
7. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 314
8. श्री हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन समुच्चय - पृ. 141
9. श्री हरिभद्रसूरि - षड्दर्शन समुच्चय - पृ. 141
10. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 3
11. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 314
12. सांख्य प्रवचन सूत्र, 1, 95; 54-56
13. "प्रकृतिलीनस्य जन्मेश्वरस्य सिद्धि" (सांख्य प्रवचन भाष्य, 3 : 57)
14. प्रभाचन्द्रः - न्यायकुमदचन्द्र (प्रथम भाग) पृ. 109
15. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 188-189
16. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य योग दर्शन - पृ. 57
17. योग सूत्र - 1/25
18. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रावार्त्ता समुच्चय - पृ. 194-195
19. डॉ. कृष्णकुमार - अनुवादक - शास्त्र वार्त्ता समुच्चय - पृ. 54

20. वाचस्पति, विज्ञान भिक्षु और नागेश। वाचस्पति: ''ईश्वरस्यापि धर्माधिष्ठानार्थ प्रतिबन्धापनय एव व्यापार:'' (तत्त्व वैशारदी, 4 : 3)
21. पापिनां ज्ञानप्रतिबन्धार्थम् ।
22. सहि पर: पुरुष सामान्यं सर्वज्ञानशक्तिमत् सर्वकर्तृताशक्तिमच्च (सांख्य प्रवचन भाष्य, 3:57 और 5:12)
डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 315
23. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 338
24. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 338
25. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 338
26. डॉ. राधाकृष्णन् - योग वार्तिक - 1 : 45
27. डॉ. राधाकृष्णन् - योग वार्तिक - 1 : 45
28. डॉ. राधाकृष्णन् - योग वार्तिक - 1 : 45
29. 26. डॉ. राधाकृष्णन् (दुख बहुल: संसारो हेय:, प्रधान पुरुषयो: संयोगो हेय हेतु:। संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्, हानोपाय: सम्यग्दर्शनम्, योग भाष्य, 2 : 15) पृ. 339
30. डॉ. राधाकृष्णन् - योग भाष्य, 2 : 15 पृ. 339
31. डॉ. राधाकृष्णन् - योग भाष्य, (भगवद्गीता, 13:24 - महाभारत, 12:11679-11707)
32. डॉ. दीवान चन्द - दर्शन संग्रह - पृ. 84-85
33. योग सूत्र - 1/24
34. योग सूत्र - 3/3
35. पं. श्री राम शर्मा आचार्य कृत, योग - दर्शन की व्याख्या - पृ. 116
36. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता सम्मुच्चय - पृ. 3
37. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता सम्मुच्चय - पृ. 3
38. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता सम्मुच्चय - पृ. 4
39. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता सम्मुच्चय - पृ. 4
40. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र (प्रमय भाग) पृ. 110
41. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 188-189
42. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 364
43. तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम् - योग दर्शन - 1 : 25
44. तत्त्व वैशारदी, 1 : 24
45. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 365
46. स एव पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात् - योग दर्शन 1 : 26
47. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 365
48. श्री राम शर्मा आचार्य - योग दर्शन - पृ. 117

49. योगसार संग्रह, 1
50. श्री राम शर्मा आचार्य (व्याख्या) - योग-दर्शन - पृ. 21
51. लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम् ॥ भगवद्गीता अध्याय 3
52. एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मवर्न्विाणमृच्छति ॥ भगवद्गीता अध्याय 2
53. नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्ववित् ।
पश्यन् श्रणवन् स्पर्शञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन स्वपन्श्न्वसन् ॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ भगवद्गीता 5 : 9, 10
54. व्याख्या - श्री राम शर्मा आचार्य - योग दर्शन - पृ. 66, 67
55. व्याख्या - श्री राम शर्मा आचार्य - योग दर्शन - पृ. 91
56. व्याख्या - श्री राम शर्मा आचार्य - योग दर्शन - पृ. 92
57. व्याख्या - श्री राम शर्मा आचार्य - योग दर्शन - पृ. 92
58. प्रभाचन्द्र - न्याय कुमुद चन्द्र - पृ. 111-114
59. कैलाशचन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 189-190
60. श्री हरिभद्रसूरि विरचित - शास्त्रवार्ता समुच्चय श्लोक 204 - पृ. 57
61. कैलाशचन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 191
62. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र प्रथम भाग पृ. 111
63. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र प्रथय भाग पृ. 111
64. प्रभाचन्द्र - न्यायकुमुदचन्द्र प्रथय भाग पृ. 112
65. श्री हरिभद्रसूरि रचित - शास्त्रवार्ता समुच्चय पृ. 35
66. श्री हरिभद्रसूरि रचित - शास्त्रवार्ता समुच्चय - पृ. 37
67. श्री हरिभद्रसूरि रचित - शास्त्रवार्ता समुच्चय - पृ. 38
68. श्री हरिभद्रसूरि रचित - शास्त्रवार्ता समुच्चय - पृ. 40-41
69. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 192
70. कैलाश चन्द्र शास्त्री - जैन न्याय - पृ. 192

अष्टम – परिच्छेद

उपसंहार
सांख्य और जैन दर्शन

सांख्य और जैन दर्शन–पारस्परिक समता –

सांख्य दर्शन भारत के प्राचीन दर्शनों में एक है । इस अत्यन्त प्राचीन दर्शन को जब हम जैन दर्शन की तुलना में देखते हैं तो दोनों में अन्य दर्शनों की अपेक्षा अत्याधिक साम्य प्रतीत होता है और कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी मौलिक मान्यता में कोई अन्तर नहीं है । सांख्य शब्द की ''संख्या'' से निष्पत्ति हुई है ''सं'' का अर्थ है सम्यक् और ख्या से अभिप्राय ख्याति का है । ख्याति, पहिचान तथा विवेक ये सब एकार्थक वाचक शब्द हैं। तब संख्या का अर्थ होता है सम्यक् ख्याति अर्थात् समीचीन विवेक । सांख्य शास्त्र में भी संख्या का यही अर्थ किया गया है - ''संख्या सम्यक् विवेकेन आत्मकथनम्'' । यह समीचीन विवेक और जैनों का भेद विज्ञान दोनों एकार्थक है । सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष में विवेक करना ही संख्य या सम्यक् ख्याति है । इस विवेक के होते ही पुरुष का निर्वाण हो जाता है । जैनों के अनुसार द्रव्यकर्म, भावकर्म, और नोकर्म जो प्रकृति के ही रूप हैं उनसे आत्मा (पुरुष) का पृथक् ज्ञान करना भेद विज्ञान है, इस भेद विज्ञान से पुरुष मुक्त या सिद्ध होता है ।[1]

जैन दर्शन के समान सांख्य दर्शन का भी उद्देश्य दुःखों से मुक्ति पाना है । सांख्यकारिका की प्रथम कारिका में ही दुःखत्रय से छूटने की जिज्ञासा व्यक्त की गई है ।[2] सांख्य दुःख दूर करने के लौकिक और वैदिक उपायों पर विश्वास नहीं करता है, इसकी दृष्टि में लौकिक उपायों से दुःखत्रय का एकान्त अनिवार्य रूप से और अत्यन्त सार्वकालिक अभाव नहीं होता है ।[3] एकान्त का अर्थ है दुःख का नियत रूप से निवृत्त हो जाना और अत्यन्त का अर्थ

है दु:ख का फिर उत्पन्न न होना । इसका अभिप्राय यह है कि यथाविधि रसायन, कामिनी, नीतिशास्त्र और मन्त्रादि के प्रयोग से भी विविध दु:खों की प्राय: निवृत्ति न होने के कारण वह ऐकान्तिक नहीं है । निवृत्त हुए दु:ख की भी पुन: उत्पत्ति दीख पड़ने के कारण वह आत्यन्तिक नहीं हुई । इस प्रकार लौकिक उपाय सरल होते हुए भी दु:ख की ऐकान्तिक और अत्यान्तिक निवृत्ति नहीं कर पाते ।[4]

सांख्य के अनुसार वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय के सदृश ही दु:खत्रय की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति में असमर्थ है ।[5] क्योंकि वह अशुद्धि (मल) विनाश तथा न्यूनाधिक्य (विषमता) दोनों से युक्त (व्याप्त) है ।[6] सोमादियज्ञों का पशु हिंसा तथा बीजनाश इत्यादि साधनों से सम्पादित होना ही उसकी मलिनता है ।[7] जैन धर्म में भी वैदिक हिंसा की अत्यधिक निन्दा की गई है तथा वेद के कर्त्ता को असर्वज्ञ कहा गया है ।[8]

सांख्य दर्शन में माने गये सत्वगुण, तमोगुण और रजोगुण प्रीति, अप्रीति तथा विषादात्मक है । प्रकाशन, प्रवर्तन तथा नियमन इनके प्रयोजन या कार्य हैं तथा ये एक दूसरे को अभिभूत करने वाले, आश्रय बनने वाले, उत्पादक एवम् सहचारी होते हैं ।[9]

तत्त्व कौमुदी कार ने प्रीति का अर्थ सुख तथा अप्रीति का दु:ख तथा विषाद का अर्थ मोह किया है ।[10] ये तीनों जैन दर्शन में कहे गये राग, द्वेष और मोह ही है । आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार राग, द्वेष और मोह सम्यग्दृष्टि के नहीं है । इसीलिए आस्रव भाव के बिना द्रव्य प्रत्यय कर्मबन्ध के कारण नहीं है ।[11] तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि के राग, द्वेष, मोह नहीं है, क्योंकि राग, द्वेष, मोह के अभाव के बिना सम्यग्दृष्टि नहीं बन सकता । राग, द्वेष, मोह के अभाव से उस सम्यग्दृष्टि के द्रव्यास्त्रव के पुद्‌गल कर्म बँधने के कारणपने का कारणपना रागादिक ही है, इसलिए कारण के कारण का अभाव प्रसिद्ध है इस कारण ज्ञानी के बन्ध नहीं है ।[12]

उपर्युक्त राग, द्वेष तथा मोह सांख्य के अनुसार प्रकृति के धर्म हैं तथा जैन दर्शन में इनका कारण प्रकृति (कर्म) को ही कहा गया है ।

जिस प्रकार जैन दर्शन अनेक आत्माओं का अस्तित्व मानता है, उसी प्रकार सांख्य दर्शन भी अनेक आत्माओं की सत्ता स्वीकार करता है । सांख्य के अनुसार अनेक पुरुषों या आत्माओं का होना इन युक्तियों से सिद्ध होता है -

1. भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जन्म-मरण में, ज्ञान और कर्म में स्पष्ट अन्तर पाया जाता है । एक के जन्म (या मृत्यु) होने से सभी का जन्म या मृत्यु नहीं हो पाती। एक के अन्धे या बधिर होने से सभी अन्धे या बहरे नहीं हो जाते । यदि जीवों में एक ही आत्मा का

अस्तित्व होता तो एक जन्म-मरण से सबका जन्म-मरण हो जाता, एक के अन्धे या बहरे होने से सभी अन्धे या बहरे हो जाते, परन्तु ऐसा नहीं होता ।

2. यदि सभी जीवों में एक ही आत्मा रहती तो एक में कोई क्रिया होने से सभी में वही क्रिया परिलक्षित होती, परन्तु ऐसा नहीं होता । जब एक सोया होता है तो दूसरा काम करता है । जब एक रोता है तो दूसरा हँसता है ।

3. स्त्री-पुरुष जहाँ एक ओर पशु-पक्षियों से उच्च कोटि के हैं वहीं दूसरी ओर देवताओं से निम्न हैं । यदि पशु पक्षी, मनुष्य, देवता सभी में एक ही आत्मा का निवास होता तो ये विभिन्नतायें न होती । इस सभी से सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक हैं ।[13]

समयसार में कहा गया है - चेतयिता आत्मा तो (ज्ञानावरणादि) प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न होता है तथा विनाश को प्राप्त होता है और प्रकृति भी उस चेतने वाली आत्मा के लिए उत्पन्न होती है तथा विनाश को प्राप्त होती है । इस प्रकार आत्मा और प्रकृति दोनों के परस्पर निमित्त से बन्ध होता है और उस बन्ध से संसार उत्पन्न होता है ।[14] यह आत्मा जब तक प्रकृति के निमित्त से उपजना, विनशना नहीं छोड़ती तब तक अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असयंमी होती है और जब आत्मा अनन्त कर्म फल को छोड़ देती है, उस समय बन्ध से रहित ज्ञाता, दृष्टा मुनि होती है ।[15] ज्ञानी बहुत प्रकार के कर्मों का न तो कर्त्ता हैं और न भोक्ता है, परन्तु कर्म के बन्ध को और कर्म के फल पुण्य तथा पाप को जानता ही है।[16]

सांख्य के अनुसार प्रकृति तभी तक भोग उत्पन्न करती है, जब तक पुरुष में (आत्मा और अनात्म विषयक) भेद उत्पन्न नहीं हो जाता है ।[17] इस प्रकार तत्त्व के अभ्यास से न मैं क्रियावान् हूँ, न मेरा भोक्तृत्व है और न मैं कर्त्ता हूँ, यह सम्पूर्ण भ्रमादिविहीन होने के कारण विशुद्ध तथा मिथ्याज्ञान से अभिमिश्रित ज्ञान उत्पन्न होता है ।[18] जैन दर्शन एकान्त रूप से आत्मा को अकर्त्ता भी नहीं मानता । अतः आचार्य अमृतचन्द्र समयसार आत्मख्याति टीका में लिखते हैं -

माऽकर्त्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हतः ।
कर्त्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादयः ।।

ऊर्ध्वंतूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं ।
पश्यन्तुच्युतकर्तृ भावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ।। 205

अर्हत् के अनुयायी जैन, आत्मा को सांख्यमतियों की भाँति (सर्वथा) अकर्त्ता मत मानों, भेद ज्ञान होने से पूर्व उसे निरन्तर कर्त्ता मानों और भेद ज्ञान होने के पश्चात् उद्धत ज्ञानधाम (ज्ञानमन्दिर) में निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को अचल और एक परम ज्ञाता ही देखो ।

सांख्य पुरुष को अपरिणामी मानता हुआ यथार्थ रूप में प्रकृति में ही स्वीकार करता है ।[19] किन्तु विचार करने की बात है कि जीव कर्म में स्वयं नहीं बंधा हुआ क्रोधादिभाव से स्वयं नहीं परिणमता है तो वह जीव अपरिणमी ही होता है । ऐसा होने पर संसार का अभाव हो जाता है । कोई कह सकता है कि पुद्गल कर्म क्रोधादिक ही जीव को क्रोधादिभाव से परिणमाते हैं । इसलिए संसार का अभाव नहीं हो सकता। ऐसा कहने में दो पक्ष होते हैं -

पुद्गलकर्म क्रोधादिक जीव को अपने आप परिणमते को परिणमाते हैं या परिणमते को परिणमाते हैं ? प्रथम तो जो आप नहीं परिणमता हो, उसमें पर को परिणमन कराने की असमर्थता है, क्योंकि आप में शक्ति न हो तो पर में भी नहीं की जा सकती तथा जो स्वयं परिणमता हो, वह अन्य परिणामाने वाले की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि वस्तु की शक्ति पर की अपेक्षा नहीं करती । अन्य में कोई नवीन शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जीव स्वयमेव परिणमन स्वभाव वाला है ।[20]

इस प्रकार सांख्य दर्शन और जैन दर्शन में अनेक पारस्परिक समतायें हैं और विषमतायें हैं । जैनाचार्यों ने अपनी दार्शनिक कृतियों में सांख्य दर्शन पर पर्याप्त उहापोह किया है। शायद ही कोई जैन दार्शनिक लेखक हो जिसकी कृति में सांख्य दर्शन के किसी न किसी सिद्धान्त पर किसी न किसी रूप में विचार न किया गया हो। यह परम्परा हमें आचार्य समन्तभद्र से लेकर उपाध्याय यशोविजय तक बराबर मिलती है । जैनाचार्यों ने पूर्व पक्ष की स्थापना करते समय सांख्य सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़ कर नहीं रखा, वरन् उनका यथार्थ रूप ही सामने रखा, पश्चात् सब पर अपनी दृष्टि से विचार किया । इस प्रकार सांख्य दर्शन के दो रूप संस्कृत जैन ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं ।

1. भौतिक रूप - जो सांख्य के प्रवर्तकों ने माना ।

2. समीक्षात्मक रूप - जो सांख्य दर्शन की समीक्षा के रूप में प्रकट हुआ।

दुःख से छूटना -

भारतीय दर्शन का परम प्रयोजन पुरुषार्थ को सम्पन्न करना है । अपवर्ग, कैवल्य, मोक्ष, निःश्रेयस, निर्वाण ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य, प्राप्तव्य है । इसी की सिद्धि के लिए भारतीय दर्शनों की प्रवृत्ति होती है तथा इसी प्रयोजन के सम्पदान में उनका दर्शनत्व भी चरितार्थ होता है -

"दृश्यते साक्षात्क्रियेत अध्यात्मज्ञानपुरस्सरं परमपुरुषार्थोऽपवर्गः अनेनइतिदर्शनम्" । संसार के सभी मनुष्य नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित हैं । दर्शन ही दुःख निवृत्ति के मार्ग को बतलाता है । इस प्रकार दर्शन रूप सर्वोत्कृष्ट सृष्टि के उद्भव में दुःखजिहीर्षा ही प्रधान कारण बनती है ।

अन्य दर्शनों की भाँति सांख्य दर्शन का भी प्रधान प्रयोजन दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति है । दुःख के निराकरणार्थ ही इस शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, इसका अत्यन्त स्पष्ट ज्ञान प्रथम ही सांख्यकारिका तथा प्रथम सांख्य सूत्र से हो जाता है -

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तुपुरुषार्थः ।सांख्य सूत्र 1/1

× × × ×

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघापतके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्तोतडा भावात् ।।सांख्यकारिका।।

दुःख निरास की प्रतिज्ञा करके ही यह शास्त्र प्रारम्भ होता है और इसके निवारण के मार्ग को बतलाता है । इस तरह दुःख-दुःख हेतु-मोक्ष-मोक्षोपाय रूप चतुर्व्यूह का अच्छी तरह प्रतिपादन सांख्य दर्शन करता है ।

सांख्य दर्शन स्वीकार करता है कि इस संसार में दुःख है और उनसे सभी मनुष्य पीड़ित है । सांख्य ने आध्यात्मिक - आधिभौतिक-अधिदैविक रूप से इन दुःखों का त्रिविध वर्गीकरण किया गया है । पुनः शारीरिक एवम् मानसिक भेद से आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार का है[21] -

''आत्मनि देहे मनसि वेति अध्यात्मम्
तत्र जायमानमाध्यात्मिकं शरीरं मानसं च''[22]

वात, पित्त-श्लेष्मा रूप त्रिविध दोषों के वैषम्य से उत्पन्न शीत, ताप, ज्वर, अतिसार इत्यादि दुःख शारीरिक है[23] तथा काम-क्रोध लोभ-मोह-मद-मत्सर, भय, ईर्ष्या-विषाद, शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इत्यादि अभिलषित विषयों से वियोग एवम् अनभिलषित से संयोग इत्यादि निमित्त जन्य दुःखों को मानसिक दुःख कहते हैं । अन्न-जल-सुमधुर पेय, औषध, इन्द्रियनिग्रह-दया-दान-विवेक इत्यादि उपायों का शरीर तथा मन के भीतर प्रयोग किये जाने से उपशमित (साध्य) होने वाले दुःखों को आन्तरिक या आध्यात्मिक दुःख कहते हैं । आन्तरिक उपायों द्वारा निवर्तनीय होने के कारण ही इन दुःखों की संज्ञा आध्यात्मिक है -

''सर्व चैतदान्तरोपायसाध्यत्वादाध्यात्मिकं दुःखम्'' ।[24]

बाह्य उपायों से दूर किये जाने वाले दुःख दो प्रकार के हैं -

आधिभौतिक एवम् आधिदैविक । इनमें आधिभौतिक दुःख मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प एवम् स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) के कारण होता है -

''भूतानि जरायुजाण्डस्योद्भिज्जरूपाणि चराचरजातीयानि
अधिकृत्य निमित्ती कृत्य जायमानं दुःखमाधिभौतिकम् ।[25]

और आधिदैविक दुःख यक्ष-राक्षस, विनायक (विभिन्न देव-देवी आदि) एवम् ग्रह आदि से उत्पन्न आँधी-वर्षा, अतिवृष्टि-अनावृष्टि, शीत-आतप, वज्र उल्कापात इत्यादि से होता है -

''देवान यक्षादीन् दिव प्रभवान् वातवर्षातपशीतोष्णादीन् वा निमित्तीकृत्य जायमानं दुःखमाधिदैविकम्'' ॥[26]

यद्यपि सभी विषय प्रकृति के विकार होने के कारण उसी से सम्बद्ध हैं । पुरुष तो स्वरूपतः निर्विषय है । मन इत्यादि इन्द्रियों द्वारा बुद्धि विषयों का ग्रहण करती है और सुख दुःख मोहात्मक विषयों से उपरञ्जित हो जाती है । बुद्धि में संक्रमित पुरुष इन सभी विषयों को अपने में उपचारित करके उनमें अभिमान करता हुआ उनका उपभोग करता है और स्वरूपतः असङ्ग, सुख-दुःख से असंपृक्त होने पर भी सुखी दुःखी मोहयुक्त होता है ।[27]

इस प्रकार मन के द्वारा अनुभव किए जाने के कारण यद्यपि सभी दुःख मानसिक ही हैं, तथापि जिनमें केवल मन की अपेक्षा हो वह दुःख मानसिक तथा शरीर आदि अन्य निमित्तों के कारण शेष दुःख शारीरिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक है ।

ननु सर्वस्यापि दुःखस्य मनोधर्मत्वेन मानसत्वात् कथं मानसत्वा-मानसत्वव्यवहार इति चेत्, न, मनोमात्रजन्यत्वाजन्यत्वाभ्यां मानसत्वामानसत्वव्यवहारः ।[28]

इसी विचार से इन दुःखों का त्रिविध विभाजन है ।

संसार के समस्त पदार्थ सत्त्वरजस्तमो रूपा प्रकृति के विकार होने के कारण सुख दुःख मोह मिश्रित हैं । अतएव निष्केवल सुख की प्राप्ति कभी सम्भव है ही नहीं । इसीलिए विवेकी मनुष्य के लिए जगत् के सभी पदार्थ दुःख रूप ही हैं ।[29]

यह दुःख रजो गुण का परिणाम है । त्रिगुणात्मिका प्रकृति के नित्य होने के कारण यह दुःख भी नित्य है । इन्हीं त्रिविध दुःखों के साथ अन्तःकरणवर्ती चेतनशक्ति का जो अत्यन्त असह्य प्रतिकूल वेदनीय सम्बन्ध है, यही इन दुःखों की जिज्ञासा में हेतु है । अतः इन दुःखों की सत्ता का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता । सभी मनुष्य इन दुःखों के अपघात से पीड़ित हैं, अतएव वे इनका समूल समुच्छेद चाहते हैं ।[30]

इस प्रकार दुःख की सत्ता को सांख्यदर्शन स्वीकार करता है और उसकी जिज्ञासा को भी बतलाता है ।

दुःख का कारण –

इन दुःखों का मूल कारण तो अनादि अविद्या की है । सभी सुख-दुःख प्राकृतिक हैं । स्वभावतः पुरुष सभी प्रकार के दुःखों से रहित हैं किन्तु बुद्धि के उपराग को प्राप्त कर

वह भी तद्रूप हो जाता है । यथा - स्वच्छ सफटिक जपाकुसुम के सांनिध्य से उपरक्त हो जाता है । अविद्या के कारण ही पुरुष का प्रकृति के साथ सम्बन्ध होता है ।[31]

इस प्रकार अविद्या, मिथ्याज्ञानजन्य प्रकृति संयोग ही समस्त दु:खों का कारण है । प्रकृत्ति के साथ विवेक ग्रहण न होने पर ही प्रकृति गत समस्त विषयों में स्वार्थबुद्धि रखकर वह उनका उपभोग करता है । अत: अविवेक, अज्ञान ही पुरुष के बन्धन का कारण है -

ज्ञानेन चाऽपवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः–सां. कारिका 44

और इस अविद्या के कारण जब तक द्रष्टा-दृश्य का संयोग बना रहता है, तब तक पुरुष को दु:ख भोगना ही पड़ता है ।

सांख्य तथा इसके समान तन्त्र योग के अनुसार त्रिविधदु:खों की आत्यन्तिक एवम् ऐकान्तिक निवृति ही मोक्ष है । प्रकृति के साथ अपने सम्बन्ध को समाप्त कर पुरुष का अपने ही चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य है -

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् – योगसूत्र 1/3
सत्त्व पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्–योगसूत्र 3/55
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेः – योगसूत्र 4/34

× × ×

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात्प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति पुरुषः ।।सां. का. 68।।

वैदिक उपायों का निषेध –

दु:ख के प्रहार से उद्‌विग्न होने से उसके विषय में जिज्ञासा होती है । अत: उसके निवारण का उपाय सांख्य दर्शन उपस्थित करता है और इस उद्देश्य की सिद्धि में प्रयोग किए जाने वाले लौकिक एवम् वैदिक उपायों की अनुपयोगिता को वह बतलाता है । प्रत्यक्षगोचर उपाय के समान यज्ञादि श्रोत या वैदिक उपाय से भी दु:ख की ऐकान्तिक एवम् आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती । सांख्य कारिका कार ने कहा भी है -

दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः ।
तद्‌विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञंविज्ञानात् ।।सां.का. 2

अर्थात् - वैदिक उपाय भी लौकिक उपायों के सदृश ही दु:खत्रय की ऐकान्तिक और आत्यत्तिक निवृत्ति में असमर्थ हैं । क्योंकि वह अशुद्धि क्षय और अतिशय दोष से युक्त

है । अतः इससे विपरीत व्यक्त (विकृति) अव्यक्त (प्रकृति) तथा पुरुष के विवेक ज्ञान से उत्पन्न तत्त्व साक्षात्कार रूप सांख्यशास्त्रोक्त उपाय उससे भिन्न होने के कारण श्रेयस्कर हैं ।

अब यह प्रश्न उठता है कि ? - वैदिक उपाय सांख्य प्रतिपादित विवेकज्ञान की सिद्धि की अपेक्षा अधिक सरल है । अतः दुःष्कर, दुःसाध्य सांख्य ज्ञान की ओर किसी की प्रवृत्ति होगी ही नहीं । इसके उत्तर में कहते हैं कि - यज्ञादि उपाय भी दुःख निरास में लौकिक उपायों के सदृश ही हैं । क्योंकि वे उपाय अशुद्ध एवम् विनाशशील तथा विषम फल को उत्पन्न करने वाले हैं । "अग्निषोमीय पशुमालभेत" इत्यादि रूप से सोमयज्ञ, अश्वमेध, वाजपेय इत्यादि यज्ञ पशु हिंसा, बीजनाश इत्यादि साधनों से सम्पन्न होते हैं । हिंसा के कारण ही स्वर्ग के साधन भूत वैदिक उपाय अविशुद्ध हैं । आचार्य पञ्चशिख के अनुसार ज्योतिष्टोम आदि याग जन्य धर्म नामक प्रधान अपूर्व के साथ पशु हिंसा से उत्पन्न अनर्थकारी अधर्म नामक अप्रधान अपूर्व के साथ स्वल्प संकर होता है तथा अत्यल्प प्रायश्चित्त द्वारा यह धर्म निवर्तनीय होता है और यदि प्रमादवश प्रायश्चित्त का विधान नहीं किया गया तो प्रधान कर्म के विपाक के अवसर पर वह किंचिन्मात्र अधर्म भी अपना अशुभ फल प्रदान करता है, किन्तु वह फल सह्य होता है -

"सवल्पः संङ्करः सपरिहारः सप्रत्यवमर्षः"[33]

वैदिक उपायों के अनुष्ठान से प्राप्त होने वाला स्वर्गरूप फल क्षयिष्णु होता है। क्योंकि जो जो कार्य होता है, वह अनित्य होता है । यथा घट, पट, इत्यादि कार्य[33]-

यद् यत्कार्यं तत्तदनित्यम्, स्वर्गादिकं क्षयित्वं,
भावत्ये सति कार्यत्वाद् घटवत्

इसी प्रकार वैदिक उपायों से प्राप्त होने वाले फल, न्यूनाधिक्य दोष से बिद्ध होते हैं । ज्योतिष्टोम के सम्पादन से स्वर्गमात्र की सिद्धि होती है, किन्तु वाजपेययाग करने से ऐन्द्रपद, स्वर्गाधिपति की प्राप्ति होती है और परपुरुष का उत्कर्ष हीन सम्पदा वाले पुरुष को दुःखी बनाता ही है ।

इसीलिए अविशुद्धि-क्षय-अतिशय रूप त्रिविध दोषों से विद्ध होने के कारण वैदिक उपाय दुःखों की ऐकान्तिक एवम् आत्यन्तिक निवृत्ति में सर्वथा उपयुक्त नहीं है और मनुष्य दुःखों की अनिवार्य रूप से तथा सार्वकालिक रूप से निवृत्ति चाहता है । अतः लौकिक एवम् वैदिक उपायों के सुकर, साथ ही सुलभ होने पर भी अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य की जिज्ञासा अतिदुष्कर होने पर भी सांख्य प्रतिपादित व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ विज्ञान के विषय में होती है ।

अतः सांख्य शास्त्र प्रतिपादित व्यक्त-अव्यक्त-ज्ञ का विज्ञान ही दुःख की ऐकान्तिक एवम् आत्यान्तिक निवृत्ति में उत्कृष्टतम उपाय है । समस्त दुःखों का कारण अविद्या ही है। इसी कारण प्रकृति-पुरुष का संयोग होता है और इसी अविवेक अभेद प्रतीति के कारण ही बुद्धिगत समस्त विषयों का कर्त्ता एवम् भोक्ता बनकर पुरुष सुख दुःखी होता है । अतः सांख्य शास्त्र द्वारा बताई गयी विधि से व्यक्त के स्वरूप का ज्ञान, उसके मूल कारण अव्यक्त प्रकृति का ज्ञान और इन दोनों से नितान्त पृथक् पुरुष के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान होता है । अविद्याजन्य प्रकृति पुरुष के संयोग की समाप्ति हो जाती है । पुरुष को अपने यथार्थ सत्य स्वरूप का ज्ञान हो जाता है कि मैं न तो क्रियावान् हूँ, न कर्त्ता हूँ और न तो मेरा भोक्तृत्व ही है । मैं नित्य शुद्ध बुद्धमुक्त स्वभाव वाला, अपरिणामी चेतन पुरुष हूँ । त्रिगुणात्मिका प्रकृति से सर्वथा भिन्न सुख दुःख मोह रहित मैं पुरुष हूँ -

एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययादिशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ।सां. का. 64

संशय-विपर्य रहित केवल ज्ञान की प्राप्ति होते ही व्यक्त-अव्यक्त के साथ पुरुष (ज्ञ) का विवेक ज्ञान हो जाता है और वह सदा के लिए मुक्त हो जाता है । दुःख से उसे सार्वकालिक निवृत्ति मिल जाती है । वह अपने चिन्मात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । यही पुरुष का भावी केवली चैतन्य है और इसी की सिद्धि मानव जीवन का परम-पुरुषार्थ तथा सांख्य का प्रधान प्रयोजन है ।

लौकिक उपायों का निषेध –

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों की निवृत्ति के लिए अनेक लौकिक उपाय विद्यमान हैं और वे अत्यन्त सरल एवम् सुलभ हैं । यथा- श्रेष्ठ वैद्यों द्वारा बतलाये गये, रसायन, औषध-सेवन, शल्यक्रिया इत्यादि शारीरिक दुःखों को दूर करने के अत्यन्त सरल उपाय हैं । इसी प्रकार मनोज्ञ स्त्री, अभिलाषित पान, भोजन, वस्त्रालङ्कार इत्यादि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति तथा अप्रिय वस्तुओं के परिहार से मानसिक दुःख के शमन के लौकिक उपाय हैं । इसी प्रकार नीति शास्त्र के अध्ययन से उत्पन्न कुशलता, निरापद स्थान में निवास इत्यादि आधिभौतिक दुःखों के निवारण में तथा मणिधारण, मन्त्रों के अनुष्ठान, जप-तपः पूजा-पाठ, औषध-सेवन इत्यादि आधिदैविक दुःख निवृत्ति से सरल लौकिक उपाय हैं । अतः दुःख निवृत्ति में अत्यन्त सरल लौकिक उपायों के सुलभ होने पर इनकी ओर ही सबकी प्रवृत्ति होनी स्वभाविक है । कहा भी है -

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत् ।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत् ।।[34]

और सांख्य शास्त्र प्रतिपादित सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति रूप तत्त्वज्ञान अनेक जन्मों के सतत् अभ्यास एवम् अविच्छिन्न साधना के द्वारा सिद्ध होने के कारण अतीव दुष्कर है। अतएव इस पथ पर किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी । किन्तु लौकिक उपायों से दुःख की ऐकान्तिक एवम् आत्यान्तिक निवृत्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि दुःख की अनिवार्य रूप से निवृत्ति नहीं होती तथा उपशमित होने पर भी पुनः उद्भूत हो जाते हैं । इसलिए सुकर एवम् सुलभ होने पर भी लौकिक उपायों के प्रयोग से दुःख का निश्चित् रूप से तथा सार्वकालिक रूप से समुच्छेद नहीं होता । अतः इनकी सार्वकालिक रूप से निवृत्ति के लिए शास्त्रीय उपायों की आवश्यकता होती है ।

सांख्य दर्शन के सत्त्व, रज और तमोगुण तथा जैन दर्शन के राग, द्वेष और मोह –

सांख्य दर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मक माना है । वे तीन गुण हैं - सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण । इनमें से प्रत्येक को क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषाद स्वरूप माना हैं ।[35] प्रीति का अर्थ सुख, अप्रीति का अर्थ दुःख और विषाद का अर्थ मोह स्वीकार किया गया हैं । जैन दर्शन में राग, द्वेष और मोह को संसार का कारण माना है और इन्हें भाव कर्म की संज्ञा दी है । आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में लिखा है कि मोह और क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है [36] राग से सुख, द्वेष से दुःख और मोह से विषाद होता है । अतः जैनों के राग द्वेष और मोह, सांख्यों के सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण में कोई अन्तर नहीं । सांख्य दर्शन में इन्हें प्रकृति का धर्म कहा है तो जैन दर्शन में भी इन्हें प्रकृति कारणक ही स्वीकार किया गया है । इसका उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में किया है। वे लिखते हैं - ''कि नियति के द्वारा उदय प्राप्त कर्मांशों में जो मोही, रागी, द्वेषी होता है वह बन्ध का अनुभव करता है ।[37] यह ''नियति'' शब्द का अर्थ प्रकृति ही है । मम्मट ने काव्य प्रकाश के मंगलाचरण में ''नियति'' शब्द का प्रयोग प्रकृति अर्थ में ही किया है ।''[38]

इस प्रकार जैन दर्शन में त्रिगुणात्मक प्रकृति की वही परिभाषा है जो सांख्य दर्शन में है । केवल संज्ञाओं में साधारण भेद है । अर्थात् यहाँ सत्त्व के स्थान पर राग, रज के स्थान पर द्वेष और तम के स्थान पर मोह है, इनके अर्थ दोनों जगह एक ही हैं ।[39]

सांख्य की प्रकृति और जैन दर्शन की प्रकृति –

जैन दर्शन सांख्य की तरह प्रकृतिवादी दर्शन है (और मूल में पुरुष तथा प्रकृति की तरह जीव और अजीव दो ही तत्त्व स्वीकार करता है । इन्हीं के मेल से आगे आस्रव आदि सात तत्त्वों का निर्माण होता है जैसे कि प्रकृति पुरुष के साथ महदादि विकारों को उत्पन्न

करती है। जीव का पुरुष शब्द से जैन दर्शन में भी उल्लेख किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र के "पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय" ग्रन्थ का अर्थ ही यह है कि जिसमें आत्मा की सिद्धि का उपाय बतलाया गया है। वे मिलते हैं - "अस्तिपुरुर्षाश्चदात्मा" अर्थात् पुरुष चैतन्य स्वरूप है। समयसार की आत्मख्याति टीका में पुद्गल से भिन्न तेज वाले पुरुष को हृदय सरोवर में देखने की प्रेरणा दी गई है। जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है - "पश्य षण्मासमेकं, हृदय सरसि पुंसः पुद्गलादि्भन्नधाम्नः ...."प्रकृति और पुरुष जैन दर्शन के प्राचीनतम सांस्कृतिक शब्द हैं जिन्हें केवल सांख्य दर्शन से ही सम्बन्धित माना जाता है।

प्रकृति शब्द की पारिभाषिक तुलना भी जैन दर्शन से है। सांख्य दर्शन में प्रकृति को त्रिगुणात्मक माना गया है। वे तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमोगुण है। इनमें से प्रत्येक को क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषाद स्वरूप माना है।[40] जैन दर्शन में राग, द्वेष और मोह को प्रकृति का कारण माना है और इन्हें भावकर्म संज्ञा दी है। राग से सुख, द्वेष से दुःख और मोह से विषाद होता है। इस प्रकार जैनदर्शन में प्रकृति की वही परिभाषा है जो सांख्य दर्शन में है। केवल संज्ञाओं में साधारण भेद है। अर्थात् यहाँ सत्त्व के स्थान पर राग, रज के स्थान पर द्वेष और तम के स्थान पर मोह है इनके अर्थ दोनों जगह एक हैं।

जैन दर्शन में प्रकृति और कर्म एकार्थवाचक मिलते हैं जबकि शब्दार्थ सर्वथा भिन्न हैं। कर्म की परिभाषा है - "क्रियते तत्कर्म" अर्थात् जो किया जाए वह कर्म है, प्रकृति की नहीं जाती वह तो स्वभाव है। जो किया जाए वह स्वभाव ही क्या रहा ? अतः कर्म और प्रकृति में अन्तर होते हुए भी इनके समानार्थक होने में निम्न कारण हैं। हम जो कर्म (ऐक्शन) करते हैं वह राग, द्वेष, मोह के अधीन होकर मन, वचन, काय के माध्यम से करते हैं। इन्हें क्रम से मानसिक वाचिक और कायिक कर्म कहते हैं। इनसे आत्मा की योग शक्ति प्रभावित होती है। और उससे आत्म प्रदेश परिस्पद होता है। इसका फल यह होता है कि प्रति समय अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल वर्णणायें आत्मा से सम्बन्ध करती हैं। ये अनन्त हैं फिर भी इनका अपना जो फल जीव को लेकर प्रकट होता है उसे जातीयता के आधार पर आठ जगह वर्गीकृत किया है और इन आठों को उनके प्रभेदों में बाँटकर उनके 148 भेद किए हैं। ये मूल आठ भेद ही मूल प्रकृतियाँ कहलाती हैं। और उत्तर भेद उत्तर प्रकृतियाँ कहलाती हैं। इन आठ मूल प्रकृतियों को आठ कर्म भी कहा जाता है और 148 प्रकृतियों के कर्मों को उत्तर भेद भी कहा जाता है। इन प्रकृतियों को कर्म कहने का कारण यह है कि ये कर्म ऐक्शन के परिणाम है। अर्थात् मानसिक कायिक और वाचिक कर्म करने से इनका आत्मा (पुरुष) के साथ सम्बन्ध होता है। अतः कारण में कार्य का उपचार कर प्रकृति को भी कर्म की संज्ञा दी गई है।

यह ठीक है कि प्रकृति स्वभाव होने से किसी का कार्य नहीं हो सकती । जैन दर्शन में प्रकृति को स्वभाव शब्द से उल्लेख किया है । लेकिन उसका प्रकृतिपन इन अर्थ में है कि उसका किसी खास समय में जीव (पुरुष) के साथ सम्बन्ध नहीं हुआ । अर्थात् ऐसा नहीं है कि जीव के साथ किसी समय प्रकृति का सम्बन्ध नहीं था बाद में हुआ । वह अनादि काल से है । जो वस्तु अनादि है उसमें कारण की प्रधानता नहीं होती है और जो कारण विहीन हैं, वह प्रकृति या स्वभाव ही कहा जाता है ।

निष्कर्ष यह है कि जैन दर्शन में प्रकृति को कर्म शब्द से भी उल्लेख किया है। यह कर्म तीन प्रकार के हैं - 1. भाव कर्म, 2. द्रव्य कर्म तथा 3. नो कर्म। यह तीनों ही प्रकार के कर्म जैन दर्शन में प्रकृति शब्द के वाच्य हैं । इसकी सांख्य दर्शन की प्रकृति के साथ इस प्रकार तुलना की जा सकती है । सांख्यमत में प्रकृति को प्रधान और अव्यक्त शब्द से उल्लिखित किया है । जैनों के भाव कर्म और द्रव्यकर्म में भी यही अन्तर है। राग, द्वेष और मोह यह जीव के भावात्मक कर्म हैं अत: जीव की तरह ही अव्यक्त हैं तथा उससे उत्पन्न जो पौद्गलिक नो कर्म है वे पुद्गल की तरह व्यक्त हैं अर्थात् मूर्तिमान हैं । इनमें द्रव्यकर्म इन्द्रियग्राह्य नहीं है फिर भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाले तो हैं ही अत: उन्हें भावों की तरह अव्यक्त नहीं कहा जा सकता ।[41]

सांख्यों में एक सूक्ष्म शरीर या लिंग शरीर की मान्यता है । जो प्रकृति का ही कार्य है । यह सूक्ष्म शरीर जैनों का कार्माण शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । स्थूल शरीर को मातृपितृज लिखा है जो जैनों में नो कर्म कहा जाता है ।

सांख्य में पुरुष बहुत्व की मान्यता है[42], जैनों ने भी आत्मा को सर्वगत एक न मानकर प्रति शरीर भिन्न-भिन्न ही माना है । अत: पुरुष बहुत्व में भी दोनों की समान मान्यता है।

सांख्यों के दो भेद किए गये हैं - ईश्वरवादी और निरीश्वर वादी । निरीश्वर वादी को सांख्य और ईश्वरवादी को योग कहा जाता है । वस्तुत: यह दो भेद नहीं है, किन्तु एक ही सांख्य द्वारा प्रतिपादित दर्शन और आचार सम्बन्धी कथन हैं । ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता न मानना निरीश्वरवादिता नहीं है । निरीश्वरवादिता तो तब कहलाती है जब ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार न किया जाए । यह आवश्यक नहीं कि सृष्टि कर्तृत्य से ईश्वर का अस्तित्व बंधा हो ।

योग दर्शन (ईश्वर वादी) ने ईश्वर का लक्षण लिखा है –

''कर्मक्लेशविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुष विशेष: ईश्वर:''[43] ईश्वर की इस मान्यता का खण्डन निरीश्वरवादी सांख्य ने कहीं नहीं किया और न इस मान्यता में ईश्वर के कर्तृत्ववाद की झलक है । इस प्रकार सांख्य दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्रकृति को ही बन्ध-मोक्ष मान्यता

का खण्डन योग दर्शन ने नहीं किया है और न इससे योगदर्शन प्रतिपादित ईश्वर का खण्डन होता है। प्रत्युत पुरुष विशेष कहकर प्रकृति से विमुक्त पुरुष को ही ईश्वर की मान्यता सिद्ध होती है। अत: दोनों एक हैं। दोनों ही ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता न मानने की अपेक्षा निरीश्वरवादी है और दोनों ही क्लेश, कर्म, विपाकाशय से रहित ईश्वर की सत्ता मानने की अपेक्षा ईश्वरवादी है। सम्भवत: इसी अभिप्राय को ध्यान में रखकर गीता में लिखा है कि - "सांख्य और योग को मूर्ख लोग ही पृथक्-पृथक् मानते हैं विद्वान् नहीं।[44] सांख्य के द्वारा जो पद प्राप्त किया जाता है वह योग के द्वारा भी प्राप्त किया जाता है। इसलिए जो सांख्य और योग को एक देखता है वही सब कुछ देखता है।[45]

ईश्वर के विषय में यह सत्य और योग दर्शन की मान्यता पूर्णतया जैन दर्शन से मिलती-जुलती है। जैन दर्शन भी ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता नहीं मानता। सांख्यों की प्रकृति की तरह वह सृष्टि की रचना स्वभाव (प्रकृति) से ही मानता है। इस तरह ईश्वर को सृष्टि कर्त्ता न मानकर भी वह ईश्वर की सत्ता मानने में पीछे नहीं है। योग दर्शन की तरह वह भी कर्म (द्रव्य कर्म) क्लेश (भाव कर्म) विपाक (कर्मफल) रहित आत्मा विशेष को ईश्वर मानता है। इसके अतिरिक्त योग दर्शन में वर्णित प्राय: सारा ही विषय जैनों के चरणानुयोग से मिलता है।

यो सांख्य दर्शन जैन दर्शन के समानान्तर काफी दूर तक चलता है। इसका संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है। यहाँ प्रकृत विषय समयसार और सांख्य दर्शन की तुलना है।[46]

इस प्रकार परस्पर समानता होते हुए भी आचार्य कुन्दकुन्द ने सांख्य मत का खण्डन किया है और अपनी मान्यताओं को ठीक (अनेकान्त से) समझने के लिए सांख्यमत के प्रसंग से बचने की प्रेरणा की है। उसका कारण यह है कि कुन्दकुन्द ने अपने कथन में सर्वत्र नय शैली को अपनाया है। इसीलिए जब भी वे कोई बात कहते हैं तो एक नय की प्रधानता से कहते हैं दूसरे नय को वे भुला नहीं देते हैं किन्तु गौण रखते हैं। स्याद्वाद का अर्थ ही यह है कि किसी अपेक्षा से वस्तु कथंचित् इस प्रकार है। कुन्दकुन्द ने सर्वत्र जीव को अकर्त्ता माना है किन्तु यह मान्यता उनकी निश्चय नयाश्रित है व्यवहारमय से वे उसे कथंचित् कर्त्ता भी स्वीकार करते हैं।[47] इसके विपरीत जो एकान्त से सर्वथा आत्मा को अकर्त्ता ही मानते हैं आचार्य उन्हें सांख्यमतानुयायी श्रमण कहते हैं।[48] और उनका खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि जीव को हम सर्वथा अकर्त्ता मान ले और प्रकृति को ही कर्त्ता मान ले तो किसी को अपराधी या व्यभिचारी नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि अपराध या व्यभिचार तो बुद्धि तत्त्व का तामस रूप है जो प्रकृति का ही विकार है अत: ये सब प्रकृतिकृत नहीं है तब जीव (पुरुष) व्यभिचारी नहीं हुआ।

इसी प्रकार की ऐकान्तिक मान्यताओं को लेकर ही समयसार में सांख्यदर्शन का खण्डन है ।

जैन दर्शन समन्वयात्मक धर्म है और विभिन्न धर्मों में पारस्परिक विरोध का मंथन करता है । यह मन्थन स्याद्वाद के आधार पर ही किया जाता है । सांख्य दर्शन की मान्यतायें जैन दर्शन से मिलती हुई भी कहीं-कहींइतनी दूर हो गई है कि जैन दर्शन से उनका तालमेल ही नहीं बैठता और सन्देह होता है कि उनकी यह मान्यता मौलिक है भी या नहीं । उदाहरणार्थ - शब्द तन्मात्रा से जल और गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी की उत्पत्ति सांख्य मानता है जैन दर्शन में इसकी गंध भी नहीं है । अन्ततः निष्कर्ष यह है कि जैन और सांख्य दर्शन दोनों ही अत्यन्त प्राचीन दर्शन है, दोनों ही प्रकृतिवादी हैं, सृष्टि कर्त्तत्व के विषय में दोनों ही निरीश्वर वादी है, दोनों की नाना आत्मवादी हैं । दोनों ही विवेक ख्याति या भेद विज्ञान को मुक्ति का प्रधान कारण मानते हैं, दोनों ही जड़ प्रकृति और चेतन पुरुष का अनादि सम्बन्ध मानते हैं, दोनों ही सत्कार्यवादी हैं, और संसार को प्रकृति-पुरुष के संयोग का फल दोनों ही मानते हैं ।

पुरुष बहुत्व की सिद्धि –

सांख्य और जैन दर्शन दोनों अनेक आत्माओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं । पुरुष बहुत्व की सिद्धि में सांख्यकारिका में निम्नलिखित प्रमाण दिये गये हैं[19]-

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमात् –

जन्म, मृत्यु तथा करणों की व्यवस्था के कारण पुरुष की अनेकता सिद्ध होती है अर्थात् भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न पुरुष विद्यमान है; एक नहीं । सभी शरीरों में एक ही पुरुष के स्वीकार कर लेने पर इनकी व्यवस्था युक्तिसंगत नहीं होती । ऐसी स्थिति में किसी एक शरीर में पुरुष की उत्पत्ति होने पर सर्वत्र अन्य शरीरों में भी पुरुष की उत्पत्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा कभी नहीं देखा जाता । किसी एक शरीर में पुरुष की मृत्यु होने पर सभी शरीरों में मृत्यु होनी चाहिए, किसी एक ही इन्द्रिय में विकार, विकास तथा विनाश होने पर अन्यत्र इनकी प्राप्ति नहीं होती । एक के अन्धे, बधिर अथवा हस्तविहीन अथवा अङ्गों के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष होने पर अन्यत्र यह वृद्धि या क्षय उपलब्ध नहीं होता । जन्म, मृत्यु तथा करणों की यह समानता दृष्टिगोचर नहीं होती । किन्तु भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न पुरुषों की स्थिति से जन्म, मृत्यु तथा करणों की व्यवस्था घटित होती है । एक पुरुष का जन्म होने पर दूसरे का जन्म नहीं होगा, एक की मृत्यु होने पर दूसरे की मृत्यु नहीं होगी तथा एक पुरुष के करणों में दोष उत्पन्न होने से दूसरे पुरुषों के करणों में दोष की स्थिति नहीं होती। इस प्रकार प्रति शरीर पुरुष के भिन्न होने से व्यवस्था बनी रहती है और एक ही पुरुष के होने पर यह व्यवस्था असंगत हो जाती है ।

अयुगपत्प्रवृत्तेः –

सभी शरीरों में युगपत् प्रवृत्ति का अभाव होने से भी अनेक पुरुषों का ज्ञान होता है। यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष विद्यमान होता तो एक शरीर में प्रवृत्ति होने पर अन्य शरीरों में भी उसी समय व्यापार होना चाहिए और यह व्यापार एक ही साथ एक ही समय में होना चाहिए। किन्तु सर्वत्र सभी शरीरों में यह क्रिया एक साथ नहीं होती और कथञ्चित् एक साथ होने पर भी सदृश रूप से नहीं होती। विविध शरीर विविध समय में विविध कार्यों में विविध प्रकार से प्रवृत्त होते हैं। समान व्यापार में समान समय में युगपत् प्रवृत्त होने पर भी इनके कर्मों में विभिन्नता ही देखी जाती है। यथा एक ही समय में एक ही साथ चलाये गये अनेकरथों में समानता दृष्टिगोचर ने होने से उनके भिन्न-भिन्न यन्ता का ज्ञान होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न शरीरों में विद्यमान पुरुष भी भिन्न ही हैं।

"इतश्च प्रतिक्षेत्रं पुरुष भेद इत्याह - "अयुगपत्प्रवृत्तेश्च इति। प्रवृत्तिः प्रयत्नलक्षणा यद्यप्यन्तः करणवर्तिनी, तथापि पुरुषेउपचर्यतेः। तथा च तस्मिन्नेकत्र शरीरे प्रयतमाने, स एव सर्वशरीरेषु एक इति सर्वत्र प्रयतेत, ततश्च सर्वाण्येव शरीराणि युगपच्चालयेत्। नानात्वे तु नायं दोष इति। सा. कां. 18 तत्त्व कौमुदी।

त्रैगुण्यविपर्ययात् –

सत्त्व-रजस्-तमस् त्रिविध गुणों की विविधता के कारण भी पुरुष बहुत्व की सिद्धि होती है। कुछ प्राणी सत्त्व बहुल, कुछ रजोगुण और कुछ तमोगुण प्रधान हैं। गुणों की इस विषमता के कारण ही देव एवम् ऋषि सर्वोत्तम है, क्योंकि उनमें सत्त्व गुण की प्रधानता है। रजोगुण के आधिक्य से मनुष्य मध्यमकोटि में आते हैं तथा तमोगुण के उद्वेग के कारण ही पशु पक्षी निष्कृष्ट तत्त्व हैं। यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष होता, तो उनमें उत्तम, मध्यम-अधम श्रेणी विभाग तथा त्रिविध गुणों का विपर्यय उपलब्ध नहीं होता। इसलिए प्रत्येक शरीरों में गुण की भिन्न-भिन्न स्थिति होने से उन शरीरों में रहने वाले भिन्न-भिन्न पुरुषों का ज्ञान होता है।

डॉ. राधा कृष्णन् के शब्दों में - आत्मायें अनेक हैं, क्योंकि अनुभव बतलाता है कि मनुष्यों में सबको शारीरिक, नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्राप्त हैं। संसार में चैतन्ययुक्त प्राणी अनेक हैं, और उनमें से प्रत्येक, इसकी विषयीनिष्ठा तथा विषयनिष्ठ प्रक्रियाओं ने अपने स्वतन्त्र अनुभव द्वारा, इसे अपनी ही विधि से समझता है। दृष्टिकोण के भेद प्रकृति के विकारों के कारण नहीं हो सकते और इसलिए यह युक्ति दी जाती है कि चैतन्य रूप द्रष्टा भिन्न-भिन्न है। इसकी भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ तथा कर्म है और ये पृथक्-पृथक् जन्म तथा मरण को प्राप्त होते हैं। एक स्वर्ग को जाता है तो दूसरा नरक में। सांख्य

चैतन्य की धाराओं की संख्या की दृष्टि से विशिष्टता पर तथा पृथक्-पृथक् धाराओं के व्यक्तिगत एकत्व पर बल देता है । हम व्यक्ति के अनुभवों के सुव्यवस्थित एकत्व का इसके अतिरिक्त कोई कारण नहीं बता सकते कि एक व्यक्तिरूप विषयी के अस्तित्व को मान लेना चाहिए। किन्तु भिन्न-भिन्न एकत्वों की विशिष्टता का कारण अवश्य ही आत्माओं के अनेकत्व को दर्शाता है ।[50]

विषयालोचन –

सांख्य दर्शन –

भारतीय दर्शनों में सांख्य अत्यन्त प्राचीन दर्शन है । इसका बहुत ही महनीय एवम् गौरवपूर्ण स्थान है । तत्त्वमीमांसा तथा ज्ञान मीमांसा दोनों ही क्षेत्र में इसकी महत्त्वपूर्ण देन है । परम्परया इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं ।[51]

"संख्यान" या "संख्या" शब्द का मूल अर्थ "विवेक" या "विवेकात्मक ज्ञान" है, और "विवेक" या "विवेकात्मक ज्ञान" का स्वरूप है - वस्तुओं का परस्पर पृथक् रूप में ज्ञान या स्वरूप ज्ञान । "गणना" के अर्थ में जो "संख्या" शब्द प्रचलित है, वह भी उक्त मूल अर्थ विवेक या विवेकात्मक ज्ञान के आधार पर ही प्रचलित है, क्योंकि "संख्या" या "गणना" के रूप में भी वस्तुओं का विवेकात्मक ज्ञान अर्थात् परस्पर पृथक् रूप में ज्ञान किया जाता है और फलतः उन्हें पृथक्-पृथक् एक, दो आदि कहा जाता है । यतः इस दर्शन ने जगत् के तत्त्वों का इस रूप में "संख्यान" या विवेकात्मक ज्ञान प्राप्त किया कि इस जगत् में प्रकृति और पुरुष दो मूल तत्त्व हैं । अतः इस दर्शन को सांख्य कहा गया ।[52]

सांख्य दर्शन के सिद्धान्त –

सांख्य शास्त्र के वेत्ता सम्पूर्ण कार्यों को महत् तत्त्व आदि क्रम से प्रकृति से उत्पन्न मानते हैं । उनका कहना है - जिन तत्त्वों से जगत् का विस्तार होता है उनकी संख्या पच्चीस है । उनमें दो तत्त्व सर्वापेक्षया मुख्य है जिनमें एक तत्त्व वह है जिसे आत्मा कहा जाता है, वह कूटस्थ-निर्विकार नित्य चैतन्य रूप है । वह न किसी का कारण होता है और न किसी का कार्य होता है और दूसरा तत्त्व वह है जिसे प्रकृति कहा जाता है, वह अचेतन होती है और महत् तत्त्व आदि अन्य 23 तत्त्वों को उत्पन्न करने की शक्ति से सम्पन्न होती है । वह सबका आदि कारण है और उसमें महत् तत्त्व आदि रूपों में परिणत होने की योग्यता रहती है । उसे मानना अति आवश्यक है; क्योंकि (1) उसके अभाव में परिमित एवम् व्यक्त जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि उसे उत्पन्न करने वाला दूसरा कोई हेतु नहीं है । (2) उसे मानने की आवश्यकता इसलिए भी है जिससे विभिन्न कार्यों में एकरूपता हो सके, क्योंकि कार्यों की उत्पत्ति यदि एक सदृश कारण से न होगी तो कार्यों में कारण के द्वारा एक जातीयता

की उपलब्धि न हो सकेगी। यहाँ एक रूपता का कार्य बुद्धि यानी महत् तत्त्व से नहीं सम्पन्न हो सकता चूँकि वह बुद्धि सम्पूर्ण कार्यधर्मों का अनुविधान नहीं कर सकती, इसका कारण वह सर्वसाधारण नहीं होती और स्वयं अनित्य होती है। (3) प्रकृति तत्त्व मानने का यह भी आधार है कि प्रकृति के अभाव में महत् तत्त्व आदि कारण शक्तियों की प्रवृति नहीं हो सकती, क्योंकि कारण शक्तियों की प्रवृत्ति किसी एक सामान्य आधार द्वारा ही होती है जैसे पट आदि का उत्पन्न करने वाली तुरी वेमा आदि शक्तियाँ तन्तुवाय रूपी आधार के बिना नहीं प्रवृत्त होती। (4) यह भी कारण है कि प्रकृति के अभाव में कार्य और कारण का विभाग भी नहीं हो सकता; क्योंकि कार्यत्व का व्यवहार कारण-सापेक्ष होता है। अत: यदि महत् तत्त्व आदि का कोई कारण न होगा तो उनमें कार्यत्व का व्यवहार नहीं हो सकेगा। (5) प्रकृतितत्त्वसमर्थक यह भी एक तर्क है कि प्रकृति के अभाव में प्रलयावस्था में भूत आदि कार्यों का तन्मात्र आदि के क्रम से एक कारणावस्था में अविभाग-अविवेक-अपार्थक्य न हो सकेगा जिसका होना, ठीक उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार दुग्ध की अवस्था में दुग्ध और दधि का अविभाग होता है।[53]

प्रकृति के अस्तित्व के समर्थन में कहे गये इन समस्त हेतुओं को ईश्वरकृष्ण ने अपने "सांख्यकारिका" नामक ग्रन्थ में 15वीं कारिका से अभिहित किया है।[54] जिसका यह अर्थ है कि कार्यों के परिमित होने से और कारण के साथ अन्वय होने से और कारण शक्तियों की प्रवृत्ति होने से तथा कारण कार्य का विभाग होने से और सम्पूर्ण कार्यों का एक कारणवस्था में अविभाग होने से प्रकृति का अस्तित्त्व सिद्ध होता है।[55]

सत्कार्यवाद में हेतु पञ्चक –

यह शंका हो सकती है कि - "महत्तत्त्वादि कार्यों की उत्पत्ति के पूर्व असत् की ही उत्पत्ति मानी जाय तो कारण में पूर्व से ही उसके अन्वय की आवश्यकता न होगी। अत: उसके लिए प्रकृति के अस्तित्त्व की कल्पना अनावश्यक है" किन्तु यह शंका उचित नहीं है क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं होती, जैसा कि ईश्वरकृष्ण ने "असदकरणात्"[56] इस कारिका में स्पष्ट किया है। कारिका का आशय यह है कि जो असत् पदार्थ है उनको अस्तित्त्व में आते हुए आज तक कभी नहीं देखा गया। इसलिए प्रथमत: सत्पदार्थ ही होता है। अत: असत्पदार्थ न कारण ही होता है, न कार्य ही होता है। कार्य कारण का धर्म होता है। असत् मानने पर वह कारण का धर्म नहीं हो सकता। अत: उसे उत्पत्ति पूर्व में भी कारण में सत् मानना आवश्यक है। यह देखा भी जाता है कि तिल में प्रथमत: विद्यमान ही तैल का तिलपेषण करने पर प्रादुर्भाव होता है। असत्पदार्थ की उत्पत्ति होने का कोई भी दृष्टान्त नहीं है।[57]

यदि यह कहा जाए कि - "कार्य का उत्पत्ति के पूर्व में जो असत्त्व होता है वह विद्यमान प्रागभाव का प्रतियोगित्व रूप होता है और उत्पत्ति होने पर जो उसका सत्त्व होता

है वह विद्यमानत्वरूप होता है । अत: इस प्रकार के असत्त्व और सत्त्व में कोई विरोध नहीं है । पूर्व काल में जिसका प्रागभाव रहा उत्तर काल में उसका भाव मानने में कोई असङ्गति नहीं है । एक काल में ही किसी वस्तु का भावाभाव विरुद्ध हो सकता है, भिन्न काल में नहीं । शशसींग का दृष्टान्त असत् की अनुपपत्ति बताने में उचित नहीं हो सकता । क्योंकि शशसींग का प्रागभाव न होकर सदैव अभाव होता है, प्रागभाव उसी का होता है - बाद में कभी जिसका भाव सम्भव हो ।[58] तो यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि असत्व का विद्यमान प्रागभाव प्रतियोगित्व रूप मानने में गौरव है अत: अविद्यामानत्व अर्थात् सम्पूर्णकाल में अभाव को ही असत्व रूप मानना लाघव के कारण उचित है, उसी से सर्वत्र असत्व के अनुगत व्यवहार की उपपत्ति हो सकती है । अत: शशसींग में सार्वदिक अभाव से असत्त्व व्यवहार का और कार्यों में प्रागभाव प्रतियोगत्वरूप असत्त्व से असत्व व्यवहार का उपपादन करना उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर व्यवहार की अनुगतरूपता का भङ्ग हो जाता है ।[59]

कार्य विशेष के लिए कारण विशेष को ही नियमित रूप से ग्रहण किया जाता है, इसलिए भी उत्पत्ति से पूर्व कार्य का अस्तित्व मानना आवश्यक है । यदि कार्य उत्पत्ति के पूर्व असत् होगा तो कार्य के लिए सारे पदार्थ समान होंगे और इसका फल यह होगा कि शालि उत्तम कोटि का धान्य जिससे उत्कृष्ट कोटि का चावल प्राप्त होता है - उसके लाभ के लिए किसान शालि बीज का ही नियम से उपादान न कर सकेगा। कोद्रव यानि निकृष्ट धान्य के बीज को ग्रहण करने में भी उसकी प्रवृत्ति की प्रसक्ति हो सकती है । क्योंकि उत्पत्ति के पूर्व शक्ति का असत्त्व शालि बीज और कोद्रव के बीज दोनों में समान है तो फिर क्या कारण है कि किसान शालि के लाभ के लिए शालि बीज का ही उपादान करे और कोद्रव के बीज का उपादान न करे । उत्पत्ति के पूर्व कारण में कार्य का अस्तित्त्व मानने पर इस प्रश्न का समाधान सुकर होता है । वह इस प्रकार कि शालि शालिबीज में प्रथमत: रहता है और कोद्रव के बीज में नहीं । अत: वह शालि लाभ के लिए शालि बीज को ही ग्रहण करता है न कि कोद्रव बीज को ।[60]

उपादान और कार्य के सम्बन्ध की अनुपपत्ति –

अन्य विद्वान् कारिका में आये "उपादान ग्रहण" शब्द का अर्थ उपादान के साथ कार्य सम्बन्ध बताकर उससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यदि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व असत् माना जायगा तो कारण के साथ उस का सम्बन्ध न हो सकेगा । क्योंकि सम्बन्ध सत्पदार्थों में ही होता है । असत् और सत् का सम्बन्ध नहीं होता । कार्य को उत्पत्ति के पहले सत् मानना इसलिए भी आवश्यक है कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति नियत पदार्थ से ही होती है सब पदार्थों से उत्पत्ति नहीं होती । किन्तु यदि पदार्थ से असत्कार्य की उत्पत्ति होगी तो यह मानना होगा कि पदार्थ अपने से असम्बद्ध वस्तु का उत्पादन करता है, ऐसी स्थिति में

किसी नियत पदार्थ से ही कार्य की उत्पत्ति न होकर सम्पूर्ण पदार्थों से सभी कार्य की उत्पत्ति का प्रसङ्ग होगा, क्योंकि कार्य जैसे किसी एक नियत पदार्थ से असम्बद्ध होता है उसी प्रकार सभी पदार्थों से असम्बद्ध होता है। इसलिए इस बात में कोई व्यवस्था न हो सकेगी कि अमुक कार्य अमुक पदार्थ से ही उत्पन्न हो और अन्य से न हो। किन्तु कार्य को उत्पत्ति के पूर्व सत् मानने पर यह सङ्कट नहीं उपस्थित हो सकता, क्योंकि तब कहा जा सकता है - तत्तत्कार्य का तत्तत्पदार्थ के ही साथ सम्बन्ध होता है सब पदार्थों के साथ नहीं होता और पदार्थों का यह स्वभाव है कि वह सम्बद्ध कार्य का ही उत्पादक होता है असम्बद्ध का नहीं, अत: सब पदार्थों से सब कार्यों की उत्पत्ति का उपादान नहीं हो सकता।[61] जैसा कि कहा गया है कि -

"उत्पत्ति के पूर्व कार्य का असत्त्व मानने पर सत् कारणों के साथ असत् कार्य का सम्बन्ध न हो सकेगा और यदि असम्बद्ध पदार्थों में ही कार्य की उत्पत्ति मानी जायगी तो अमुक पदार्थ ही में अमुक कार्य की उत्पत्ति हो अन्य में न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती।"[62]

उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् इसलिए भी मानना आवश्यक है कि जो पदार्थ जिस कार्य के उत्पादन की शक्ति में शून्य होता है उससे उस कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है किन्तु जिस पदार्थ में जिस कार्य के उत्पादन की शक्ति होती है उसी से उसकी उत्पत्ति होती है, और तत्तत्कार्य के उत्पादन की शक्ति सर्वत्र न होकर नियत पदार्थों में ही होती है। किन्तु यह बात उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् मानने पर ही बन सकती है असत् मानने पर नहीं, क्योंकि असत् वस्तु किसी पदार्थ का शक्य नहीं हो सकती है। क्योंकि शक्य-शक्तभाव भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही है। अतएव वह सत् पदार्थों के ही बीच सम्भव हो सकता है, सत् और असत् के बीच सम्भव नहीं हो सकता। उत्पत्ति के पूर्व कार्य को सत् मानना इसलिए भी आवश्यक है कि उसमें कारण का तादात्म्य होता है। यदि वह असत् होगा तो उसमें कारण का तादात्म्य न हो सकेगा क्योंकि सत् और असत् प्रकाश और अन्धकार के समान अत्यन्त विलक्षण है, अतएव उनमें तादात्म्य कथमपि सम्भव नहीं हो सकता।[63]

यदि यह कहा जाय कि - "कार्य अवयवी होता है और कारण उसका अवयव होता है अत: कार्य में कारण का तादात्म्य मानना असङ्गत है। अत: कार्य में कारण का तादात्म्य बताकर उसके द्वारा उत्पत्ति के पूर्व कार्य के सत् होने का समर्थन करना उचित नहीं हो सकता"- तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अवयव-अवयवी में अवयवों की भिन्नता की प्रतीति न होने से अवयवी में अवयवों का भेद स्वीकार्य नहीं हो सकता। अपितु "कपाल घट हो गया, तन्तु पट हो गया, सुवर्ण कुण्डल हो गया" इन सार्वजनिक प्रतीतियों के अनुरोध से अवयव और अवयवी का तादात्म्य सिद्ध होता है। इन सब युक्तियों का निष्कर्ष यह है कि महत् तत्त्वादि पदार्थ कार्य हैं अतएव उत्पत्ति से पहले उनका अस्तित्त्व मानना आवश्यक है और यह अस्तित्त्व

किसी आधार में ही हो सकता है । अत: महदादि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व जिस आधार में विद्यमान होंगे उसी का नाम प्रकृति है । इस प्रकार सत्कार्यवाद की उत्पत्ति के लिए प्रकृति का अस्तित्त्व मानना अनिवार्य है ।[64]

प्रधान–महत्–अहंकार–इन्द्रियतन्मात्र–पञ्चभूत का क्रम –

ईश्वर कृष्ण ने इन तत्त्वों का संकेत अपनी "प्रकृतेर्महान्" इस कारिका में किया है । इस कारिका का अर्थ अति सुगम है जैसे - प्रधान प्रकृतितत्त्व से महत्-बुद्धि तत्त्व की उत्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति होती है, और महत् तत्त्व से अहंकार की, अहंकार से अक्ष = ग्यारह इन्द्रिय और पंच तन्मात्र की एवम् पञ्चतन्मात्र से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है । कारिका में "तन्मात्र" शब्द से एकवचन विभक्ति का प्रयोग हुआ है । वह तन्मात्र संख्या की दृष्टि से उचित न होने पर भी, तन्मात्रत्व जाति की दृष्टि से उचित है क्योंकि पाँचो तन्मात्रत्व नाम की एक जाति-एक अनुगत धर्म रहता है ।[65]

तत्त्व समास में आठ प्रकृतियों को एक साथ रखा है । इसका अर्थ यही है कि मूल प्रकृति की तरह, महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्र भी आगे उत्पन्न होते हैं। मूल प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् का सामंजस्य होता है । पुरुष की दृष्टि पड़ने पर यह सामंजस्य टूटता है, और विकास का आरम्भ होता है । सत्त्व की प्रधानता वृद्धि को जन्म देती है; रजस् की प्रधानता अहंकार को जन्म देती है, और तमस् की प्रधानता जड़ भूतों के उत्पादक तन्मात्र को जन्म देती है । इस विचार को अपनाने से विकास में पहला पग निम्न रूप में होगा-

मूल प्रकृति

बुद्धि (सात्त्विक)   अहंकार (राजसिक)   तन्मात्र (तामसिक)

इन्द्रियों और मन को अहंकार की सन्तान समझ सकते हैं । दस इन्द्रियाँ बाह्य करण हैं, मन अन्त:करण है । अहंकार ही अपने करण बनाता है ।

इस दृष्टिकोम के अनुसार, सांख्य के 25 तत्त्व इस तरह क्रमबद्ध होंगे -

पुरुष - प्रकृति

बुद्धि   अहंकार   तन्मात्र

पाँच महाभूत[66]

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ   पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन

सांख्य मत में आत्मा व्यापार शून्य है –

घट आदि जितने भी स्थूल कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वे सब पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के मिट्टी आदि परिणामों के विलक्षण संयोगादि रूप परिणाम से समुद्रभूत होते हैं । उनके लिए किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकता नहीं होती । यह स्वीकार किया गया है कि महाभूतों

के ही एक परिणाम से दूसरे परिणाम की उत्पत्ति होती रहती है, पृथ्वी आदि परिणाम भी तत्त्वरूप नहीं होते, क्योंकि वे किसी कार्य के उपादान नहीं होते, जो किसी कार्य का उपादान होता है वही तत्त्व कहा जाता है । पृथ्वी आदि के साक्षात् या परम्परया जितने परिणाम होते हैं उन सबों का उपादान पृथ्वी आदि तत्त्व ही होता है । उन परिणामों में परस्पर में उपादान-उपादेय भाव न होकर निमित्त-नैमितिक भाव ही होता है । जैसे - मृत्तिका घट का उपादान न होकर निमित्त है, उपादान तो दोनों का पृथ्वी तत्त्व ही है । सांख्य मत में सम्पूर्ण जगत् में कहीं भी आत्मा के व्यापार से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि आत्मा में कोई व्यापार ही नहीं होता है और जब उसमें कोई व्यापार ही नहीं होता तो उसका किसी वस्तु का जनक होना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि किसी भी कार्य का जनन करने के लिए कारण को कुछ व्यापार करना पड़ता है अत: जो किसी प्रकार का व्यापार नहीं कर सकता वह किसी कार्य का कारण नहीं हो सकता । इसीलिए सांख्य सिद्धान्त में पुरुष को अकारण माना गया है ।[67]

पुरुष और बुद्धि का तात्त्विक भेद –

बुद्धि और पुरुष में अत्यन्त भेद है किन्तु उसका अज्ञान अनादि काल से चला आ रहा है और इसी कारण बुद्धि को "चेतनाऽहं करोमि" "मैं चेतन करता हूँ" इस प्रकार का अध्यवसाय होता है । सच बात यह है कि इस अध्वसाय की उत्पत्ति के लिए ही स्वभाविक चैतन्य रूप पुरुष का अस्तित्व मानना आवश्यक होता है । यदि उसे न माना जायेगा तो उक्त अध्यवसाय के रूप में बुद्धि में चैतन्य का अभिमान न हो सकेगा, क्योंकि बुद्धि अचेतन प्रकृति से उद्भूत होने के कारण स्वंयं अचेतन होती है । उक्त अध्यवसाय तीन व्यापारों से सम्पन्न होता है - इन्द्रिय व्यापार, मनोव्यापार और अहङ्कार व्यापार । इन्द्रिय व्यापार का नाम है आलोचन और मनोव्यापार का नाम है विकल्प एवम् अहङ्कार व्यापार का नाम है अभिमान । आशय यह है कि इन्द्रिय से वस्तु का आलोचन होता है और मन उसका विकल्प यानि विशिष्ट बोध एवम् अहंकार से उसके कर्तृत्व का अभिमान होता है और इन तीनों के सम्पन्न होने पर बुद्धि में "चेतनाऽहं करोमि" इस प्रकार कृति का अध्यवसाय उत्पन्न होता है ।[68]

बुद्धिगत धर्मों का निरूपण –

इस बुद्धि में आठ धर्म रहते हैं । जैसे - ज्ञान-अज्ञान, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, वैराग्य-अवैराग्य, धर्म-अधर्म । इसके अतिरिक्त बुद्धि में सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न भी होते हैं । भावना पदार्थ सांख्य दर्शन के विद्वानों द्वारा मान्य नहीं है । सांख्य मत में अनुभव ही सूक्ष्म रूप से स्मृति पर्यन्त रहता है । अत: सूक्ष्मावस्थापन्न अनुभव से अतिरिक्त भावना-संस्कार मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती । महतत्त्व का इन्द्रियादि द्वारा विषयों के साथ सम्बन्ध होने पर उसका विषयाकार परिणाम होता है । जिसे ज्ञान तथा बुद्धि की वृत्ति कहा जाता है । इस ज्ञान

के द्वारा ही विषय पुरुष से सम्बद्ध होकर पुरुष के स्वरूप को आवृत करता है। विषयों द्वारा इस प्रकार होने वाला पुरुष का आवरण ही उसका बन्धन है। एवम् महतत्त्व का नाश होने पर अर्थात् महतत्त्व का मूल प्रकृति में तिरोधान होने पर बुद्धि के विषयाकार परिणामस्वरूप ज्ञान की निवृत्ति होने से पुरुष के साथ विषयों का सम्बन्ध बन्द हो जाता है। इस प्रकार विषयों से पुरुष के स्वरूप का तिरोधान बन्ध हो जाने से पुरुष का मोक्ष सम्पन्न होता है।[69]

ज्ञान–मीमांसा –

समस्त ज्ञान में तीन घटक रहते हैं, अर्थात् ज्ञात विषय, ज्ञात विषयी, और ज्ञान की प्रक्रिया। सांख्य दर्शन में ''विशुद्ध चेतनता प्रमाता'' (जानने वाला) है; रूपान्तर (वृत्ति) ''प्रमाण'' है; परिवर्तनों का विषयों के रूप में चेतनता का अन्दर प्रतिबिम्ब प्रभा है। ज्ञेय प्रतिबिम्बित वृत्तियों की विषयवस्तु है।[70] सांख्य सिद्धान्त के अनुसार असंदिग्ध, विरोधरहित एवम् अनधिगत विषय वाली चित्त वृत्ति ही प्रमाण है। सांख्य दर्शन मुख्य रूप से प्रमेय शास्त्र है। किन्तु प्रमेयों की सिद्धि स्वरूप का सम्यक् ज्ञान प्रमाण द्वारा ही होता है। अतएव प्रमाण-मीमांसा पूर्वक प्रमेयों का प्रतिपादन इसमें किया गया है। प्रमुखतः सांख्य शास्त्र को प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आप्तवचन रूप से तीन ही प्रमाण अभिमत है। क्योंकि उपमान, अर्थापत्ति, सम्भव, ऐतिह्य आदि प्रमाणों का इन्हीं में अर्न्तभाव हो जाता है।[71]

इन्द्रियों की क्रियाशीलता से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है अर्थात् ''प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं''।[72] इस प्रकार इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के सहयोग से बुद्धि विषयाकार परिणाम को प्राप्त होती है और इस प्रकार गृहीत अपने अध्यवसायात्मक ज्ञान को वह अपने में प्रतिबिम्बित पुरुष को समर्पित कर देती है। यही पौरुषेय बोध, प्रमेय का संशय विपर्यय रहित निश्चयात्मक ज्ञान है।

अनुमान व्याप्य एवम् व्यापक के ज्ञान से उत्पन्न होता है। निश्चित एवम् संदिग्ध उपाधि के बिना ही जिस वस्तु का स्वभावतः साहचर्य सम्बन्ध होता है उसे व्याप्त कहते हैं तथा जिसके साथ वह सम्बन्ध होता है, उस द्वितीय वस्तु को व्यापक कहते हैं। इस प्रकार दो वस्तुओं, व्याप्य एवम् व्यापक के साहचर्य सम्बन्ध, लिङ्ग या हेतु का ज्ञान ही अनुमान प्रमाण है। यथा-यत्र-यत्र धूमः तत्र-तत्र वह्निः। यत्र वह्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति।

अनुमान तीन प्रकार का है – 1. पूर्ववत्, 2. शेषवत् और 3. सामान्यतो दृष्ट।

तीसरा प्रमाण आप्तवचन या शब्द है। ''आप्तश्रुतिराप्तवचनम्'' अर्थात् आप्तवाक्य जन्य ज्ञान ही आप्तवचन या आगम प्रमाण है। निर्दोष यथार्थ वक्ता के ज्ञान उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान ही आगम प्रमाण है। वेद अपौरुषेय है। अतएव संशय-विपर्यय-मिथ्या आदि समस्त दोषों से रहित होने के कारण वेद के वाक्य आप्त (वचन) युक्त है। यह प्रबलतम प्रमाण है। अपने प्रामाण्य के लिए यह निरपेक्ष रुप से स्वतन्त्र प्रमाण है।

इस प्रकार सांख्य दर्शन को केवल तीन ही प्रमाण मान्य हैं । अन्य दर्शन सम्मत प्रमाणों का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है ।

सांख्य मत की आलोचना –

प्रकृति–एकान्तनित्यता का खण्डन –

असत् कार्यवादी विद्वानों का यह कहना है कि सांख्य शास्त्र के अनुसार जगत् और पुरुष के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह स्वेच्छा से स्वीकार की गई परिभाषा का प्रदर्शन मात्र है, उसमें कोई प्रमाणिकता नहीं है । युक्तिपूर्वक विचार करने पर सांख्य का मत प्रमाण से बाधित हो जाता है क्योंकि सांख्य शास्त्र के विद्वानों ने प्रधान प्रकृति को नित्य माना है और नित्य उसी वस्तु को कहा जाता है जो सदा एक रूप में स्थिर रहे, जिसका कभी भी न किसी रूप में स्खलन हो और न किसी रूप में उत्पादन हो जैसे - सांख्य सम्मत पुरुष। अत: प्रधान भी इसी रूप में नित्य होगा। फलत: प्रधानत्व रूप से उसका स्खलन न होने के कारण उससे महत् आदि तत्त्वों की उत्पत्ति न हो सकेगी, क्योंकि कारण होने के लिए पूर्व स्वरुप का त्याग और कार्य होने के लिए अपूर्व स्वरुप का ग्रहण आवश्यक होता है, जैसे अङ्गदादि बाजूबंद आदि के रूप में स्थित सुवर्ण को कुण्डल:दि का कारण होने के लिए अङ्गदादि स्वरूप का परित्याग और कुण्डलादि स्वरूप का ग्रहण करना पड़ता है । अत: प्रधान को भी महत् आदि का कारण होने के लिए अपने पूर्व स्वरूप का त्याग और नये स्वरूप का ग्रहण करना होगा और यह न होने पर उसकी नित्यता समाप्त हो जायगी ।[73]

प्रकृति की नित्यता के बचाव में आशंका –

सांख्यों का अभिप्राय है कि - कार्य कारण भाव के लिए नये रूप की उत्पत्ति और पूर्व रूप का परित्याग आवश्यक नहीं हैं जिससे रूप भेद से प्रकृति में अनित्यता की आपत्ति हो । इस अभिप्राय को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है और उसके निराकरणार्थ जो बात कही गयी है वह इस प्रकार है -

''प्रधान स्वयं ही (अपने पूर्व स्वभाव का परित्याग बिना किये ही) महत् आदि के उत्पादक स्वभाव से सम्पन्न है, अत: प्रधान अपने सहज स्वरुप में ज्याँ का त्यों स्थित रहते हुए भी उससे महत् आदि की उत्पत्ति हो सकती है ।'' सांख्यों की ओर से महत् आदि तत्वों और कार्य-कारण भाव के विषय में ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया जा सकता है, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि महत् आदि को उत्पन्न करने के लिए यदि प्रधान में कोई नई घटना आवश्यक न होगी तो उससे नियत समय में ही महत् आदि की उत्पत्ति न होकर सर्वदा उसकी उत्पत्ति की आपत्ति होगी । अत: प्रकृति से एक साथ ही समूचे जगत् के जन्म की प्रसक्ति होगी क्योंकि प्रधान में यदि जगत् को उत्पन्न करने का सामर्थ्य है, तो जगत् की

उत्पत्ति का विलम्ब नहीं हो सकता, क्योंकि जो जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उसकी उपस्थिति होने पर कार्य के उत्पादन में विलम्ब नहीं करता । जैसे न्यायमत में कर्म विभाग को उत्पन्न करने में समर्थ होता है तो कर्म से विभाग की उत्पत्ति में विलम्ब नहीं होता । कर्म के दूसरे क्षण में ही विभाग का जन्म हो जाता है ।

यदि कहा जाए कि - ''प्रधान में महत् आदि को नियतकाल में ही उत्पन्न करने का सामर्थ्य है अत: सर्वदा उसकी उत्पत्ति का प्रसंग नहीं हो सकता'' - तो ठीक नहीं है क्योंकि प्रधान आदि अपने सहज स्वरूप में कुछ भी विकृत हुए बिना ही महत् आदि को उत्पन्न करेगा तो नियतकाल में भी वह महत् आदि को उत्पन्न न कर सकेगा । कहने का आशय यह है कि प्रकृति यदि सर्वदा एक रूप ही रहेगी, उसमें किंचित् भी कोई नई बात नहीं होगी - वह अपने सहज सनातन रूप में ही रहकर महत् यादि का जनक मानी जायगी तो उससे या तो सर्वदा महत् आदि की उत्पत्ति होगी अथवा कभी भी नहीं होगी ''क्योंकि कभी उत्पन्न करना और कभी उत्पन्न न करना'' यह बात किसी आगन्तुक निमित्त की अपेक्षा के बिना नहीं बन सकती ।[74]

जनन-अजनन उभयस्वभाव में अन्योन्याश्रय -

यदि यह कहा जाए - प्रकृति का यह सहज स्वभाव है कि किसी काल में महत् आदि का जनन करे और कालान्तर में उसका जनन न करे । अत: प्रधान से महत् आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उक्त आपत्ति नहीं हो सकती है तो यह उचित नहीं है । क्योंकि महत् आदि के जनन और अजनन में तत्तत्कालावच्छिन्नत्व सिद्ध हो जाने पर ही प्रकृति में तत्तत्कालावच्छेदेन महत् का जनन और अजनन करने के स्वभाव की कल्पना हो सकेगी और इस प्रकार का स्वभाव सिद्ध हो जाने पर ही उसके बल से महत् आदि के जनन और अजनन में तत्तत्कालावच्छिन्नत्व सिद्ध हो सकता है इसमें अन्योन्याश्रय है । इस अन्योन्याश्रय दोष के कारण यह कल्पना सम्भव नहीं हो सकती। यदि इस अन्योन्याश्रय का परिहार करने के लिए महत् आदि के जनन और अजनन तत्तत्कालावच्छिन्नत्व को भी स्वाभाविक मान लिया जायगा तो प्रकृति से महत् और महत् से अहंकारादि की उत्पत्ति की जो प्रक्रिया सांख्य में वर्णित है वह अनावश्यक होने से समाप्त हो जायगी, क्योंकि सभी कार्य अपने स्वभाव से ही तत्काल में सम्पन्न हो जायेंगे ।[75]

सत्कार्यवाद विरोधी हेतु पञ्चक -

सांख्य शास्त्र में सत्कार्यवाद का वर्णन किया गया है, वह भी यथावर्णित रूप में जैन विद्वानों को स्वीकार नहीं है, क्योंकि कार्य को सर्वथा सत् मानने पर सत्कार्यवाद को सिद्ध करने के लिए सांख्य विद्वानों द्वारा प्रयोग में लाये गये पाँचों हेतु विपरीत हो जाते हैं । अर्थात्-

1. जैसे असत् का जन्म नहीं हो सकता, उसी प्रकार सर्वथा सत् का भी स्वत: सिद्ध होने के कारण जन्म नहीं हो सकता ।

2. एवम् जो सिद्ध है उसके लिए उपादान का ग्रहण नहीं हो सकता है, क्योंकि सर्वथा सिद्ध में कुछ साधनीय नहीं होता और उपादान का ग्रहण साधनीय के लिए ही होता है ।

3. "सभी पदार्थों से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती" यह हेतु भी सर्वथा सिद्धवस्तु के सम्बन्ध में उपपन्न नहीं होता, क्योंकि नियत दुग्धादिसामग्री से दधि के रूप में पूर्व असिद्ध का ही संपादन होता है ।

4. "शक्य द्वारा शक्य का ही करण होता है" - यह हेतु भी सर्वथा सिद्धवस्तु के सम्बन्ध में युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि शक्ति का व्यापार भी सिद्ध में नहीं देखा जाता ।

5. कार्य और कारण के तादात्म्य को भी सत्कार्यवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता, क्योंकि कार्य और कारण में सर्वथा तादात्म्य मानने पर कार्यकारण भाव नहीं हो सकता- जैसे वही वस्तु उसका कार्य और कारण नहीं होती । अत: इन हेतुओं से उत्पत्ति के पूर्व कार्य की एकान्त सत्ता नहीं सिद्ध हो सकती अपितु यह सिद्ध होता है कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व कारण पर्याय के रुप में सत् होता है और कार्य पर्याय के रूप में असत् होता है ।[76]

पट अपने कारणों के व्यापार के पूर्व भी तन्तुओं में यदि सर्वात्मना सत् होगा तो इस प्रश्न का कोई उत्तर दिया जाना कठिन होगा कि कारण व्यापार के पूर्व भी पट की उपलब्धि के समस्त कारणों के रहने पर और पट को उपलब्ध करने की इच्छा होने पर भी पट की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? "उस समय पट का आविर्भाव न होने से पट की उपलब्धि नहीं होती" यह नहीं कहा जा सकता । क्योंकि आविर्भाव न होने का अर्थ है उपलब्धि का अभाव। अत: कारण व्यापार के पहले कार्य की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? इस प्रश्न का उत्तर यह नहीं दिया जा सकता कि कार्य की उपलब्धि का अभाव है, क्योंकि "जिस उपलब्धि के अभाव से कार्य की अनुपलब्धि मानी जायगी वह उपलब्धि क्यों नहीं होती ?" यह प्रश्न भी उठेगा । अत: यह उत्तर नदी के घाट पर नदी पार करने का कर ग्रहण करने के लिए बनी हुई कुटी में ही प्रभात होने के समान होगा । आशय यह है कि जैसे कोई व्यक्ति रात्रि के समय नदी पार कर नदी और कुटी के बीच ही किसी रास्ते पर इस अभिप्राय से चले कि जिससे कुटी पर उसे न जाना पड़े और वह करदान से मुक्त हो जाब किन्तु रात के अन्धेरे में चलते-चलते उस कुटी पर ही पहुँचने पर प्रभात हो जाए और वह कर ग्रहण करने वालों के घेरे में आ जाए उसी प्रकार "कार्य को उत्पत्ति के पहले सर्वथा सत् मानने पर कारण व्यापार के पूर्व कार्य की उपलब्धि क्यों नहीं होती ?" इस प्रश्न का उक्त उत्तर देने पर उत्तरकर्ता पूर्व प्रश्न की परिधि में ही फंस जाता है ।[77]

यदि कहा जाए कि - आविर्भाव न होने का अर्थ है उपलब्धि योग्य वस्तु को उपलब्धि का विषय बनाने वाले रूप का अभाव । - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने

पर असत्कार्यवाद उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि उपलब्धि योग्य को उपलब्धि विषय बनाने वाले रूप का पहले अभाव और बाद में उसका भाव मानने पर ही उक्त बात कही जा सकती है और यदि यह कहा जाय कि - "पट व्यापार के पूर्व कार्य के साथ इन्द्रिय का विजातीय संयोग अथवा जिस स्थान में कार्य की उपलब्धि होती है तत्स्थानावच्छेदेन इन्द्रियसन्निकर्षरूप व्यञ्जक का अभाव होने से कारण व्यापार के पूर्व कार्य की उपलब्धि नहीं होती" - तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस उत्तर में भी उक्त संयोग या सन्निकर्ष का पहले अभाव और बाद में भाव मानने से असत् कार्यवाद की आपत्ति होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि - "उक्त संयोग या सन्निकर्ष पहले भी सत् रहता है किन्तु व्यञ्जक आविर्भूत होने पर व्यक्त होता है" क्योंकि उसके आविर्भाव के विषय में भी सत् और असत् का विकल्प उठ सकता है।[78]

यदि यह कहा जाय कि - कार्य स्थूल रूप से अविच्छन्न होकर पहले नहीं रहता इसलिए पहले उसकी उपलब्धि नहीं होती और धर्म और धर्मी में ऐक्य होने से कार्य के सूक्ष्म और स्थूल रूप में ऐक्य होने से अनवस्था भी नहीं होती - तो यह कहना भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि सूक्ष्मरूपावच्छिन्नकार्य को यदि अहेतुक माना जायगा तो कार्य सूक्ष्म रूप से किसी नियत देश ही में न रहकर अन्य देश में भी उसके अस्तित्व की आपत्ति होगी, और यदि प्रकृति मात्र को ही उसका हेतु माना जायगा तो कार्य की स्थूलत्व दशा में भी कार्य की सूक्ष्मता की आपत्ति होगी और इस सूक्ष्मता के कारण पहले के समान कारण-व्यापार के बाद भी कार्य की उपलब्धि न हो सकेगी और सूक्ष्मरूपावछिन्न कार्य को अहेतुक या प्रकृति मात्र हेतुक मानने पर उसका कभी भी अभाव न हो सकने से उसका बन्धन बने रहने के कारण मोक्ष का अभाव हो जायगा इसलिए वस्तु को अनेकान्तात्मक मानकर ही उसके सत्त्व और असत्त्व का कथञ्चित् उपपादन युक्तिसंगत हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि बुद्ध्यादि का अध्यवसाय अहमर्थ आत्मा में होता है, अतएव उसे अहमर्थ का धर्म-अहमर्थ में ही उसका समन्वय मानना उचित है। कर्म प्रकृति तो उसमें निमित्त मात्र है।[79]

पुरुष में बुद्धि के प्रतिबिम्ब से विकृति का प्रसंग –

कुछ विद्वान् बुद्धि में पुरुष के उपराग के समान पुरुष में भी बुद्धि का उपराग बताते हैं। उनका आशय यह है कि जैसे बुद्धि में पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार पुरुष में भी बुद्धि का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ऐसा मानने पर यह शङ्का नहीं की जा सकती कि "पुरुष यदि बुद्धि के प्रतिबिम्ब का ग्रहण करेगा तो विकारी ही जाएगा"- क्योंकि पुरुष में बुद्धि का जो प्रतिबिम्बात्मक उपराग होता है वह तात्त्विक नहीं होता। अतएव वह पुरुष को विकारयुक्त नहीं कर सकता। वादमहार्णव नामक ग्रन्थ में यह बात इस प्रकार स्पष्ट की गई है कि - जैसे एक दर्पण में पड़ा हुआ किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब उस दूसरे दर्पण में भी संक्रान्त होता

है जिसमें वस्तु के प्रतिबिम्ब से युक्त पहला दर्पण प्रतिबिम्बित होता है । उसी प्रकार वस्तु का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ता है और उस प्रतिबिम्ब से युक्त बुद्धि का प्रतिबिम्ब पुरुष में पड़ता है । अत: बुद्धिगत वस्तु प्रतिबिम्ब पुरुष में भासित होता है । बुद्धि के प्रतिबिम्ब द्वारा पुरुष में बुद्धिगत वस्तु प्रतिबिम्ब का भासित होना ही पुरुष का भोक्तृत्व है । इस प्रकार का भोक्तृत्व होने पर भी पुरुष में कोई विकार नहीं होता । अन्य विद्वानों का इस सम्बन्ध में यह कहना है कि बुद्धि में पुरुष-आत्मा का प्रतिबिम्ब होने पर आत्मा के दो रूप हो जाते हैं । एक प्रतिविम्ब आत्मा और दूसरा बिम्बात्मा । इनमें बुद्धिगत भोग का सम्बन्ध प्रतिबिम्बात्मा में ही होता है, बिम्बात्मा में नहीं होता । अत: प्रतिबिम्बात्मा के विकृत होने पर भी बिम्बात्मा की निर्विकारता यथापूर्व बनी रहती है ।[80]

प्रकृति के बन्ध और मोक्ष की आशंका –

सांख्य मतानुसार आत्मा यथार्थ रूप में न कभी बद्ध ही होता है न कभी मुक्त होता है । बद्ध इसलिए नहीं हो सकता कि आत्मा अपरिणामी होता है अत: वासना, क्लेश और कर्माशयरूपी बन्ध उसको नहीं हो सकता, क्योंकि यह बन्ध परिणामात्मक है, अत: प्राकृतिक आदि के रूप में अपरिणामी आत्मा में उसका होना असम्भव है। आत्मा का मोक्ष इसलिए नहीं हो सकता कि वह सर्वदा बन्धहीन होता है, अत: उसमें बन्धननिवृत्तिरूप मोक्ष की सम्भावना ही नहीं हो सकती । इसलिए आत्मा में बन्ध और मोक्ष की अनुपपत्ति बताना असङ्गत है। वस्तु स्थिति यह है कि बन्ध और मोक्ष प्रकृति में होते हैं और प्रकृति में उनकी उपपत्ति होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि प्रकृति परिणामिनी होती है, अत: अपने परिणामों से बाँधा जाना उसके लिए स्वाभाविक है और जब उसमें बन्ध होता है तो निमित्त उपस्थित होने पर उसमें बन्धनिवृत्तिरूप मोक्ष का होना भी युक्तिसङ्गत है । "प्रकृति में बन्ध और मोक्ष मानने पर आत्मा में बन्ध और मोक्ष का व्यवहार कैसे होगा ?" इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे युद्ध में जयपराजय वस्तुत: राजा के सेवक सैनिकों का होता है किन्तु उसका औपचारिक व्यवहार राजा में माना जाता है, उसी प्रकार प्रकृति में होने वाले बन्ध मोक्ष का उसके अधिष्ठाता आत्मा में औपचारिक व्यवहार माना जा सकता है । जैसा कि ईश्वर कृष्ण ने "तस्मात् न बध्यते" अपनी इस कारिका में कहा है कि - आत्मा में कूटस्थ नित्य होने के कारण कोई भी आत्मा न कभी संसारी होता है न कभी बद्ध होता है और न कभी मुक्त होता है किन्तु अनेक रुपों में परिणत होने की योग्यता रखने के कारण प्रकृति में ही संसार, बन्ध और मोक्ष होते हैं पुरूष में उनका व्यवहार मात्र होता है जो पूर्ण रूप से औपचारिक - गौण है ।[81]

प्रकृतिवियोगात्मक मोक्ष आत्मा का ही संभवित है –

मोक्ष को प्रकृतिगत मानने में एक अन्य दोष बताते हुए कहा गया है कि "प्रकृतिवियोगो मोक्ष:" इस सांख्य शास्त्रीय वचन के अनुसार प्रकृति के साथ सम्बन्ध का अभाव होना ही मोक्ष है । इसलिए वह प्रकृति में नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति में प्रकृति का असम्बन्ध

मानने पर प्रकृति के स्वरूप की ही निवृत्ति हो जायगी । पुरुष में तो प्रकृति का असम्बन्ध माना जा सकता है, क्योंकि पुरुष के साथ प्रकृति का सम्बन्ध प्रकृति के व्यापार से ही होता है अतः प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति होने पर प्रकृति के सम्बन्ध की निवृत्ति हो सकती है । जैसे - घटादि किसी भी वस्तु में उस वस्तु की निवृत्ति नहीं देखी जाती । क्योंकि स्व में स्व की प्रसक्ति नहीं होती, अतः स्व में स्व का प्रतिषेध भी नहीं हो सकता, और प्रसक्त का ही प्रतिषेध होता है अप्रसक्त का नहीं। प्रकृति में मोक्ष मानना शास्त्रविरुद्ध भी है ।[82]

सांख्य सिद्धान्त में पुरुष को ही मोक्ष कहा गया है –

प्रकृति महत् आदि पचीस तत्त्वों का रहस्य जानने वाला मनुष्य गृहस्थादि किसी भी आश्रम में रहने पर मुक्त हो सकता है, चाहे वह जटा रखता हो, शिर का मुण्डन कराता हो अथवा चाहे वह शिखा धारण करता हो । प्रकृति आदि के तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा तत्त्वदर्शन हो जाने पर प्रकृति के विकारों का विलय होने से आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित होकर मुक्त हो सकता है । मोक्ष के लिए किसी भी प्रकार का बाह्य चिह्न अपेक्षित नहीं है । तत्त्वज्ञान में किसी भी स्थिति में पुरुष के मुक्त होने में कोई संशय नहीं है - यह तथ्य शास्त्र वचनों से सिद्ध है । इस स्थिति में यह स्पष्ट है कि ज्ञाता पुरुष ही मुक्त हो सकता है । अचेतन प्रकृति तत्त्ववेत्ता नहीं हो सकती है, अतएव उसकी मुक्ति नहीं मानी जा सकती ।[83]

सांख्य सिद्धान्त में पुरुष की मुक्ति और प्रकृति का प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार जैन विद्वानों ने पुरुष की मुक्ति व प्रकृति मान ली है और उनका कहना है कि पुरुष की प्रकृतिवियोगरूप मुक्ति होती है यह ठीक है किन्तु प्रकृति का जो स्वरूप सांख्य ने माना है वह न्यायपूर्वक विचार करने पर जैन शासन में वर्णित कर्म प्रकृति से भिन्न नहीं सिद्ध होती। अतः कर्मप्रकृति के रूप में ही प्रकृति मान्य हो सकती है, क्योंकि वही बुद्धि आदि सम्पूर्ण जगत् की निमित्त कारण होती है । उसका सम्बन्ध भी कथञ्चित् आत्मा में उत्पन्न हो जाता है ।[84]

प्रकृतिवाद की सापेक्ष सत्यता का अनुमोदन –

प्रस्तुत विचार का उपसंहार करते हुए यह बताया गया है कि आर्हतों की अनेकान्त दृष्टि से विचार करने पर सांख्य का प्रकृति वाद भी सत्य सिद्ध होता है, मिथ्या नहीं। वह मिथ्या हो भी नहीं सकता क्योंकि द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन कर कपिल मुनि ने प्रकृतिवाद के समर्थक सांख्य शास्त्र की रचना की है । कपिल एक महान् मुनि है और अद्भुत शील और आचरण से सम्पन्न है अतः वे मिथ्या नहीं कह सकते। इसलिए प्रकृतिवाद के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है उसका भी वही अभिप्राय मानना चाहिए जो कर्मप्रकृतिवादी आर्हत महर्षियों का है ।[85]

सांख्य दर्शन का प्रयोजन –

अन्य दर्शनों की भांति सांख्य दर्शन का भी प्रधान प्रयोजन दुःख की सार्वकालिक निवृत्ति है । दुःख के निराकरणार्थ ही इस शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, दुःख निरास की प्रतिज्ञा

करके ही यह शास्त्र प्रारम्भ होता है और इसके निवारण के मार्ग को बतलाया है । इस तरह दुःख-दुःख हेतु - मोक्ष - मोक्षोपाय रूप चतुर्व्यूह का अच्छी तरह प्रतिपादन सांख्य दर्शन करता है ।

"कारिका" और "सूत्र" दोनों सिद्धान्त अध्ययन की उपयोगिता से आरम्भ करते हैं; दोनों बताना चाहते हैं कि इस अध्ययन का लाभ क्या है ? इसका स्पष्ट ज्ञान प्रथम ही सांख्यकारिका तथा प्रथम सांख्य सूत्र से हो जाता है -

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदधापतके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।सांख्यकारिका ।

× × ×

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।सांख्य सूत्र 1/1

कारिका तथा सूत्र दोनों में तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति को परम पुरुषार्थ बताया गया है और इसके लिए, दृष्ट और श्रौत साधनों की अपेक्षा, विवेक को अधिक सफल साधन बताया है ।

दुःख तीन प्रकार का होता है - आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। पहले प्रकार के दुःख का कारण स्वयं हमारे अन्दर होता है । वृद्धावस्था में शरीर के अंग ढीले पड़ जाते हैं, बुढ़ापे के रोगों में प्रमुख रोग तो बुढ़ापा ही है । आध्यात्मिक दुःख का एक और रूप असन्तोष होता है । 500 विद्यार्थियों की परीक्षा में एक विद्यार्थी 498 विद्यार्थियों से आगे निकल जाता है, परन्तु एक से पीछे रह जाता है । वह इसी बात से दुःखी होता है कि वह प्रथम पद पर नहीं पहुँचा । आधिभौतिक दुःख अन्य प्राणियों से पहुँचते हैं । ज्यों-ज्यों जीवन संग्राम तीव्र होता जाता है, ऐसे दुःखों की मात्रा बढ़ती जाती है । आधिभौतिक दुःखों का कारण यह होता है कि हमारी स्थिति और वातावरण में अनुकूलता नहीं होती।

इन दुःखों से बचने के लिए हम ऐसे साधनों का प्रयोग करते हैं जिन्हें हमने लाभदायक पाया है । ऐसे साधनों के सम्बन्ध में दो त्रुटियाँ दीखती हैं -

1. यह साधन सदा अचूक नहीं होते,
2. दुःख की निवृत्ति अस्थायी होती है ।

शास्त्र कहते हैं कि दुःखों से छूटने के लिए यज्ञ आदि कर्म करने चाहिए । ऐसे कर्मों का फल भी अस्थायी होता है; इनमें शुभ के साथ अशुभ का अंश भी मिला होता है, इन साधनों से अधिक उपयोगी साधन विवेक है । अपनी अल्प शक्तियों के साथ हम प्राकृत जगत और अन्य प्राणियों के प्रहार से पूर्ण तौर पर बच नहीं सकते, परन्तु इस प्रहार को

सहने की योग्यता तो बढ़ा ही सकते हैं। दुःखों से बचने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि जीवन व्यवहार में ठीक दृष्टिकोण अपनायें। इसी को "कारिका" और "सूत्रों" ने उपयोगी उपाय बताया है।[86]

सांख्य लक्षण के विरुद्ध दो आपत्तियाँ की जाती है –

1. कुछ लोग कहते हैं कि दुःखों की निवृत्ति सम्भव नहीं है, ये हमारी प्रकृति का अंश है।
2. जीवन का लक्ष्य भावात्मक होना चाहिए; सांख्य का ध्येय निषेधात्मक है।

पहली आपत्ति के सम्बन्ध में सांख्य का मत यह है कि पुरुष अपने स्वरूप में निर्लेप है। पुरुष और प्रकृति के संसर्ग से सृष्टि होती है, और सृष्टि के विकास में दुःख और सुख भी व्यक्त हो जाते हैं। जब पुरुष अपने आपको प्रकृति से भिन्न समझ लेता है, तो प्रकृति के विकारों से अशान्त नहीं होता। जो भ्रान्ति उसे दुःखी करती है, वह विवेक से दूर हो जाती है, और इसके साथ ही दुःख भी दूर हो जाते हैं।

दूसरे आक्षेप के विषय में हम कह सकते हैं कि दुःख की निवृत्ति को स्पष्ट शब्दों में अन्तिम उद्देश्य नहीं कहा; इतना ही कहा है कि तीन प्रकार का दुःख चोट लगाता है, और इससे बचने का जो उपाय हो सकता है, उसकी जिज्ञासा स्वाभाविक है। पश्चिम में भोगवादियों ने जीवन का अन्तिम उद्देश्य सुख की अनुभूति में देखा। यह विचार भाव को चेतना में सर्वश्रेष्ठ अंश मान लेता है। सांख्य में भाव को यह पद नहीं दिया; इतना माना है कि दुःख आत्म-सिद्धि में बाधक होता है और इसे मार्ग से हटाना चाहिए। पश्चिम में भी विचारकों ने इस बात को विशेष ध्यान से देखा है कि भारत के दार्शनिक सुख के पीछे नहीं भागते; केवल दुःख से बचना चाहते हैं।[87]

फुट नोट

1. भेद विज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किलकेचन तस्यैवावतो बद्धाः बद्धा ये किल केचन। डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार - पृ. 197-198
2. दुःखत्रयाभिधाताद् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ। दृष्टेसाऽपार्था चैन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।सां. का. 1
3. दृष्टे साऽपार्था चैन्नैकान्तात्यत्ततोऽभावात् ॥ सां. का. 1
4. एतदुक्तं, भवति-यथाविधिरसायनादि कामिनी नीतिशास्त्राभ्यासमन्त्राद्युपयोगेऽपि तस्यतस्याध्यात्मिकादेर्दुःखस्य निवृत्तेरदर्शनात् अनैकान्तिकत्वम्, निवृत्तस्यापि पुनरुत्पत्ति दर्शनात् अनैकान्तिकत्वम् निवृत्तस्यापि पुनुरुत्पत्तिदर्शनात् अनात्यन्ति कत्वम् इति सुकरोऽपि ऐकान्तिकात्यन्तिकदुःख निवृत्तेर्नदृष्ट उपाय इति ॥ सांख्य तत्त्व कौमुदी पृ. 11

5. दृष्टवदानुश्रविकः सह्य विशुद्धि क्षयातिशययुक्तः ॥ सां. का. 2
6. अविशुद्धिः सोमदियागस्य पशु बीजादिवधसाधनता ॥ सांख्य तत्त्व कौमुदी पृ. 17
7. यूपं छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिर कर्मणाम् ।
यद्येवंगम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ॥
8. स्याद्वादमंजरी, पृ. 33
9. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिमवाश्रय जननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ॥ सां. का. 12
10. सांख्य तत्त्व कौमुदी व्याक्या कारिका 12
11. रागो दोसो मोहो च आसवाणत्थि सम्मदिठ्ठिस्स ।
तह्मा आसव भावेण विणा हेदूणपच्चयाहोंति ॥ समयसार 177
12. समयसार 177 आत्मख्याति टीका पृ. 244
13. श्री दत्त एवम् चाट्टोपाध्याय - भारतीय दर्शन, पृ. 171
जनन मरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ सां. का. 18
14. कुन्दकुन्द - समयसार - पृ. 312-313
15. कुन्दकुन्द - समयसार - पृ. 314-315
16. कुन्दकुन्द - समयसार - पृ. 319
17. तावदेवप्रकृतिर्भोगमारमते यावद्विवेकख्यातिं करोति ।
सांख्य तत्त्व कौमुदी, व्याख्या 44
18. एवम् तत्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम् ।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ सां. का. 64
19. तस्मान्न बध्यतेनापि मुच्यतेनापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ सांख्यकारिका 62
20. समयसार - आत्मख्याति टीका - पृ. 179-180, व्याख्या गाथा - 121-125
21. तत्राध्यात्मिकं द्विविधं-शरीरं च मानसं । सांख्य तत्त्वकौमुदी - डॉ. रामकृष्ण आचार्य
22. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 103
23. शारीरवातपित्तश्लेष्मणां वैषम्यनिमित्तम् । सांख्य तत्त्व कौमुदी - सांख्य कारिका।
24. सांख्य कारिका 1 - तत्त्व कौमुदी
25. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 104
26. सांख्य कारिका 1 - विद्वत्तोषिणी ।
27. उपरागात्कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् - सांख्य सूत्र 1/164
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता - योग सूत्र 2/6
28. सांख्य कारिका 1 - तत्त्वविभाकर
29. परिणामतापसंसकार दुःखैर्गुर्णवृत्तिविरोधाच्चदुःखमेवसर्व विवेकिनः - योगसूत्र 2/15
30. तदेतत्प्रत्यायात्मवेदनीयं दुःख रजःपरिणामभेदो न शक्यते प्रत्याख्यातुम् । तदनेन दुःखत्रयेणान्तःकरणवर्तिना चेतनाशक्तेः प्रतिकूलवेदनीयतयाऽभिसंबन्धोऽभिघात इति एतावता प्रतिकूलवेदनीयत्वं जिहासाहेतुरुक्तः । सांख्य कारिका । - तत्त्व कौमुदी पृ. 9

31. तस्य हेतुरविद्या, योगसूत्र 1/24
अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः - सां. सूत्र 6/68
द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्यायानुपश्यः - योगसूत्र 2/20
32. सांख्य कारिका 2 - तत्त्व कौमुदी पृ. 17
33. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 110
34. सांख्य कारिका 1 - तत्त्व कौमुदी पृ. 10
35. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्थाः
अन्योन्यामिभवाश्रय जननमिथुनवृत्तयश्च गुणा ॥ सां. का. 12
36. मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समा ॥ 7 प्रवचन सार
37. उदयगदाकम्मंसा जिणवरवसहेहि णियदिण माभणिया ।
तेसुहि मुहिदोरत्तो दुट्ठो व बंधमणुहवदि ॥ 43 प्र. सा.
38. नियतिकृत नियमरहिता :
39. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार - पृ. 199
40. सां. का. 12
41. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार - पृ. 200
42. सां. का. 18
43. यो. द., 1 सूत्र
44. सांख्य योगो पृथक् बाला प्रदन्तिवन पण्डिताः ॥ गीता
45. यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं, तद्योगैरपिगभ्यते। एक सांख्यं च योगं च, य पश्यति सपश्यति। गीता
46. डॉ. लाल बहादुर शास्त्री - आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार-पृ. 201-202
47. ववहारस्सदु आदा पुग्गल कम्मं करेइ णेय विहं ।
तं चेव पुणो कुणइ पुग्गल कम्मं अणेय विहं ॥ 84 स. सा.
48. एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पाय अकारया सव्वे ॥ 340 स. सा.
49. जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुप बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥ सांख्य कारिका 18
50. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) पृ. 279
51. डॉ. अमलधारी सिंह - सांख्य तत्त्व प्रदीप पृ. 52
52. "संख्या प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।
तंत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः ॥" (महाभारत)
डॉ. रामकृष्ण आचार्य - सांख्य कारिका पृ. 5
53. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 88
54. भेदानां परिमाणात्मसमन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्श्रूपस्य ॥ सां. का. 15
55. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 89
56. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत् कार्यम् ॥ सां. का. 9

57. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 89
58. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 90
59. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 90
60. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 90
61. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 91
62. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 91
63. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 91
64. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 92
65. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 97
66. डॉ. दीवानचन्द - दर्शन संग्रह - पृ. 41-42
67. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 98
68. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 94
69. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 93
70. डॉ. राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन (2) - पृ. 291
71. दृष्टमनुमानमाप्तवचनं च सर्वप्रमाणसिद्धत्वात ।
 त्रिविधं प्रमाणमिष्टं प्रमेयसिद्धि प्रमाणाद्धि ॥ सांख्यकारिका - 4
72. सांख्यकारिका 5
73. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 99-100
74. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 100-101
75. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 101
76. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 122
77. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 122
78. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 123
79. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 123
80. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 106
81. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 117
82. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 117-118
83. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 120
84. श्री हरिभद्रसूरि - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 121
85. एवं प्रकृतिवादोऽपि विज्ञेयः सत्य एव हि ।
 कपिलोक्तस्तत्त्वतश्चैव दिव्यो हि स महामुनिः ॥
 श्री हरिभद्रसूरिं - शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - पृ. 132-133
86. डॉ. दीवानचन्द - दर्शन संग्रह - पृ. 32
87. डॉ. दीवानचन्द - दर्शन संग्रह - पृ. 33

संन्दर्भ ग्रन्थों की तालिका

1. आप्त परीक्षा-श्रीमद् विद्यानन्द स्वामी - सम्पादक और अनुवादक पं. दरबारी लाल जैन कोठिया-प्रकाशक-वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर- प्रथमावृत्ति दिसम्बर 1949
2. आगम युग का जैन दर्शन - पं. दलसुख मालवणिया - सम्पादक - विजय मुनि शास्त्री - प्रकाशक - सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा ।
3. उपमितिभवप्रपञ्चकथा - आचार्य सिद्धर्षिसूरि - 1899 में कलकत्ता से प्रकाशित।
4. कुन्दकुन्द और उनका समयसार - डॉ. लालबहादुर शास्त्री - प्रकाशक चाँदमल सरावगी चेरिटेबलट्रस्ट - गौहाटी (आसाम) प्रथम संस्करण 84
5. जैन न्याय - कैलाश चन्द्र शास्त्री - प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, प्रथम संस्करण 1966
6. जैन दर्शन - डॉ. महेन्द्र कुमार एम. ए. न्यायाचार्य - प्रकाशक - श्री गणेश प्रसाद वर्णी, जैन ग्रन्थ माला - सम्पादक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय - द्वितीय संस्करण 1100 महावीर जयन्ती, अप्रैल 1966
7. जैन दर्शन - डॉ. मोहन लाल मेहता
8. जैन साहित्य का इतिहास - श्री नाथूराम प्रेमी
9. जैन तर्कशास्त्र में अनुमान विचार - डॉ. दरबारी लाल जैन कोठिया प्रकाशक- मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, ट्रस्ट संस्थापक, आ. जुगल किशोर मुख्तार ''युगवीर''
10. जैन तर्क भाषा - श्री यशोविजयमणि-अनुवादक - पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल- प्रकाशक- मन्त्रीगण, पुस्तक प्रकाशन विभाग-जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी, जिल. अहमदनगर- प्रथमावृत्ति : 1964
11. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (2) - नेमिचन्द्र शास्त्री
12. दर्शन संग्रह - दीवान चन्द्र - प्रकाशक - प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण 1958
13. दि हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर - ए. बी. कीथ - संस्करण 1928
14. न्याय कुमुदचन्द्र - श्री प्रभाचन्द्र आचार्य - प्रकाशक - माणिकचन्द्र, दि. जैन ग्रन्थमाला
15. न्याय दीपिका - अभिनव धर्मभूषणयति - सम्पादक और अनुवादक - पं. दरबारी लाल जैन कोठिया - प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, 21 दरियागंज, दिल्ली ।
16. प्रमेय रत्नमाला - अनन्तवीर्य - सम्पादक और अनुवादक - पं. हीरा लाल जैन- प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभावन, वाराणसी - प्रथम संस्करण वि. सं. 2020
17. प्रमेयकमलमार्त्तण्ड - श्री प्रभाचन्द्र आचार्य - अनुवादिका - श्री आर्यिका जिनमतीजी- प्रकाशक-श्री लाला मुसद्दी लाल जैन, चेरीटेबिल ट्रस्ट 2/4 अन्सारी रोड, दरियागंज देहली।
18. प्रमाण परीक्षा - आचार्य विद्यानन्द - सम्पादक - पं. दरबारी लाल जैन कोठिया- प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ।
19. प्रमाण प्रमेय कालिका - नरेन्द्र सेन - सम्पादक - पं. दरबारी लाल जैन कोठिया- प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट ।
20. भारतीय दर्शन - डॉ. राधाकृष्णन् (भाग 2) - अनुवादक - (स्व.) श्री नन्द किशोर गोभिल, विद्यालंकार - प्रकाशक - केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के सहयोग से प्रकाशित - द्वितीय संस्करण 1972

21. भारतीय दर्शन - श्री सतीशचन्द्र एवम् धीरेन्द्र मोहन दत्त - प्रकाशक - पुस्तक भण्डार, पटना 4 - संस्करण 1961
22. भारतीय दर्शन - उमेश मिश्र - प्रकाशक - प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1957
23. श्रीमद् भगवद् गीता
24. मोक्ष मार्ग प्रकाशक - पं. टोडरमल जी - प्रकाशक - सस्ती ग्रन्थ माला कमेटी- नया मन्दिर धर्मपुरा, देहली ।
25. महाभारत
26. योगसूत्र - महर्षि पतञ्जलि
27. योग दर्शन - महर्षि पतञ्जलि - सम्पादक व हिन्दी व्याख्या - पं. श्रीराम शर्मा आचार्य - प्रकाशक - संस्कृति संस्थान बरेली, उत्तर प्रदेश - प्रथम संस्करण 1967
28. शास्त्रवार्ता समुच्चय - आचार्य हरिभद्र सूरि - हिन्दी विवेचन - श्री बदरीनाथ शुक्ल - प्रकाशक - दिव्य दर्शन ट्रस्ट, मुंबई 4 - वि. सं. 2036
29. शास्त्रवार्त्ता समुच्चय - आचार्य हरिभद्र सूरि - अनुवाद - डॉ. कृष्णकुमार दीक्षित- प्रकाशक-लाभ भाई, दलपत भाई, भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद-9
30. षड्दर्शन समुच्चय - आचार्य हरिभद्र सूरि - सम्पादक - डॉ. महेन्द्र कुमार जैन- प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1970
31. सांख्य कारिका - ईश्वर कृष्ण
32. सांख्य तत्त्व कौमुदी प्रभां - रामशंकर भट्टाचार्य - प्रकाशक - मोतीलाल बनारसी दास, प्रधान कार्यालय-बंगलो रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-7 - द्वितीय संस्करण 1976
33. सांख्य तत्त्व कौमुदी - डॉ. रामकृष्ण आचार्य - प्रकाशक रतिराम शास्त्री, साहित्य भण्डार - सुभाष बाजार, मेरठ - तृतीय संस्करण 1982
34. सांख्य तत्त्व कौमुदी - डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - प्रकाशक सत्य प्रकाशन, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण 1962
35. सांख्य तत्त्व कौमुदी - माठरवृत्ति - प्रकाशक - चौखम्बा प्रकाशन
36. साङ्ख्य सूत्रम - विज्ञानभिक्षुभाष्यान्वित - सम्पादक - डॉ. श्रीराम शङ्कर भट्टाचार्य- प्रकाशक - भारतीय विद्या प्रकाशन, पो. बा. नं. 109, कचौड़ी गली, वाराणसी सम्वत् 2022 वि.
37. सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा - डॉ. आद्या प्रसाद मिश्र - प्रकाशक - सत्य प्रकाशन, 26, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, प्रथमावृत्ति 1967
38. सांख्य योग दर्शन का जीर्णोद्धार - हरिशङ्कर जोशी - प्रकाशक - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि. सं. 2022
39. सांख्य तत्त्व प्रदीप - अमलधारी सिंह - प्रकाशक श्री किशोर चन्द्र जैन - भारतीय विद्या प्रकाशन, पो. बा. नं. 108 - कचौड़ी गली, वाराणसी, प्रथम संस्कर -1970
40. सांख्य दर्शन का इतिहास - उदयवीर शास्त्री - प्रकाशक - श्री स्वामी वेदान्त तीर्थ जी, सहारनपुर (उ.प्र.) - प्रथम संस्करण 1100
41. सांख्य योग दर्शन - उमेश मिश्र
42. सांख्य प्रवचन सूत्र
43. सांख्य प्रवचन भाष्य
44. समयसार - आचार्य कुन्दकुन्द

मुद्रक :
"निओ" अजमेर © 422291